प्रकाशक—

शेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी
आनरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावक मंडल,
चौकसी चम्बर, खाराकुवा जौहरी बाजार, बम्बई नं० २



मुद्रक—
रघुनाथ दीपाजी देसाई
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस
६ केलेवाड़ी बम्बई नं० ४

प्रशमरतिप्रकरणकी विषय सूची।

प्रकाशकका निवेदन।

श्रीमदुमास्वातिकृत सुप्रसिद्ध ग्रंथ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र) रा० च० जैनशास्त्रमाला बहुत पहले प्रकट कर चुकी है अब उसके बाद दूसरा सुन्दर ग्रन्थ प्रशमरतिप्रकरणके प्रकाशित करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

इस ग्रंथको भी दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें मान्यता है। इसका उल्लेख धवलग्रंथमें श्रीवीरसेनाचार्यने किया है।

इस ग्रंथपर दो संस्कृत टीकायें श्वेताम्बराचार्यकृत प्रकाशित मुद्रित हुई हैं। इसमें प्राचीन टीका श्रीहरिभद्रसूरिकी है जो इसमें मुद्रित है। यह टीका जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगरसे वीर सं० २४६६ में मुद्रित हुई थी जो अब अप्राप्य है। दूसरी टीका देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंडसे २० वर्ष पहले छपी है जो प्राप्य है।

लगभग ५-६ वर्ष पहले इस ग्रंथका अनुवाद स्याद्वाद महाविद्यालय काशीके प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शुरू किया था पर पं० जीको अवकाश न होनेसे साहित्याचार्य पं० राजकुमारजी शास्त्रीने पूरा किया। पं० जीने मुद्रित प्रति और ४-५ हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे मूल और संस्कृतटीकाका संशोधन सम्पादन बड़े परिश्रमसे किया है भाषाटीका भी बहुत सुन्दर और सरल लिखी है। इसलिए दोनों विद्वानोंको जितना धन्यवाद दिया जावे थोड़ा है।

प्रोफेसर राजकुमारजी इस ग्रन्थकी एक विस्तृत प्रस्तावना लिख रहे हैं ग्रन्थको शीघ्र प्रकाशमें लानेकी दृष्टिसे वह इस ग्रन्थके साथ नहीं दी जा सकी है। महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना पूर्ण होते ही उसे पृथक् प्रकाशित करके पाठकोंके सेवामें भेंट दी जावेगी।

जैनधर्मप्रसारक सभाके व्यवस्थापकोंने तथा सेठ कुँवरजी आनंदजी और देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंडके मुख्य ट्रस्टी श्रीजीवनचन्दजी साकरचन्दजी जौहरीने अप्राप्य मुद्रित प्रतियाँ देनेकी कृपा की इसलिए इन्हें भी धन्यवाद है। रायचंद्रजैनशास्त्रमालामें २-३ नये ग्रंथोंका प्रकाशन हो रहा है जो आगेके वर्षोंमें प्रकट होंगे।

जौहरी बाजार
रक्षाबन्धन सं० २००७

निवेदक
—मणीलाल जौहरी



नमो वीतरागाय

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालायां

श्रीमदुमास्वातिविरचितं

प्रशमरतिप्रकरणम्

श्रीहरिभद्रसूरिविरचितटीकासहितं

हिन्दीभाषानुवादसहितञ्च ।

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्

'प्रशमस्थेन येनेयं कृता वैराग्यपद्धतिः ।
तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे ॥ १ ॥

प्रशमरतिप्रकरणारम्भे मङ्गलाभिधानं विवक्षितप्रकरणार्थस्याप्रत्यूहेन परिसमाप्त्यर्थमित्याह—

कारिका—नाभेयाद्याः सिद्धार्थराजसूनुचरमाश्चरमदेहाः ।
पञ्चनवदश च दशविधधर्मविधिविदो जयन्ति जिनाः ॥ १ ॥

संस्कृत टीका—नाभिः कुलकरः । नाभेरपत्यं नाभेयः प्रथमराजा आदिदेवः, स आद्यो येषां तीर्थकृतां ते नाभेयाद्याः । सिद्धार्थो राजा, तस्य सूनुर्वर्धमानाख्यः, स चरमः पश्चिमो येषां ते सिद्धार्थराजसूनुचरमाः । चरमः पश्चिमो देहो येषां ते चरमदेहाः । ततः परं संसृतेरभावादन्यशरीरग्रहणासंभवः, कर्माभावात् पञ्चेन्द्रियादिप्राणदशकाभावः, तदभावाच्च शरीराभावः, ततः सांसारिकसुखातीता एकान्तिकात्यन्तिकानतिशया निराबाधस्वाधीनमुक्तिसुखभाजः संवृत्ता इत्यर्थः । कियन्तस्ते पुनः ? इति संख्यां निरूपयति–' पञ्चनवदश च ' इति द्वन्द्वसमासः चतुर्विंशतिः इत्यर्थः । अन्ये तु पञ्चादिषु त्रिष्वपि पदेषु प्रथमाबहुवचनं निर्दिशन्ति । ' च ' समुच्चये । सर्वे च ते शास्तारो भव्यसत्त्वानामुपदेष्टारो धर्मस्य दशविधस्य क्षमादेर्व्रतचर्या व्यसनस्य इत्याह–'दशविधधर्मविधिविदः' इति । विधिः प्रकारः क्षमादिस्तं विदन्तीति । स चोपरिष्टाद्वक्ष्यते– सेव्यः क्षान्तिर्मार्दव इत्यादिना । विदितश्च केवलज्ञानेनोपदिशन्ति

---

१ प्रथमरचितेन प० । २ पश्चिमो वर्धमानाख्यो–प० पश्चिमाख्यो–मु० । ३ सेव्यः प० । ४ विदित्वा चै–मु० ।

मुमुक्षुभ्यः सत्त्वेभ्यः स एवंविधा जयन्ति सर्वान् अन्यतीर्थकृतोऽभिभूय त एव जयन्ति नान्ये। यथाह आचार्यः सिद्धसेनः—

"अन्येऽपि मोहविजयाय निपीड्य कक्षामभ्युत्थितास्त्वयि विरूढसमानमानाः।
अप्राप्य ते तव गतिं कृपणावसानास्त्वामेव वीर शरणं ययुरुद्वहन्तः ॥ १ ॥"

के पुनस्ते नाभेयाद्याः सिद्धार्थराजसुतचरमाः? इत्याह— जिना इति। रागद्वेषजेतारो जिनाः। रागद्वेषौ कषायाख्यौ मोहनीयकर्मप्रकृतिभेदौ तद्ग्रहणाच्च सकलमोहप्रकृतिभेदग्रहणम्, तत्क्षये च ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणि क्षयमुपयान्तीति। अतो घातिकर्मचतुष्टयक्षयात् केवलज्ञानभास्करविभाजः। अतो रागद्वेषग्रहणं सूचनमात्रमिति ॥ १ ॥

भाषाटीकाकारका मङ्गलाचरण

सूरिं श्रीमदुमास्वातिं, राजतां मे चिदम्बरे।
सन्मार्गदर्शिका यस्य मुमुक्षूणां सदुक्तयः ॥
दोहा—मङ्गलमय मङ्गलकरन मङ्गल-सिद्धि-निधान।
मेरे मन-मन्दिर बसो, उमास्वाति भगवान ॥

इस प्रशमरति नामके प्रकरणके प्रारंभमें इसकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए ग्रन्थकार मङ्गलाचरण करते हैं—

अर्थ—नाभिराजके पुत्र श्रीवृषभदेवको आदि लेकर राजा सिद्धार्थके पुत्र श्रीवर्धमानस्वामी पर्यन्त दस प्रकार धर्मकी विधिके जाननेवाले चरमशरीरी चौबीस जिनदेव जयवन्त हैं।

भावार्थ—श्रीवृषभदेव इस युगके प्रथम तीर्थंकर हैं और श्रीवर्धमानस्वामी अन्तिम तीर्थंकर हैं। सभी तीर्थंकर चरमशरीरी होते हैं। तीर्थंकरके भवके बाद उनके संसारका अन्त होनेके कारण वे अन्य शरीर धारण नहीं करते। तथा कर्मोंका अभाव होनेसे इन्द्रिय और प्राण भी उनके नहीं रहते। अतः उनके नये शरीरका अभाव हो जाता है। और शरीरका अभाव हो जानेसे सांसारिक सुखसे मुक्त होकर एकान्तिक, आत्यन्तिक, निरतिशय और बाधारहित मुक्तिके सुखका अनुभवन करते हैं। वे तीर्थंकर ४+१०+१०=२४ हैं। वे सभी क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश धर्मोंको जानकर मोक्षके इच्छुक भव्य जीवोंको उनका उपदेश देते हैं, अतः वे धर्मकी दस विधियोंके ज्ञाता कहे जाते हैं। तथा राग और द्वेषके जीतने वाले होनेके कारण वे सभी जिन कहलाते हैं। राग और द्वेष मोहनीय कर्मके भेद हैं। उनके ग्रहणसे मोहनीयके सब भेदोंका ग्रहण समझना चाहिए। और मोहनीयको जीत लेनेपर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायकर्म नष्ट हो जाते हैं। अतः चार घातिकर्मोंके क्षय हो जानेसे केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रकट हो जाता है। इस प्रकारके वे तीर्थंकर अन्य मतोंके तीर्थंकरोंको परास्त करके जयवन्त होते हैं। क्योंकि अन्य तीर्थंकरोंमें ये सब गुण नहीं पाये जाते। जैसा कि आचार्य सिद्धसेनने कहा है—

भगवन्! अन्य देव आपके उत्कर्षको सहन न करके मोह-विजयके लिए तैयार हुए परन्तु वे

---

१ द्वा० २ श्लो० १

मोक्षको नहीं जीत सके। उन्हें आपका पद प्राप्त नहीं हो सका। उनका प्रयत्न निष्फल गया और अन्तमें वे आपकी ही सफल शरणमें आगये।"

भरतक्षेत्रसंभूततीर्थकृच्चतुर्विंशतेः प्रकरणकारो नमस्यां विधाय संप्रति समस्तकर्मभूमिवर्तिनो जिनादीन् प्रणिपित्सुराह—

भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए चौबीस तीर्थंकरोंको नमस्कार करके अब समस्त कर्मभूमिके तीर्थंकर आदिको नमस्कार करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार कहते हैं—

जिनसिद्धाचार्योपाध्यायान् प्रणिपत्य सर्वसाधूंश्च।
प्रशमरतिस्थैर्यार्थं वक्ष्ये जिनशासनात् किञ्चित् ॥२॥

टीका—पूर्वोक्तलक्षणा जिनाः तीर्थकृतः सामान्यकेवलिनो वा। सिद्धास्तु निष्ठितसकलप्रयोजनाः सकलकर्मविनिर्मोक्षाल्लोकशिखरप्रत्यासिनः स्वाधीनसुखाः साद्यपर्यवसानाः। पञ्चविधाचारस्यास्तदुपदेशदानाच्चाचार्याः परमार्थप्रवचनार्थनिरूपणे निपुणाः। उपेत्य उपगम्य यतोऽधीयन्ते शिष्याः इति उपाध्यायाः सकलदोषपरिहृतसूत्रसंग्रहाः। अथ द्वन्द्वसमासस्तान्। ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणाभिः पौरुषेयीभिः शक्तिभिर्मोक्षं साधयन्तीति साधवः। सर्वग्रहणात् येऽप्यन्ये प्रतिपन्नाः समस्तसावद्ययोगविरतिलक्षणं सामायिकं तेऽपि प्रणिपातार्हा इति दर्शयति। अथवा सर्वशब्दः सर्वैरपेक्ष्यते मध्यवर्तित्वात्। 'सर्वान् जिनान् सर्वान् सिद्धान् सर्वानाचार्यान् सर्वानुपाध्यायान्, सर्वसाधूंश्च प्रणिपत्य' इति प्रत्येकमभिसम्बन्धः।

एवमिष्टदेवतोद्देशेनाभिहितः प्रणिपातः। तदनन्तरमात्मोपकारित्वादाचार्यादीनपि प्रणम्य अन्वर्थसंज्ञायुक्तप्रकरणक्रियां प्रतिजानीते प्रतिविधित्सप्रयोजनं च दर्शयति कारिकार्धेन— 'प्रशमरतिस्थैर्यार्थम्' इति।

अर्थ—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओंको नमस्कार करके 'प्रशमरति' अर्थात् वैराग्यमें प्रीतिको दृढ़ करनेके लिए जिनशासनके आधारपर कुछ कहूँगा।

भावार्थ—जिनका लक्षण पहले कह आये हैं। तीर्थंकरोंको अथवा सामान्य केवलियोंको जिन कहते हैं। जिनके सभी प्रयोजन पूरे हो चुके हैं, अर्थात् जो कृतकृत्य हैं। जिन्हें कुछ करना बाकी नहीं है। तथा समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जानेसे जो लोकके अग्र भागमें विराजमान हैं, जिनका सुख स्वाधीन है और जो सादि होते हुए भी अन्तरहित हैं, वे सिद्ध हैं। जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाँच आचारोंका स्वयं आचरण करते हैं और दूसरोंको उनका उपदेश देते हैं, वे आचार्य हैं। ये परमार्थके लिए कामकारी शास्त्रके अर्थ करनेमें निपुण होते हैं, अर्थात् जिनागमके ज्ञाता और कुशल व्याख्याता होते हैं। जिनके समीपमें जाकर शिष्यवर्ग सकल दोषोंसे रहित सूत्र-ग्रन्थोंका अध्ययन करता है, वे

१ सामान्य मु० । २ सर्वक-मु० । ३—च मात्रात् प० । ४ पारमर्षप्र—प० । ५ सुसंग्रहाः प० । ६—वैपयम-मु० । ७ सर्वानुपाध्यायान् मु० ।

उपाध्याय हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी अपनी शक्तिके द्वारा जो मोक्षकी साधना करते हैं, वे सर्वसाधु हैं। साधुके पहले 'सर्व' विशेषण लगानेसे ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि जिन्होंने आज ही समस्त पापमयी प्रवृत्तियोंके त्यागरूप सामायिक संयमको धारण किया है, वे भी नमस्कार किये जानेके योग्य हैं। अथवा सर्व शब्द मध्यमें होनेके कारण पाँचोंके साथ लगाया जाता है। अर्थात् सब तीर्थङ्करोंको, सब सिद्धोंको, सब आचार्योंको, सब उपाध्यायोंको और सब साधुओंको नमस्कार करके इत्यादि।

इस प्रकार इष्ट देवताके उपदेशसे अरहन्त और सिद्धोंको तथा निकट उपकारी होनेके कारण आचार्य वीरगुरुको भी नमस्कार करके कारिकाके 'प्रशमरतिस्थैर्यार्थम्' इत्यादि उत्तरार्धसे ग्रन्थके नामकी सार्थकता तथा प्रयोजनको बतलाते हुए ग्रन्थकार ग्रन्थ बनानेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

अरक्तद्विष्टता प्रशमो वैराग्यमिति। वक्ष्यति उपरि 'माध्यस्थ्यं वैराग्यम्' इत्यादि। तत्र वैराग्यलक्षणे प्रशमे रतिः सक्तिः प्रीतिः तस्याः स्थैर्यं निश्चलता प्रशमरतिस्थैर्यम्। अर्थशब्दः प्रयोजनवचनः। 'प्रशमरतौ कथं नाम स्थिरो मुमुक्षुर्भव्यः स्यात्' इत्यतो वक्ष्ये प्रकरणम्। तच्च जिनशासनादेव वक्ष्यामि, अन्यत्र प्रशमाभावात्। यतः सर्वाप्रशमनिरोधैकरसं हि जैनं शासनम्। न चान्यदेवंविधमस्ति। प्रशमकारि प्रवचनं शासनं आचाराङ्गमाचारादिदृष्टिवादपर्यन्तम्, तच्च रत्नाकरवदनेकार्थनिचितम्, तस्मात् किञ्चित् मनाक् वक्ष्ये। समस्ताभिधाने यद्यपि शक्तिर्नास्ति, तथापि प्रवचनसारव्याख्यावसरपरिपूर्णकाला भव्यानां स्वल्पोऽपि प्रशमामृतबिन्दुर्दत्तेषु पातितो महान्तमुपकारं प्रसूते उपकर्तुश्च भव्योपकारः स्वपरहितमशेषविशिष्टफलदायी भवत इति तदाह– वक्ष्ये जिनशासनात् किञ्चित् ॥ १ ॥

राग और द्वेषके अभावको प्रशम कहते हैं। इसीका नाम वैराग्य है, [2]जैसा कि ग्रन्थकार 'माध्यस्थ्यं वैराग्यम्' इत्यादि कारिकासे आगे बतलायेंगे। उस वैराग्य रूप प्रशममें जो रति अर्थात् प्रीति, उसमें जो निश्चलता अर्थात् वैराग्यके प्रीतिका स्थिर रहना सो 'प्रशमरतिस्थैर्य' है। तथा 'अर्थ' से अभिप्राय प्रयोजनका है। जिससे ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि 'प्रशमरति' में—वैराग्यके प्रेम में—मुमुक्षु भव्य जीव किस प्रकार स्थिर हों इसी प्रयोजनसे मैं इस ग्रन्थको कहूँगा। तथा जो कुछ कहूँगा वह जिनशासनके आधारसे ही कहूँगा, क्योंकि अन्य धर्मोंमें प्रशमका अभाव है। जिनशासनका यदि कोई एक रस है तो वह सब प्रकारके आस्रवोंका रोकना ही है। किन्तु अन्य मतोंमें यह बात नहीं है।

आचाराङ्गसे लेकर दृष्टिवादपर्यन्त समस्त द्वादशाङ्गरूप प्रवचन प्रशम—वैराग्यको करने वाला है तथा रत्नाकर—समुद्रकी तरह अनेक अर्थरूपी रत्नोंका आकर—खानि है। उससे लेकर कुछ

१ [illegible] सर्वम्।" [पाँचों परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें इस नमोकार मंत्रमें जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक हैं। अतः सम्पूर्ण क्षेत्रमें रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहन्त आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिए उनमें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिए।] भगवती टीका, प्रथमखण्ड, पृ० ४ ५१

२ [illegible]—पु०।

कहूँगा। यद्यपि समस्त द्वादशाङ्गके कथन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, तथापि ग्रहण, धारण और अर्थका निश्चय करनेमें भी धीर अन्यजन दुर्लभ हैं। अर्थात् जो समस्त अर्थको न तो ग्रहण कर सकते हैं, न अपनी स्मृतिमें रख सकते हैं, और न उनका अर्थ ही समझ सकते हैं, उन जीवोंके हृदयोंमें गिराई गई प्रशमरूपी अमृतकी दो-चार बूँदें भी महान् उपकार करती हैं और उपकार करनेवालेका यह उपकार अपने और दूसरोंके हितके लिए विशेष फलदायक होता है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि जिनशासनसे लेकर कुछ कहूँगा।

[1]'वक्ष्ये' इत्युक्तम्। अबहुश्रुतानां तु सकलस्तत्र प्रवेशः इति आर्याद्वयेनाह—

अल्पज्ञानियोंका जिनशासनमें प्रवेश करना कठिन है, यह बात दो कारिकाओंसे कहते हैं—

यद्यप्यनन्तगमपर्ययार्थहेतुनयशब्दरत्नाढ्यम्।
सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुमबहुश्रुतैर्दुःखम् ॥३॥

टीका—समस्ताभिधानमशक्यं यद्यपि बहुश्रुतेनास्मद्विधेन सर्वज्ञशासनपुरप्रवेशाभावादेव। तद्धि परमदुर्गं[3] दुरवगाह्यम् अनन्तगमपर्यायार्थत्वात्। तथा चोक्तम्—'अणंतगमपज्जवं सुत्तम्' इति। अर्थो हि अनन्तैर्गमैः पर्यायैश्च[4] यस्य सर्वज्ञशासनपुरस्य तदनन्तगमपर्यायार्थम्[5]। गमाः स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सप्त विकल्पाः। पर्यायास्तु मृद्द्रव्यस्यापेक्षाः पृथुबुध्नोदराकारो घटः। हेतुः कारणमात्रम् अन्वयव्यतिरेकवान् वा। अनेकरूपक्षेपात्मना अध्यवसायविशेषा नैगमसंग्रहादयो नयाः हस्तिदर्शनेऽन्धानामध्यवसायवत् उत्तरोत्तरसूक्ष्मदर्शनात्। शब्दाः प्रकृतिमिश्रितलक्षणाः साधुशब्दाः प्राकृताः संस्कृताश्च। शब्दप्राभृतं च पूर्वान्तर्गतं यत इदं प्राकृतव्याकरणं संस्कृतव्याकरणं चाकृष्टम्। अनन्तगमपर्यायार्थहेतुनयशब्दा एव रत्नानि व्याख्यातृगिरां मण्डनानि भूषणानि एभिराढ्यं समृद्धिमत्। आढ्यशब्दः प्रभूतवचनः। अनन्तशब्दो वा सर्वत्राभिसम्बध्यते—अर्थस्यानन्त्याद्धेतवो नयाः शब्दाश्चानन्ताः। तथा आढ्यशब्दः आकुलवचनः, तैराढ्यम् 'आकुलं गहनम्' इति। तदेवंविधं सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुम्—अन्तर्निपत्य ज्ञातुम् अबहुश्रुतैः—अनधिगतसकलपूर्वार्थैः, दुःखम्—अशक्यमेव, 'वर्तते'[6] इति शेषः, प्रवेष्टुमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अर्थ—यद्यपि अनन्त भङ्ग पर्याय, अर्थ, हेतु, नय और शब्दरूपी रत्नोंसे भरपूर सर्वज्ञ शासन रूप नगरमें अल्पज्ञानियोंका प्रवेश करना दुष्कर है।

भावार्थ—जिनशासन एक नगरके समान है। जैसे दुर्ग वगैरहके कारण नगरमें प्रवेश करना कठिन होता है, वैसे ही अनन्त भङ्ग पर्याय वगैरहसे भरपूर होनेके कारण मेरे जैसे अल्प प्राणी उस जिनशासन नगरमें प्रवेश नहीं कर सकते। वस्तु कथंचित् है, कथंचित् नहीं है, इत्यादि सात भङ्गोंको गम कहते हैं। एक वस्तुमें क्रम-क्रमसे होनेवाली हालतोंको पर्याय कहते हैं। जैसे मिट्टीकी पर्याय घड़ा वगैरह। शब्दोंके

१ नास्ति वाक्यमिदं प प्रतौ। २ पर्यायार्थं प। ३ दुर्गं-पुर—मु। ४ पर्यायैश्च मु। ५ पर्यायार्थम् मु। ६ वर्तमानम् मु।

मानको अर्थ कहते हैं। साधनके अथवा साध्यके साथ जिसकी व्याप्ति हो उसे हेतु कहते हैं। जिस प्रकार अन्धे मनुष्योंको हाथीके एक एक अवयवका ज्ञान होता है, उसी प्रकार अनेक धर्मात्मक वस्तुके एक एक धर्मको लेकर जो ज्ञानविशेष होते हैं, उन्हें नय कहते हैं। उनके भेद नैगम, संग्रह आदिक हैं। इनका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता है। चौदह पूर्वोंके अन्तर्गत शब्दप्राभृतमें जिनका कथन किया गया है, उन संस्कृत और प्राकृतके शुद्ध शब्दोंको शब्द कहते हैं। शब्दप्राभृतके आधारपर ही संस्कृत और प्राकृतके व्याकरण बने हैं। अनन्त शब्द प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए। इस तरह सर्वज्ञदेवका शासन अनन्त भङ्गोंसे, अनन्त पर्यायोंसे, अनन्त गमोंसे, अनन्त हेतुओंसे, अनन्त नयोंसे और अनन्त शब्दोंसे बड़ा गहन हो गया है। उसमें जो बहुश्रुत नहीं हैं, जिन्होंने अङ्ग-पूर्वरूप समस्त शास्त्रोंका अभ्यास नहीं किया है, उनका प्रवेश पाना असम्भव ही है।

यद्यपि इति अपेक्षमाण इदमाह—

तथापि—

श्रुतबुद्धिविभवपरिहीणकस्तथाप्यहमशक्तिमविचिन्त्य ।
भ्रमक इवावयवोऽञ्छकमन्वेष्टुं तत्प्रवेशेप्सुः ॥४॥

यद्यपि अशक्यप्रवेशो सर्वज्ञशासनपुरमस्माद्विधेन तथापि श्रुतबुद्धिविभवपरिहीणोऽपि अधिगतसकलपूर्वापरविभवस्तेन परिहीणः परित्यक्तः, तथा बुद्धिविभवपरिहीणश्च— बुद्धेर्विभवः कोष्ठबुद्धित्वं बीजबुद्धित्वं पदानुसारित्वमित्यादि। अहम् इति आत्मानं निर्दिशति प्रकरणकारः। अशक्तिमात्मगतामविचिन्त्य अनपेक्ष्य अनालोच्यात्मनोऽसामर्थ्यं सोऽहं समुत्सुकः कर्तुं भ्रमक इव। भ्रमको भिक्षुको रङ्कः। स हि देवताभि-षिक्तान्नम्युचितस्योचितस्ये विप्रकीर्णानि पोषमात्मनः करोति—स्वयमेवावारित इव श्रीहिकणान् भुवि निपतितान् उच्छित्य शरीरस्थितिं विधत्ते। तेषां विप्रकीर्णानां संचयनमुत्सुकस्तेन उञ्छकम्। एव-महमपि पूर्वपुरुषसिंहैर्महामतिभिरुपभुज्यमाने प्रवचनार्थेऽनेकशो यद्वचनजातमावर्जितं पतितं किंचित् तदन्वेष्टुं गवेषयितुं सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुमिच्छामि। परिशिष्टवाक्यचोदनमात्रकेण सर्वज्ञशासनपुरप्रवेशमाप्तुमिच्छामीत्यर्थः। आर्याद्वयस्य उपनयो यथा—यद्वद् रङ्कः पुरमन्तः प्रवेष्टुमभिलषति सकलं तद्वत् सकलशास्त्रमभ्योर्तुं सकलं वर्तत इत्यर्थः ॥४॥

अर्थ—शास्त्राभ्यास और बुद्धिकी सम्पत्तासे बिलकुल हीन होनेपर भी मैं अपनी असमर्थताको न विचार कर, जैसे कोई रङ्क मनुष्य नगरके कणोंको बीननेके लिए नगरमें प्रवेश करना चाहता है, वैसे ही प्रवचनके कणोंको बीननेके लिए मैं सर्वज्ञ-शासनरूपी नगरमें प्रवेश करना चाहता हूँ।

भावार्थ—मैंने न तो समस्त शास्त्रोंका ही पूरा पूरा अभ्यास किया है, और न मेरी बुद्धि ही अलौकिक है। अतः मेरे पास न तो शास्त्रकी सम्पदा है और न कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी

१ यद्यपीत्यारभ्य अस्माद्विधेन पर्यन्तः पाठो नास्ति मु० प्रतौ। २ बुद्धिविभव—प। ३—बुद्ध्यादि—प०। ४ अहम्—प। ५—समुचित नि—प०। ६ आर्याद्वयस्य इत्यारभ्य वर्तते इत्यर्थः पर्यन्तः पाठो नास्ति प० प्रतौ।

वगैरह बुद्धिकी ही सम्पदा है। फिर भी जिस प्रकार कोई दीन-हीन मनुष्य देवताको चढ़ाये गये प्रसादके इधर-उधर पड़े हुए कणोंको बीन-बीन कर अपना पेट भरता है, या खेतोंके काट लिए जानेपर जमीनमें गिरे हुए धान्यके कणों (सिला)से अपना निर्वाह करता है, उसी प्रकार मैं भी—पूर्वविद् पुरुषोंने अपनी बुद्धिसे अनेक बार प्रवचनके जिस अर्थका आलोडन किया है और ऐसा करते समय प्रवचनके अर्थके जो कुछ कण इधर-उधर छिटक गये हैं—उन्हें खोजनेके लिए सर्वज्ञ-शासनरूपी नगरमें प्रवेश करना चाहता हूँ। अर्थात् जिनशासनके अन्दर घुसकर उसके रहस्योंको निकालना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है; किन्तु दूसरोंने उसमें घुसकर जो कुछ खोजा है, उनकी खोजके फलस्वरूप पड़े हुए कुछ ज्ञानके कण शायद मुझे भी मिल जावें, इसी लिए मैं जिनशासनमें प्रवेश करना चाहता हूँ। सारांश यह है कि जिनशासनको समझना बड़ा कठिन है।

तामेवोञ्छवृत्तितामात्मनो दर्शयति कारिकाद्वयेन—

दो कारिकाओंसे अपनी उसी उञ्छ वृत्तिको दर्शाते हैं:—

बहुभिर्जिनवचनार्णवपारगतैः कविवृषैर्महामतिभिः ।
पूर्वमनेकाः प्रथिताः प्रशमजननशास्त्रपद्धतयः ॥ ५ ॥

टीका— जिनवचनमर्णव इव, पारगमनाशक्यत्वान्मन्दमतिभिः। महामतिभिस्तु बुद्धिविभवप्राप्तैः सुगमपारः' इति दर्शयति। जिनवचनार्णवपारगतैर्बहुभिर्महामतिभिश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः शास्त्रप्रतिबद्धकाव्यकरणनिपुणैः सत्कविभिः शब्दार्थदोषरहितकाव्यकारिभिः कविवृषैः कविप्रधानैः पूर्वं प्रथमतरमेव अनेकाः बह्व्यः प्रशमजननशास्त्रपद्धतयः प्रथिताः प्रकाशिताः। प्रशमो वैराग्यम्, स जन्यते येन शास्त्रेण तत् प्रशमजननशास्त्रम् तस्य पद्धतयो रचना 'वैराग्यवीथयः' इत्यर्थः। तैर्महामतिभिर्या विरचिताः शास्त्रपद्धतयः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन वचनरूप समुद्रके पारको प्राप्त हुए महामति कवियोंने पहले वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले अनेक शास्त्र रचे हैं।

भावार्थ—जिनभगवान्के वचन समुद्रके समान हैं, क्योंकि मन्दबुद्धिवाले जीव उनका पार नहीं पा सकते। पर बुद्धिकी सम्पदावाले कुछ महामति पुरुष उसे सुगमतासे पार कर सकते हैं। यही बात दर्शाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि मुझसे पहले चौदह पूर्वके जाननेवाले और शास्त्रके विषयको लेकर काव्य बनानेमें निपुण अनेक श्रेष्ठ कवियोंने वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले शास्त्रोंकी रचना की है।

द्वितीयकारिका माह:—दूसरी कारिकाको कहते हैं—

ताभ्यो विसृताः श्रुतवाक्पुलाकिकाः प्रवचनाश्रिताः काश्चित् ।
पारम्पर्यादुत्सेषिकाः कृपणकेन संहृत्य ॥ ६ ॥

टीका—ताभ्यो विसृता विनिर्गताः श्रुतग्रन्थानुसारिण्यो याश्च प्रधानार्थप्रतिबद्धा या विप्रु(प्रु)ष इव पुलाकिकाः पुद्गलीरूपा निस्सारा याः पतिताः प्रवचनार्थाः । प्रवचनानुसारिण्यो यास्ता श्रुतान्यानुगताः । तथापि काश्चिदेव न सर्वाः संभाविताः । पारम्पर्यादुत्स्तोपिका इति गणधरशिष्यप्रशिष्यादिपूर्वधरैरेकाग्रतानुविद्भिश्च प्रवचनाभ्यवहारं[1] कुर्वद्भिरुत्सेपिका परिपाटीभावा हृताः, कृपणकेन रङ्केन इव[3] संहत्य संपीड्य ॥ ६ ॥

अर्थ—उनसे निकले हुए श्रुतवचनरूप कुछ कण द्वादशांगके अर्थके अनुसार हैं। परम्परासे वे बहुत थोड़े रह गये हैं; परन्तु मैंने उन्हें रङ्कके समान एकत्रित किया है।

भावार्थ—उन महात्मा आचार्योंने जो शास्त्र रचे हैं, उनमेंसे जो शास्त्र-वचनरूपी कण निकले हैं, उन कणोंमेंसे कुछ जिनशासनके अनुसार हैं; क्योंकि उन्हीं शास्त्रोंकी कुछ बातोंको लेकर मिथ्यादृष्टियोंने भी अपने आगम बना डाले हैं। अतः उनसे निकले हुए सभी वचन-कण जिनशासनके अनुसारी नहीं हैं। गणधरोंकी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परासे उन वचन-कणोंके जब प्रवचनका रूप मिला तो वे और भी संक्षिप्त हो गये। गरीब रङ्कके समान उन्हीं कणोंको एकत्र करके मैंने यह शास्त्र रचा है।

किं कृतम् इत्याह—क्या किया ? सो कहते हैं—

तद्भक्तिबलार्पितया मयाप्यविमलाल्पया स्वमतिशक्त्या ।
प्रशमेष्टतयाऽनुसृता विरागमार्गैकपदिकेयम् ॥ ७ ॥

टीका—यस्माद् श्रुतवाक्पुलाकिका विसृता गुरुभ्यस्तेषु भक्तिः प्रीतिसेवा[4] तासु, वा श्रुतवाक्पुलाकिकासु भक्तिस्तावन्मात्रेणैव परितोषात्, तद्भक्तिबलं सामर्थ्यं तेन तद्भक्तिबलेन अर्पिता उपनीता स्वमतिशक्तिः विशेषाभक्तिरेव बलात्प्रोत्साहयति मे स्वमतिशक्तिं जनयति वा, तया तद्भक्तिबलार्पितया स्वमतिशक्त्या, मयाऽपि तदनुरूपानुसारेण ग्रथिता। पुनः तस्या एव विशेषणम्, अविमलाल्पया इति। ज्ञानावरणकर्मानुपेतत्वादविमला, अल्पा स्तोका। एतच्चतुर्दशपूर्वधरा अपि षट्स्थानपतिता भवन्ति किं पुनरस्मादृशाः ? कः पुनरयं नियोगोऽल्पतया प्रकरणं करणीयम् ? इत्याह—प्रशमेष्टतया। इष्टस्य भाव इष्टता प्रशमस्येष्टता प्रशमेष्टता प्रशमवल्लभता, तया हेतुभूतया विरागमार्ग एव एकपदं यस्या विरागपदं स्थानम् आश्रयो यस्याः सेयं विरागमार्गैकपदिका कृतिः ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रुतवचन रूप धान्यके कणोंमें मेरी जो भक्ति है, उस भक्तिके सामर्थ्यसे मुझे जो अविमल—मलसहित और थोड़ी बुद्धि प्राप्त हुई है, अपनी उसी बुद्धि शक्तिके द्वारा वैराग्यके प्रेमवश मैंने वैराग्य-मार्गकी पगडंडीरूप यह रचना की है।

---

१ प्रवचनाभ्यवहारा—ब । २ नास्ति पदमिदं प प्रतौ । ३ इव नास्ति—ब । ४ प्रीतिसेवा मु । ५ नास्ति पदद्वयमिदं प प्रतौ । विशेषार्थ—मु । ६ एकं पदं मु ।

भावार्थ—मुझे जो कुछ बुद्धि प्राप्त हुई है वह जिनसे श्रुतवचनरूप धान्यके कण निकले हैं, उनमें अथवा श्रुतवचनरूप धान्यके कणोंमें मेरी जो भक्ति-श्रद्धा है, उसीका प्रसाद है। तथा ज्ञानावरणसे कलुषित होनेके कारण मेरी बुद्धि निर्मल भी नहीं है और थोड़ी भी है। जब चौदह पूर्वके पाठियोंका ज्ञान भी षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिको लिए हुए होता है तब हमारे जैसे प्राणियोंके ज्ञानकी कथा ही क्या है!

शङ्का—क्या यह कोई नियोग है कि ग्रन्थ अवश्य बनाना ही चाहिए।

समाधान—मुझे वैराग्य बहुत प्रिय है। अतः बुद्धि और शक्ति अल्प होनेपर भी उसी प्रेमवश मैंने वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली यह छोटीसी रचना की है।

ननु च उच्छिष्टाः श्रुतवाक्पुलाकिकाः परिगृह्य या रचिता कथं सा सतां सम्मता भविष्यतीत्याह—

दूसरोंके द्वारा छोड़े गये जिनवाणीके कणोंको लेकर की गई रचना सज्जनोंको कैसे मान्य होगी? इस आशंकाका समाधान करते हैं—

यद्यप्यवगीतार्था न वा कठोरप्रकृष्टभावार्था ।
सद्भिस्तथापि मय्यनुकम्पैकरसैरनुग्राह्या ॥८॥

टीका—अवगीतोऽनादृतः परिभूतोऽर्थो यस्याः सा अवगीतार्था यद्यपि। कथं पुनरवगीता र्थत्वमापाद्यते? यतो न वा कठोरप्रकृष्टभावार्था। वा शब्दोऽवधारणार्थः। नैव कठोर आक्षेप परिहारपरिशुद्धः प्रकृष्टो भावकः शब्दैः प्रतिपाद्यः नातः परमन्योऽर्थोऽस्ति इति सकलकारकव्यापसाध्यः प्रकृष्टभावार्थोऽर्थो नैव यस्याम्। सद्भिः तथापि गुणैर्गुणदोष विद्भिः मय्यनुकम्पैकरसैरनुग्राह्या। मयि इति उत्क्षेपिकामात्रसंघट्टनपटीने कृपणके भ्रमकरूतेऽ नुकम्पार्हे। अनुकम्पैव एको रसः स्वभावो येषां सज्जनानां तैः अनुकम्पैकरसैः। इयमनुग्रही तव्या अनुग्राह्या इत्यर्थः। सन्तो हि करुणापात्रमवलोक्यावश्यंतयाऽनुग्रहं कुर्वन्तीति ॥८॥

अर्थ—यद्यपि इसमें जो कुछ कहा गया है, वह आदरके योग्य नहीं है और न उसका भाव ही गंभीर और ऊँचे दर्जेका है तथापि दयालु सज्जनोंको मुझपर अनुग्रह करना चाहिए।

भावार्थ—इस ग्रन्थमें न तो तर्क-वितर्क उठाकर शङ्कासमाधानपूर्वक आक्षेपोंका परिहार ही किया गया है, और न इसमें जो अर्थ कहा गया है वह इतने उत्कृष्ट भावको लिये हुए है कि यह कहा जा सके कि इसमें कहे हुए अर्थसे बाकी कोई अर्थ कहनेके लिए नहीं है। इसलिए कहा हुआ अर्थ आदरके योग्य नहीं है। फिर भी मैं धान्यके कणोंको बीननेवाले रङ्क मनुष्यके समान दयाका पात्र हूँ, और सज्जनोंका स्वभाव दया करनेका ही होता है, अतः वे मुझपर कृपा करके मेरी इस रचना-पर भी अवश्य ही कृपा करेंगे।

अयमेव स्वभावः सज्जनानाम् इति दर्शयन्नाह—

सज्जनोंका यही स्वभाव है, यह बतलाते हैं—

---

१ म च क—मु।
२ म

कोऽत्र निमित्तं वक्ष्यति निसर्गमतिसुनिपुणोऽपि वा ह्यन्यत् ।
दोषमलिनेऽपि सन्तो यद् गुणसारग्रहणदक्षाः ॥ ९ ॥

टीका—निसर्गः स्वभावः। स्वाभाविकी मतिः सहजा निष्कृत्रिमा। सा किंभूता, अमोघा भवति। तया मत्या सुष्ठु निपुणोऽपि पुमान् कोऽपि कः अत्र मम सतां स्वभावे निमित्तं कारणमन्यद् वक्ष्यति स्वभावादन्यत्? न अत्र मानवी पुंसामाक्षेपः सुप्रसिद्धस्य केनापि? स्वभावत्वात्। हि शब्दो यस्मादर्थे। यस्मात् सुनिपुणोऽपि स्वभावमन्तरेण नान्यन्निमित्तं वक्तुं समर्थः तस्मात् 'स्वभाव एवायं सतां परगुणोत्कीर्तने दोषाभिधाने च मूकत्वम्' इति पश्चार्धेन दर्शयति—दोषमलिनेऽपि दोषयुक्तेऽपि परकीयवचसि गुणान् सारभूतान् गृह्णन्ते सन्तः परगुणग्रहणनिपुणाः ॥ ९ ॥

अर्थ—स्वाभाविक बुद्धिसे चतुर मनुष्य भी इसमें दूसरा क्या कारण बतलावेगा कि सज्जन पुरुष दोषयुक्त वस्तुमेंसे भी सारभूत गुणोंको ही ग्रहण करनेमें निपुण होते हैं।

भावार्थ—स्वाभाविक बुद्धि अकृत्रिम होनेके कारण अमोघ होती है। अर्थात् स्वाभाविक बुद्धिसे जो बात जानी जाती है वह बिलकुल ठीक होती है। ऐसी बुद्धिवाला मनुष्य भी सज्जनोंकी सज्जनतामें स्वभावके सिवाय दूसरा क्या कारण बतला सकता है? मालतीके फूलोंमें जो सुगन्ध होती है उसका भी स्वभावके सिवाय दूसरा क्या कारण हो सकता है? अतः बुद्धिमानसे बुद्धिमान् आदमी भी इसमें स्वभावके सिवाय दूसरा कारण नहीं बतला सकता, अतः दूसरोंके गुणोंको कहना और दोषोंको न कहना यह सज्जनोंका स्वभाव है। इसी बातको ग्रन्थकार उत्तरार्द्धसे स्पष्ट करते हैं कि सज्जन पुरुष दूसरोंके गुणग्रहण करनेमें निपुण होते हैं अतः वे दूसरोंके दोषयुक्त वचनमें भी सारभूत गुणोंको ही ग्रहण करते हैं।

जानाम्येवाहं पूर्वसूरिभिरुक्तमिदं पुनर्मयोक्तं सर्वमपि ततः विरागमार्गपरिचितानां न तस्य विस्मयम्। तथापि—

मैं जानता हूँ कि पूर्वाचार्योंके कहे हुए वचनोंको लेकर मैंने वैराग्यमार्गकी यह रचनाकी है अतः यह विद्वानोंको सम्मत नहीं हो सकती। फिर भी—

सद्भिः सुपरिगृहीतं यत् किञ्चिदपि प्रकाशतां याति ।
मलिनोऽपि यथा हरिणः प्रकाशते पूर्णचन्द्रस्थः ॥१०॥

टीका—सद्भिः सुजनैः। सुपरिगृहीतम् आदरेण स्वीकृतम्। यत् किञ्चिदपि स्वल्पमपि निःसारमपि वा। प्रकाशतां याति। स्फुटमुक्तम्। किं तत् सुजनानां माहात्म्यम् इति परिगृहीतगुणस्य दृष्टान्तमाह। हरिणः मलिनोऽपि कलङ्कोऽपि। पूर्णचन्द्रस्थः

१ क शत्य कोऽपि। २ क सुजनानाम् इत्यम्।

कुरङ्गः कृष्णिमानमपि बिभ्रत् प्रकाशते शोभते पूर्णचन्द्रस्थः। आश्रयगुणो हि अयं यन्मलिनोऽपि हरिणो भ्राजते। एवं यदेव सद्भिः परिगृह्यते निस्सारमपि तत्सदाश्रयात्रेव भ्राजत इति ॥१०॥

अर्थ—सज्जन जिस वस्तुको आदरके साथ ग्रहण कर लेते हैं, वह निःसार होनेपर भी प्रकाशमें आ जाती है। जिस प्रकार पूर्णमासीके चन्द्रमाके बिम्बके बीच रहनेवाला हिरन काला होनेपर भी प्रकाशमान होता है।

भावार्थ—यह आश्रयका ही गुण है कि चन्द्रमामें रहनेवाला काला हिरन भी सुन्दर मालूम देता है। इसी प्रकार सज्जन पुरुष जिस वस्तुको स्वीकार कर लेते हैं, वह निःसार होनेपर भी सज्जनों का आश्रय पाकर सुन्दर लगने लगती है।

तथाऽन्यदपि अमुमेवार्थं सुजनव्यतिकरे प्रकरणकारः उदाहरति—

सज्जनोंके इसी व्यतिकरके सम्बन्धमें ग्रन्थकार दूसरा उदाहरण देते हैं—

वालस्य यथा वचनं काहलमपि शोभते पितृसकाशे।
तद्वत्सज्जनमध्ये प्रलपितमपि सिद्धिमुपयाति ॥ ११ ॥

टीका—बालः शिशुः अनभिव्यक्तवचनः। तस्य वचनं काहलम्–ऋजु स्खलदक्षरगद्गदम् पितुः समीपे विराजते परितोषजनकत्वात्, कौतुकमापद्यते, पुनः पुनश्च तदेवानुबध्नाति पिता। तद्वत् इति बालकाहलवचनवत् सज्जनानां मध्ये प्रलपितम्–असम्बद्धम् अपि प्रसिद्धिं प्रख्यातिमुपयातीति ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बालककी अस्पष्ट बोली भी माता-पिताके पासमें प्यारी लगती है, उसी प्रकार सज्जनोंके बीचमें बकवाद भी प्रसिद्धि पा जाता है।

भावार्थ—जब बालक बोलना शुरू करता है, तो उसकी तुतलाती हुई सीधी गद्‌गद् वाणी माता-पिताको बड़ी मीठी और प्यारी लगती है। इसी प्रकार सज्जनोंके बीच जो कुछ कहा जाय वह असम्बद्ध और व्यर्थका ही प्रलाप क्यों न हो गुण-सम्पन्न सज्जनोंको अच्छा ही मालूम होता है, और इससे उसे ख्याति ही मिलती है। सारांश यह है कि सज्जनोंका आश्रय पाकर मेरी असम्बद्ध रचना भी प्रसिद्ध हो जायेगी।

अथाह परः—यदि पूर्वमनेकाः प्रथिताः प्रशमजननशास्त्रपद्धतयो महामतिभिः तत्कोऽयं प्रशमरतिप्रकरणकरणे पुनराग्रहः ? ता एवाभ्यसनीयाः प्रशमकाङ्क्षिणा। उच्यते—

कोई कहता है—जब महामति आचार्योंने वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले अनेक शास्त्र रचे हैं तो इस 'प्रशमरतिप्रकरण' को बनानेमें आपका इतना आग्रह क्यों है ? वैराग्यके इच्छुक सज्जनों-को उन्हीं पूर्व शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिए। इसका समाधान करते हैं—

---

१ बिभ्रं प—मु०। २ जगिभेव प। ३ प्रकरणकारपुरा—मु। ४ तद्वचनं का—मु। ५ नाभि पात्मभिरं प प्रती।

ये तीर्थकृत्प्रणीता भावास्तदनन्तरैश्च परिकथिताः ।
तेषां बहुशोऽप्यनुकीर्तनं भवति पुष्टिकरमेव ॥ १२ ॥

टीका—भागवतस्तीर्थकरैः प्रणीताः । तदनन्तरं गणधराः साक्षाच्छिष्या भगवताम् तैश्च सूत्रप्रतिबन्धेन परिकथिताः । भूयस्तदनन्तरगणधरशिष्यैस्तच्छिष्यैश्च पारम्पर्येणाख्याताः । भावाः इति जीवादयः पदार्था लक्षणविधानानुयोगद्वारप्रक्रमेण प्ररूपिताः । तेषां भावानाम् बहुशः अनेकधाः पश्चात् कीर्तनम् अनुकीर्तनं मनोवाक्कायैर्बन्धमोक्षप्रक्रियानुग्रहकत्वात् पुष्टिकरमेव भवति । पुष्टिश्चयो ज्ञानदर्शनचारित्राणाम् । तदुपचयाच्च कर्मनिर्जरणम् ततो मोक्ष इति नास्ति कश्चिद्दोषः ॥ १२ ॥

अर्थ—तीर्थंकरोंने जिन पदार्थोंको बतलाया है और उनके पश्चात् गणधर वगैरहने जिनका विवेचन किया है, उनका बार बार कथन करना भी उनकी पुष्टि ही करता है।

भावार्थ—पहले तीर्थंकरोंने जीवादिक पदार्थोंका अर्थरूपसे कथन किया। उसके पश्चात् उनके साक्षात् शिष्य गणधरोंने उन्हें सूत्ररूपमें कहा। उसके पश्चात् गणधरोंके शिष्योंने तथा उनके शिष्योंके भी शिष्योंने परम्परासे लक्षण अनुयोगद्वार वगैरहके क्रमसे उनका कथन किया। उन पदार्थोंका मन, वचन और कायके द्वारा अनेक बार कथन करना, बन्ध और मोक्षकी प्रक्रियाका अनुग्राहक होनेसे पुष्टिका ही करनेवाला है। अर्थात् यदि उन पदार्थोंका मनमें चिन्तन किया जाय, वचनसे उनका कथन किया जावे और कायसे उनका आचरण किया जावे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी वृद्धि ही होती है, और उनकी वृद्धि होनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है, और कर्मोंकी निर्जरा होनेसे मोक्ष होता है। अतः पूर्वाचार्योंके द्वारा वैराग्यके अनेक शास्त्रोंके रचे जानेपर भी इस प्रशमरति को बनानेमें कोई दोष नहीं है।

पुनरुक्तदोषोऽपि न दृश्यते प्रकारान्तरेण वैराग्यस्याभ्यासादारोग्यार्थिनो भेषजोपयोगवत् इत्याह—

तथा इसमें पुनरुक्त दोष भी नहीं है, क्योंकि आरोग्यके इच्छुक मनुष्यको औषधिके सेवनकी तरह इसमें प्रकारान्तरसे वैराग्यके अभ्यास करनेका ही कथन किया है। यही बात कहते हैं—

यद्वदुपयुक्तपूर्वमपि भेषजं सेव्यतेऽर्तिनाशाय ।
तद्वद् रागार्तिहरं बहुशोऽप्यनुयोज्यमर्थपदम् ॥ १३ ॥

टीका—अभ्यासप्रत्ययमुपयुक्तमौषधं प्रथमं पुनःपुनस्तदेवोपयुज्यते । तदुपयोगाच्च अभ्यासतः प्रतिदिनं व्याधेरुपशमप्रकर्षविशेषसमासादनं दृष्टम् । व्याधिकृतं दुःखम् आर्तिः—वेदना । उपयुक्तपूर्वमपि इत्यनेन अभ्यासप्रत्ययत्वमाचष्टे । तद्वत् तथा । रागार्तिहरम्—रागप्रभवं द्वेषादीन्

१ नास्ति पदमिदं प० प्रतौ ।

पिशुनयति । रागद्वेषोपात्तकर्मोदयप्रसूतायास्तीव्रादिवेदनार्तेरपहारकारि पुनः पुनरभ्यस्यमानमप्यदुष्टमेव अर्थप्रधानं पदमशेषम्, अनुयोज्यम् अनुयोजनीयं वाक्प्रपञ्चेनानेकश इति ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पहले सेवन की हुई भी औषधको पीड़ा दूर करनेके लिए फिरसे सेवन करते हैं, उसी प्रकार रागसे उत्पन्न हुई पीड़ाको दूर करनेवाले उपर्युक्त पदोंका भी अनेक बार प्रयोग करना चाहिए।

भावार्थ—जिस औषधपर विश्वास हो जाता है, दुबारा भी उसीका सेवन किया जाता है। उसका सेवन करनेसे प्रतिदिन रोगकी अधिक अधिक शान्ति देखी जाती है। उसी तरह राग-द्वेषसे बँधे हुए कर्मोंके उदयसे होनेवाली आन्तरिक पीड़ा जिन सारवान् वचनोंसे दूर होती है, उनका बार-बार भी दोहराना आवश्यक ही है।

तथा—

यद्वद्विषघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति ।
तद्वद् रागविषघ्नं पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥ १४ ॥

टीका—वृश्चिकादिविषदष्टानामपमार्जनं कुर्वन्तो मन्त्रवादिनः तद्विषजनितवेदनाविघातं विधित्सन्तः पुनः पुनस्तान्येव मन्त्रपदानि आवर्तयन्ति। दृष्टश्च प्रतिक्षणं विषविनाशः। तद्वद् रागविषघ्नं वैराग्याग्निसन्धुक्षणप्रवणमनेकशोऽभ्यस्यमानं रागद्वेषविषविघातित्वात् न पुनरुक्तदोषमासादयतीति ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विषको दूर करनेके लिए मन्त्रका बार-बार उच्चारण करनेमें पुनरुक्त दोष नहीं है, उसी प्रकार रागरूपी विषको नाशनेवाले दोषरहित अर्थपदका बार-बार कथन करनेमें भी पुनरुक्त दोष नहीं है।

भावार्थ—जिन लोगोंको साँप बिच्छू आदि काट लेते हैं, उनका विष उतारनेके लिए मन्त्रवादी लोग बार बार मन्त्रके उन्हीं पदोंको दोहराते हैं, और जैसे-जैसे वे मन्त्रको दोहराते जाते हैं, विष उतरता जाता है, अतः दोहराना व्यर्थ नहीं है। इसी प्रकार रागरूपी विषको भगानेको वैराग्यरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेमें समर्थ वचनोंके बार-बार अभ्यास करनेमें भी पुनरुक्त दोष नहीं है। क्योंकि उनका निरन्तर चिन्तन आदि करनेसे राग-द्वेषका नाश होता है।

तथा परमप्युदाहरति अस्मिन्नेवार्थे—

इसी बातके समर्थनमें एक और भी उदाहरण देते हैं—

वृत्त्यर्थं कर्म यथा तदेव लोकः पुनः पुनः कुरुते ।
एवं विरागवार्ताहेतुरपि पुनः पुनश्चिन्त्यः ॥१५॥

---

१ नास्ति पदमिदं प. प्रतौ। २ वैराग्याग्निसन्धुक्षण—प.। ३ पदार्थोपचितम्—मु.।

टीका—वर्तनं वृत्तिः—आत्मनः कुटुम्बस्य वा पोषणम्। तदर्थं कृष्यादिकं कर्म करोति लोकः समुचितधनमाप्तोऽपि प्रतिवर्षं महतीं सम्पदमिच्छन् प्रकामवतीम्। एवं विरागवार्ता—वृत्तिरस्यां विद्यत इति वार्ता वैराग्यवृत्तिः वैराग्ये वर्तनम्। तस्यां विरागवार्तायां यो हेतुः कारणं स पुनः पुनश्चिन्त्यः अभ्यसनीयः। स च हेतुः वैराग्यप्रख्यापकानि शास्त्राणि। यानि आलोच्य आलोच्य प्रतिक्षणं परित्यज्य रागादीन् वैराग्यमेवाश्रयत इति ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आजीविकाके लिए लोग बार-बार उसी धंधेको करते हैं, इसी प्रकार वैराग्यके कारणको भी बार-बार चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—धन धान्यसे भरपूर होनेपर भी लोग जिस प्रकार प्रतिवर्ष खूब धनी बननेकी इच्छासे अपने अथवा अपने कुटुम्बके पोषणके लिए बार-बार खेती वगैरहका रोजगार करते हैं। इसी प्रकार जिस कारणसे वैराग्यमें प्रवृत्ति हो, उसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए। वह कारण वैराग्यका कथन करनेवाले शास्त्र ही हैं, जिनकी आलोचना कर करके प्रतिसमय रागादिकको छोड़कर वैराग्यका ही सहारा किया जाता है।

तच्च वैराग्यमविच्छेदेन यथा न त्रुट्यत्यन्तराल एव तथाऽनुष्ठेयम् इत्याह—

वह वैराग्य बराबर बना रहे बीचमें ही न छूट जावे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। यही बात ग्रन्थकार बतलाते हैं:—

दृढतामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन।
तस्मिंस्तस्मिन् कार्य कायमनोवाग्भिरभ्यास ॥ १६ ॥

टीका—वैराग्यवासना प्रतिदिनं येन येन भावेन जन्मजरामरणशरीरप्रभृतिकारणालोचनादिना न विच्छिद्यते, दृढतामेवोपैति, तत्र तत्र अभ्यासः कार्यः कायमनोवाग्भिः। अथवा 'येन येन भावेन' इति मनःपरिणामेन अत्यर्थं [1]निर्वेदसंवेगरूपेण आत्मभावेन दृढीभवति वैराग्यं तत्र विधेयोऽभ्यास इति ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस जिस भावसे वैराग्यभावना दृढताको प्राप्त होती है, मन वचन और कायसे उस उसमें अभ्यास करना चाहिए।

भावार्थ—जन्म, जरा, मरण और शरीर आदि उत्तर कारणोंकी आलोचना करना इत्यादि जिस जिस भावसे वैराग्यभावना प्रतिदिन मजबूत होती जाती है, मनसे, वचनसे, और कायसे उस उस भावका अभ्यास करना चाहिए। अथवा मनके जिस निर्वेद और संवेग परिणामकी भावना करनेसे वैराग्य दृढ होता है, उसका अभ्यास करना चाहिए।

सुखावबोधग्रन्थरचनार्थं वैराग्यवाचिनः पर्यायशब्दानाचष्टे—

ग्रन्थकी रचना सुखपूर्वक समझमें आनेके लिए वैराग्यके अर्थवाची पर्याय शब्दोंको बतलाते हैं:—

---

१ निर्वेदसंवेग प०।

माध्यस्थ्यं वैराग्यं विरागता शान्तिरुपशमः प्रशमः ।
दोषक्षयः कषायविजयश्च वैराग्यपर्यायाः ॥ १७ ॥

टीका—अरागद्वेषवृत्तिर्मध्यस्थः, तस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यम् । विगतरागद्वेषता वैराग्यम् । विगतरागो विरागः तद्भावो विरागता । शमः शान्तिः—तेषामेव रागादीनामनुद्भवावस्था । वैराग्यस्य सामीप्येन शम उपशमः । प्रकृष्टः शमो रागादीनामेव प्रशमः । दूषयन्तीति दोषा अपूर्वकर्मोपादानेन जीवं कलुषयन्ति त एव रागादयः तेषां क्षयः—आत्यन्तिक उच्छेदः । कष्यन्तेऽस्मिन् जीवा इति कषः संसारः तस्य आया उपादानकारणानि इति कषायाः, तेषां विजयः—अभिभवो निराकरणम् । एवमेते सर्व एव वैराग्यपर्याया कथिताः ॥ १७ ॥

अर्थ—माध्यस्थ्य वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम प्रशम, दोष-क्षय और कषाय-विजय—ये सब वैराग्यके नामान्तर हैं।

भावार्थ—जिसकी प्रवृत्ति राग और द्वेषसे रहित होती है, उसे मध्यस्थ कहते हैं और उसके भाव अथवा कार्यको माध्यस्थ्य कहते हैं। राग और द्वेषके चले जानेको वैराग्य कहते हैं। रागरहित को विराग कहते हैं, और विरागके भावको विरागता कहते हैं। शम शान्तिको कहते हैं, अर्थात् उन्हीं रागादिकका उदय कोरह न होना शम है। वैराग्यकी समीपतामें जो शान्ति होती है, उसे उपशम कहते हैं। रागादिकके ही उत्कृष्ट शमको उपशम कहते हैं। नये नये कर्मोंको लाकर जो जीवको दूषित अर्थात् कलुषित करते हैं, उन्हें दोष कहते हैं। वे दोष रागादिक ही हैं। उनका बिलकुल नष्ट हो जाना दोष-क्षय है। जिसमें जीव कसें उसे 'कष्' अर्थात् संसार कहते हैं, और संसारके उपादानकारणोंको कषाय कहते हैं। उनका जीतना कषाय-विजय है। ये सभी वैराग्यके नामान्तर हैं।

विगतो रागश्च विरागः । कः पुनरयं रागो नाम ? तमपि पर्यायद्वारेणाचष्टे—

रागरहितको विराग कहते हैं। अतः रागको समझानेके लिए ग्रन्थकार उसके भी नामान्तर कहते हैं—

इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः ।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥ १८ ॥

टीका—इच्छा-प्रीतिः, रमणीयेषु योषिदादिषु आत्मपरिणामः । मूर्च्छा बाह्यवस्तुभिः सह एकीभवनाध्यवसायलक्षणः परिणामः । कामः भावनाविशेष इष्टस्य वस्तुनः । स्नेहः प्रतिविशिष्टप्रेमादिलक्षणः । एषणा गार्ध्यम्-अभिकाङ्क्षाऽप्राप्तवस्तुविषया । ममेदंवस्तु,

१ तस्याय कृता— ब आत्मा—नि इति प । २ कषायादिमानः मु ।

मदमस्य स्वामी इति चित्तपरिणामो ममत्वम्। इष्टवस्तुप्राप्तौ परितोषोऽभिनन्दः। अभिलषणमभिलाष–इष्टप्राप्त्यर्थ मनोरथः। एवमेभिः पर्यायशब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते स रागः॥१८॥

अर्थ—इच्छा, मूर्छा, काम, स्नेह, गार्ध्य, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाष इत्यादि अनेक रागके पर्यायवाची नाम हैं।

भावार्थ—सुन्दर स्त्री आदिमें जो प्रीति होती है, उसे इच्छा कहते हैं। बाह्य वस्तुओंके साथ एकमेक होने रूप जो परिणाम होता है उसे मूर्छा कहते हैं। इष्ट वस्तुकी अभिलाषाको काम कहते हैं। स्थिर प्रेम को स्नेह कहते हैं। अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करनेको गार्ध्य कहते हैं। यह वस्तु मेरी है, इसका मैं स्वामी हूँ ऐसे मनके भावको ममत्व कहते हैं। इष्ट वस्तुके मिलनेपर जो सन्तोष होता है उसे अभिनन्द कहते हैं। इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए जो मनोरथ है, उसे अभिलाषा कहते हैं। ये सब शब्द रागके ही पर्यायवाचक हैं।

'दोषरसतया वैराग्यम्' इत्युक्तम्। तत्र पर्यायकथनेन दोषं निरूपयति—

दोषरूपको वैराग्य कहा है। अतः दोषके पर्याय नाम कहते हैं —

ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेष परिवादमत्सरासूया ।
वैरप्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्याया ॥ १९ ॥

टीका- परविभवादिदर्शनाधिक्षिप्तपरिणामो जायते विपुलमपतामेष एतेन विभवेन ममैवास्तु विभवोऽन्यस्य मा भूत् इति ईर्ष्या। तथा सामान्यरूप–क्रोधविषयत्वादिविविधरोषः क्रोधः। दूषयतीति दोषः। अप्रीतिलक्षणो द्वेषः परदोषोत्कीर्तनं परिवादः। मां छादयति उन्मथति सर्वमात्मनि इति मत्सरः। असूया तु अक्षमा। परस्परवधादिजनितकोपसमुत्थं वैरम्। महद् चण्डनं प्रचण्डनं प्रक्षेपः शान्तस्यापि कोपाग्नेः संधुक्षणम्। एवमाद्या बहवोऽन्येऽपि द्वेषपर्यायाः॥१९॥

अर्थ—ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर और प्रचण्डन इत्यादि अनेक द्वेषके पर्याय नाम हैं।

भावार्थ—दूसरेकी सम्पत्ति वगैरहको देखकर मनमें ऐसा भाव होता है कि इसकी यह सम्पत्ति नष्ट हो जाय मेरे पास ही सम्पत्ति रहे अन्य किसीके भी पास सम्पत्ति न रहे इस भावको ईर्ष्या कहते हैं। दूसरेका सौभाग्य, रूप आदि कोई वस्तु आदिको देखकर जो क्रोध उत्पन्न होता है उसे रोष कहते हैं। जो दूषित करे वह दोष है। प्रीतिके न होनेको द्वेष कहते हैं। दूसरेके दोषोंको कहना परिवाद है। जो अपनेको सब ओरसे आच्छादित करे वह मत्सर है। दूसरोंके गुणोंको न सह सकना असूया है। आपसमें मारने आदिसे उत्पन्न हुए क्रोधसे जो भाव पैदा होता है वह वैर है। अत्यन्त तीव्र क्रोधको अथवा शान्त हुए क्रोधको भी भड़काना प्रचण्डन है। इत्यादि और भी अनेक द्वेषके नामान्तर हैं।

१ विवरणरहितेयं प्रति । २ अपूर्णा प्रति । ३ अपूर्णा प्रति ।

'काः पुनः क्रियाः कुर्वन्नयमात्मा रागद्वेषवशगो भवति ?' इति कारिकात्रयेण कुलकमाह—

किन किन कार्योंके करनेसे यह आत्मा राग और द्वेषके अधीन हो जाता है, तीन कारिकाओंसे यह बतलाते हैं—

रागद्वेषपरिगतो मिथ्यात्वोपहतकलुषया दृष्ट्या ।
पञ्चाश्रवमलबहुलार्तरौद्रतीव्राभिसन्धानः ॥ २० ॥
कार्याकार्यविनिश्चयसंक्लेशविशुद्धिलक्षणैर्मूढः ।
आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाकलिग्रस्तः ॥ २१ ॥
क्लिष्टाष्टकर्मबन्धनबद्धनिकाचितगुरुर्गतिशतेषु ।
जन्ममरणैरजस्रं बहुविधपरिवर्तनाभ्रान्तः ॥ २२ ॥
दुःखसहस्रनिरन्तरगुरुभाराक्रान्तकर्षितः करुणः ।
विषयसुखानुगततृषः कषायवक्तव्यतामेति ॥ २३ ॥

टीका—यथायथावरेण्योक्तौ रागद्वेषौ ताभ्यां परिगतः—तादृशपरिणामयुक्तः। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्, अभिगृहीतमनभिगृहीत-सन्देहमेवम् त्रिविधम्। अभिगृहीतं त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां पाखण्डिशतानाम्। अनभिगृहीतम् अप्रतिपन्नदेवतापाखण्डरूपम्। सन्दिग्धम् एकस्याप्यक्षरस्य पदस्य वाऽश्रद्धानान्मिथ्यादर्शनम्। तेनोपहतत्वात् कलुषा दृष्टिः बुद्धिः मलिना' इत्यर्थः। तया इत्थंभूतया दृष्ट्या बुद्ध्या कारणभूतया। पञ्चाश्रवाः पञ्चेन्द्रियाणि प्राणातिपातादीनि वा। आस्रवन्ति—आददते कर्म इति आस्रवाः। पञ्चाश्रवोपात्तकर्मैव मल बहुल उपचितकर्मराशिः। आर्त चतुर्धा। अमनोज्ञविषयसंप्रयोगे सति तद्वियोगैकतानो मनोनिरोधो ध्यानम्। तथाऽऽतवेदनायाः। तथा मनोज्ञविषयसंप्रयोगे तदविप्रयोगैकतानश्चित्तनिरोधः तृतीयमार्तम्। चक्रवर्त्यादीनामृद्धिदर्शनात् ममाप्यमुष्य तपसः फलमेवंविधमेव स्यादन्यजन्मनि इति चित्तनिरोधश्चतुर्थमार्तं निदानकरणमात्रमिति। ऋतमिति दुःखं तद्धेतुः, तत्र भवमार्तमिति। रुद्रः क्रूरो नृशंसः, तस्येदं रौद्रम्। तदपि चतुर्धा। तत्र प्रथमं हिंसानुबन्धि अनेनानेन च उपायेन खड्गकुन्तपाशयन्त्रादिना प्राणिनो व्यापाद्या इति। तदेकतानो मनोनिरोधो रौद्रं ध्यानम्। द्वितीयमनृतानुबन्धि—येन येन उपायेन परो वञ्च्यते कूटसाक्षिदानादिना तदेकतान मनो रौद्रम्। तृतीयं स्तेयानुबन्धि—येन येन प्रकारेण परस्वमादीयते क्षुरक-कर्तरिकाछेदकखात्रखननादिना तदेकतानं मनो रौद्रम्। धनधान्यादिविषयसंरक्षणैकतानं मनो विषादिभि तुरीयं रौद्रम्। अभिसन्धानमभिसन्धिः अभिप्रायः। स च आर्तरौद्रध्यानयोरतीव प्रकृष्टोऽभिसन्धिः। पञ्चाश्रवमलबहुलार्तरौद्रतीव्राभिसन्धानश्चेति ॥ २० ॥

१ निरोधैक मु० । २ करणान्न —मु ।

धर्मं जीवरक्षादिकम्। अधर्मं जीववधादिकम्। तयोर्विनिश्चयो निर्णयः स तथा। संक्लेशः कालुष्यम्। विशुद्धिर्नैर्मल्यम्। तयोः क्लिष्टचित्ततानिर्मलचित्ततारूपयोर्लक्षणानि परिज्ञानानि। तथा तानि चेति समासः। तैः करणभूतैर्मूढाः—मुग्धाः। तथा आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाः प्रसिद्धरूपाः। ता एव कलयः कलहाः क्लिष्टहेतुत्वात्। तैर्ग्रस्ताः—प्राप्ता इति ॥ २१ ॥

गतिसतेषु चतसृषु गतिषु पुनः पुनरावृत्त्या भ्रमणात्, क्लिष्टमलाभिः कर्मभिर्यद्भवनं तेन बन्धः, बहुनिकाचितत्वात् गुरुः, जन्मजरामरणानि तैरावर्तं पुनः पुनः बहुविधपरिवर्तनमनेकाकारम् अतो भ्रान्ताः परिवर्तनेन ॥ २२ ॥

दुःखसहस्रमिति। बहुत्वप्रतिपादनाय सहस्रग्रहणम्। दुःखसहस्राण्येव निरन्तराणि जन्मघटितानि। नारकतिर्यग्मनुष्यामरभवेषु गुरुकाणि तेनाक्रान्तत्वात्—भवबहुलत्वात् 'अर्पितः कृतार्तो भीतो दुःखकृतां गतः' इति यावत्। कृपणास्पदत्वात् कृपणाः। तृष्यन्तीति तृषः पिपासिताः। विषयाः शब्दादयः, तज्जनितं सुखं विषयसुखमात्रमनुगताः तदासक्ताः। विषयसुखानुगतश्चासौ तृष्णेति विषयसुखानुगततृषः। उपयातविषयसुखोऽपि पुनस्तृष्यति विशिष्टतरमभिलषति इत्यर्थः। एवंविधो जीवः कषायाणां क्रोधादीनां वक्तव्यतामेति—क्रोधी, मानी, मायावी, लोभवांश्चेति। उक्तलक्षणः कषायवक्तव्यः। कषायवक्तव्यः क्रोधादिभिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो राग और द्वेषसे युक्त है, जिसकी बुद्धि मिथ्यात्वसे ग्रस्त होनेके कारण मलिन है और मलिन बुद्धिके कारण पाँच इन्द्रियों अथवा हिंसादि पाँच पापोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंके आगमनसे जिसकी आत्मामें बहुत कर्ममल इकट्ठा होगया है, जिसके आर्तध्यान और रौद्रध्यान रूप तीव्र परिणाम होते हैं।

भावार्थ—राग और द्वेषके नामान्तर पहले बतला आये हैं। जो उनसे युक्त है वही राग और द्वेषके अधीन होता है। तत्त्वार्थके श्रद्धान न करनेको मिथ्यात्व कहते हैं। वह तीन प्रकारका है—गृहीत, अगृहीत और सन्देह। तीनसौ त्रेसठ पाखण्डिमत गृहीत मिथ्यात्व हैं, क्योंकि दूसरोंके उपदेश वगैरहसे लोग उन्हें ग्रहण करते हैं। किसी पाखण्डी देवताको उपदेशपूर्वक ग्रहण न करना, अर्थात् जन्मसे ही उसमें अभिरुचि होना अगृहीत मिथ्यात्व है। श्रुतज्ञानके एक भी अक्षर अथवा पदमें रुचि न होनेसे सन्दिग्ध मिथ्यात्व होता है। जिसके मिथ्यात्व होता है, उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है, और बुद्धिके मलिन हो जानेसे वह पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हो जाता है। अथवा हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापोंको करता है। इससे उसके कर्मोंका आस्रव होता है, और कर्मोंके आस्रव होनेसे उसकी आत्मामें कर्म-मलकी राशि इकट्ठी हो जाती है। ऐसा जीव भी राग और द्वेषके अधीन होता है।

तथा आर्तध्यान चार प्रकारका है—अप्रिय वस्तुके सम्बन्ध हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए जो रात-दिन चिन्ताका कारण है, वह पहला आर्तध्यान है। कोई रोग हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए

१ ब एव ठ—फ० ब एव च ठ—ब । २ कर्मभिर्य प्रतौ नास्ति।

रात-दिन चिन्ता करते रहना, दूसरा आर्तध्यान है। इष्ट वस्तुके वियोग हो जानेपर उसकी पुनः प्राप्ति के लिए चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है। चक्रवर्ती आदिकी सम्पत्तिको देखकर मुझे भी इस तपका फल परलोकमें इसी रूपमें मिले, ऐसा सोचते रहना निदान नामका चौथा आर्तध्यान है। ऋत दुःख अथवा संक्लेशको कहते हैं, उससे जो ध्यान होता है, वह आर्तध्यान है। क्रूर अथवा निर्दयको रुद्र कहते हैं, उसका जो ध्यान होता है, वह रौद्रध्यान है। वह भी चार प्रकारका है:—पहला हिंसानुबन्धि है, अर्थात् हिंसामें आनन्द मानना। झूठी गवाही देना वगैरह अमुक अमुक उपायसे दूसरे ठगे जाते हैं, इत्यादि उपाय सोचनेमें मनका तन्मय होना दूसरा असत्यानन्द रौद्रध्यान है। कैंची फावड़ा, वगैरह जिन जिन उपायोंसे दूसरोंका धन हरा जा सकता है, उन उपायोंके चिन्तनमें मनका एकाग्र होना स्तेयानुबन्धि नामका तीसरा आर्त-ध्यान है। धन धान्य आदि परिग्रहके संरक्षणमें रात-दिन मनका लगा रहना विषयानन्दि नामका चौथा रौद्रध्यान है। इन दोनों दुर्ध्यानोंमें आत्माके भाव बड़े तीव्र होते हैं, और जिसके जैसे भाव होते हैं, वह राग और द्वेषके अधीन होता है॥ २०॥

अर्थ—जो कार्य और अकार्यका निश्चय करनेमें मूढ़ है, संक्लेश और विशुद्धिके स्वरूपको नहीं समझता, आहार-भय-परिग्रह और मैथुन संज्ञारूपी कलहमें जो फँसा हुआ है।

भावार्थ—जीवकी रक्षा आदि कार्य हैं और जीवकी हिंसा वगैरह अकार्य हैं। कलुषित परिणामोंके होनेको संक्लेश कहते हैं, और निर्मल भावोंके होनेको विशुद्धि कहते हैं। इनको जो नहीं समझता तथा आहार वगैरहकी चाहमें फँसा हुआ है, वह रागादिकके आधीन है॥ २१॥

अर्थ—जो आठ प्रकारके क्लिष्ट कर्मोंके निकाचितबन्धसे भारी हो रहा है तथा सैकड़ों गतियोंमें बार-बार जन्म लेने और मरनेके कारण अनेक प्रकारके परिभ्रमणके चक्करमें पड़ा हुआ है॥ २२॥

अर्थ—सर्वदा हजारों दुःखोंके गुरु भारसे आक्रान्त होनेके कारण जो दुर्बल हो रहा है, दयाका पात्र है, विषय-सुखमें आसक्त होकर उनकी ओर चाहना करता है, वह जीव कषायवाला कहा जाता है।

भावार्थ—दुःखकी अधिकता बतलानेके लिए 'हजारों दुःख' कह दिया है। अर्थात् नरकादिक गतियोंमें बराबर दुःख सहते-सहते जिसकी आत्मा दुःखोंके भारसे दब गई है इसी लिए जो दया करनेके योग्य है, तथा जो विषय-सुखमें इतना आसक्त है कि विषय-सुखके मिलनेपर भी उसकी इच्छा शान्त होनेके बजाय और बढ़ती है। जो जीव इस प्रकारके होते हैं, व राग और द्वेषके अधीन होते हैं। राग और द्वेषका ही नाम कषाय है। अतः वे कषायवाले अर्थात् क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी कहे जाते हैं॥ २३॥

स पुनः कषायवक्तव्यतां गत्वा किमवाप्नोति ? इत्याह—

अब कषायवान् आत्माकी क्या दशा होती है, यह बतलाते हैं:—

स क्रोधमानमायालोभैरतिदुर्जयैः परामृष्टः ।
प्राप्नोति याननर्थान् कस्तानुद्देष्टुमपि शक्तः ॥ २४ ॥

टीका—स खलु एवंविधः समुपजातकषायपरिणामः क्रोधादिभिः पराभूतः। अतीव दुर्जयैरिति। नाल्पसत्त्वैर्जेतुं शक्याः कषाया इति दुर्जयाः, तैः पराभूतः परिभूतः कषायवशंगत इत्यर्थः। प्राप्नोति याननर्थान्—आपद्विशेषान् वधबन्धादीन्। कस्ताननर्थान् वचनमात्रेणापि व्याहर्तुं समर्थः। अनर्थभूयसि संसारे कियतोऽनर्थान् तान् नामग्राहं प्रतिपादयितुं शक्येरम् इति।

अर्थ—अत्यन्त दुर्जय क्रोध, मान, माया और लोभ कषायोंके आधीन हुआ जीव जिन जिन कष्टोंको उठाता है, उन्हें कहनेके लिए भी कौन समर्थ है ?

भावार्थ—कमजोर प्राणी कषायोंको नहीं जीत सकते, अतः उन्हें दुर्जय कहा है। जो इन दुर्जय कषायोंके चंगुलमें फँस जाता है, उसकी कुशल नहीं है। वह जिन जिन कष्टोंको भोगता है, उन्हें कोई कह भी नहीं सकता। ठीक भी है, जब संसार अनर्थोंका घर है, तो उनमेंसे कितने अनर्थोंके नाम लेकर गिनाया जा सकता है ?

यद्यपि सकलानर्थानामाख्यानमशक्यं तथापि स्थूलतरकतिपयानर्थाख्यानमपायेभ्यो भव्यांस्त्रोटयत्येव इत्याह—

यद्यपि सब अनर्थोंको कहना शक्य नहीं है, तथापि कुछ मोटे-मोटे अनर्थोंको बतला देनेसे भव्य जीवोंकी उनसे रक्षा हो सकेगी, अतः उन्हें कहते हैं—

क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद् विनयोपघातमाप्नोति ।
शाठ्यात्प्रत्ययहानि सर्वगुणविनाशन लोभात् ॥२५॥

टीका—क्रोधनं क्रोधः—आत्मनः परिणामो मोहकर्मोदयजनितः। तस्मादेवंविधात् परिणामाद्विश्लेषे एव प्रीतिसम्बन्धेभ्यो भवतीति प्रियतमैरपि साकम् व्यवच्छिन्नाशाश्च प्रीत्यादिभिर्निवर्तन्ते। मानो गर्वस्तम्भः 'अहमेव ज्ञानी दाता शूरः' इत्यादिक आत्मपरिणामः। तस्माद् विनयोपघातमाप्नोति। विनयमूलश्च धर्मः।

देवगुरुसाधुवृद्धेषु यथायोग्यं विनयः कार्यः। स च उपघातगर्वपरिणामस्य विहन्यते विच्छिद्यते इति शेषः। शाठ्यपरिणामो माया। तस्मात् प्रत्ययहानिः प्रत्ययो लोकव्यवहारप्रसिद्धया क्वचित् पुरुषे सत्यवादित्वं न्यासकमसमर्पणश्च इत्यादि। तद्धानिः—असत्यभाषणे शाठ्य-परिणामात् न्यासकापहारश्चेति। तृष्णा लोभपरिणाम आत्मनः। तस्माच्च सर्वगुणविनाशभाग् भवति। सर्वे च ते गुणाश्च क्षमामार्दवादयः, तान् लोभाभिभूतः समूलकाषं कषति। आप्नोति इति मध्यवर्तिना क्रियापदेन सर्वत्राभिसम्बन्धः ॥ २५ ॥

अर्थ—क्रोधसे प्रीतिका नाश होता है, मानसे विनयका घात होता है, मायाचारसे विश्वास जाता रहता है, और लोभसे सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

---

१ अन्वम् मु । २-हानि मु ।

भावार्थ—मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए आत्माके क्रोध करनेरूप परिणामको क्रोध कहते हैं। क्रोध करनेसे इसी लोकमें अपने अनन्त प्रिय जनोंके साथ भी प्रेमका नाता टूट जानेसे आत्माको बहुत दुःख होता है। मैं ही ज्ञानी हूँ, मैं ही दानी हूँ, मैं ही शूरवीर हूँ इत्यादि रूप आत्म-परिणामको घमंड या मान कहते हैं। मान करनेसे विनय नहीं रहती, और धर्मका मूल विनय ही है। देव, गुरु, साधु और वृद्ध जनोंकी यथायोग्य विनय करनी चाहिए। किन्तु जब मानका उदय होता है, तो वह विनय नष्ट हो जाती है। अमुक मनुष्य सच बोलता है, और उसके पास जो कुछ धरोहर रक्खो उसे वह लौटा देता है लोक-व्यवहारके अनुसार इस तरहकी बातोंको प्रत्यय अर्थात् विश्वास कहते हैं। झूठ बोलनेसे और धरोहरको हड़प जानेसे वह विश्वास् उठ जाता है। तथा तृष्णाको लोभ कहते हैं। लोभ करनेसे क्षमा मार्दव आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

साम्प्रतं एकैकस्य क्रोधादेः व्यसनोपायं दर्शयन्नाह—

अब क्रोधादिक प्रत्येक कषायको दुःख देनेवाली बतलाते हैं —

क्रोध परितापकर सर्वस्योद्वेगकारक क्रोध ।
वैरानुषङ्गजनक क्रोध क्रोध सुगतिहन्ता ॥ २६ ॥

टीका—परितापो हि दाहज्वराभिभूतस्येव क्रोधिनः परिदहनम्-अस्वस्थता। उद्वेगो भयम्। सर्वस्येति नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवाख्यस्यात्मनो भयमुत्पादयति। कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नो वधबन्धनाभिघातादिलक्षणो वैरम्। तस्य अनुषङ्ग –अनुबन्धः सन्तानः, तं जनयति–उत्पादयति। क्रोधः सुगतिः–मोक्षः, तां हन्ति। भूतपञ्चापणसामर्थ्यात् 'हन्ति' इत्युच्यते। क्रोधा विष्टाश्च सुभूमपरशुरामादयः श्रूयन्ते दुर्गतिगामिनः पारमर्षे प्रवचने। तस्मादिहपरलोकयोरपायकारी क्रोध इति युक्तः परिहर्तुम् ॥ २६ ॥

अर्थ—क्रोध परितापको करता है। क्रोधसे सभीको डर लगता है। क्रोध वैरको पैदा करता है और क्रोध सुगतिका घातक है।

भावार्थ—दाहज्वरसे पीड़ित मनुष्यके समान क्रोधीकी अन्तरात्मा क्रोधसे सर्वदा जला करती है। क्रोधीसे सभी प्राणियोंके जीव भय खाते हैं। क्रोधमें आकर किसीने किसीका वध कर दिया, या उसे जेलखानेमें भिजवा दिया तो उस वैरकी परम्परा पीढ़ी दरपीढ़ी तक चलती रहती है। क्रोध सुगति अर्थात् मोक्षका भी घातक है क्योंकि क्रोधी मनुष्यकी मुक्ति नहीं होती। शास्त्रोंमें सुना जाता है कि सुभूम और परशुराम वगैरहको क्रोधके कारण दुर्गतिमें जाना पड़ा है। क्रोध इस लोक और परलोक दोनोंमें हानिकारक है। अतः उसे छोड़ना ही योग्य है।

श्रुतशीलविनयसद्दूषणस्य धर्मार्थकामविघ्नस्य ।
मानस्य कोऽवकाशं मुहूर्तमपि पण्डितो दद्यात् ॥ २७ ॥

१ व्यसनोपायान् ब०।

टीका—श्रुतम्-आगमः। शीलं च सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारि क्रियानुष्ठानम्। उभयमप्येतद् गर्वो भृशं दूषयति-श्रुतवानप्ययमेवं गर्वितः, श्रुतेन तु मानापहारः कार्यः इति प्रोच्यते, अयं तु तेनैव मत्तो मानी जातः। नन्वेवं श्रुतवतो दूषणं कृतं भवति, न श्रुतस्य? उच्यते-श्रुतमपि दूषितं भवति श्रुतकार्याकरणात्। ज्ञानेन हि मदो निरस्यते, न चार्जितः निरस्यित इति श्रुतमेव दूषितं भवति। अभेदो वा ज्ञानज्ञानिनोरिति न दोषः। एवं शीलमपि वाच्यम्। विनयरहितस्य शीलं पलालमिति। धर्मार्थकामानां विघ्नकारी मानः। धर्मस्य विनयमूलत्वात् धर्मविघ्नकारी मानः। तदनुष्ठानशून्यत्वादर्थोपार्जनस्यापि प्रत्यूहकारी। यतो राजादयः सेवकस्यापि विनयत एव अर्थेन सह योजनं कुर्वन्ति, नेतरस्य। कामस्यापि सम्प्राप्तिर्विनयसम्पन्नस्यैव भवति। कुलयोषितां वेश्यानां च चित्तानुपालनलक्षणया चेष्टया कामी सुखभाग् भवतीति। एवंविधस्य गर्वस्यावकाशं-ढौकनमात्मनि क्षणमात्रमपि मतिमान् को दद्यात् इति? 'नैव कश्चिद् गुणदोषज्ञो दद्यात्' इत्यर्थः॥ २७॥

अर्थ—श्रुत, शील, और विनयके दूषणरूप तथा धर्म, अर्थ और कामके विघ्नरूप मानको कौन बुद्धिमान एक मुहूर्तके लिए भी स्थान देगा?

भावार्थ—आगमको श्रुत कहते हैं। और सर्वज्ञप्रणीत आगमके अनुसार आचरण करनेको शील कहते हैं। गर्व इन दोनोंको ही दूषित कर देता है। शास्त्र-ज्ञानीको घमंड करते देखकर लोग कहते हैं—'यह शास्त्र-ज्ञानी होनेपर भी गर्व करता है। शास्त्र पढ़कर तो मानको छोड़ना चाहिए। ऐसा सुना जाता है। परन्तु यह तो उसीसे अभिमानी बन गया है'।

शङ्का—यह तो श्रुतवान्का दूषण है न कि श्रुतका?

समाधान—अपना काम न करनेपर श्रुतको भी दोष लगता है। ज्ञानसे मद दूर होता है, किन्तु यहाँ मद दूर नहीं हुआ अतः इससे श्रुतको दोष लगता है।

अथवा ज्ञान और ज्ञानीमें अभेद होता है, अतः कोई दोष नहीं है। इसी तरह शीलके बारेमें भी जान लेना चाहिए। अर्थात् यदि कोई शीलवान् भी मान करता है, तो सब यही कहते हैं कि विनयी न होनेसे यह दुःशील ही है। तथा मान धर्म, अर्थ और काममें विघ्न करता है। धर्मका मूल विनय है, अतः मान धर्ममें विघ्न करता है। अर्थका उपादान कारण धर्म है, और मानी धर्मके शून्य होता है, अतः मान अर्थमें भी विघ्न करनेवाला है। क्योंकि राजा वगैरह सेवकके विनयसे ही प्रसन्न होकर उसे धन देते हैं। कामकी प्राप्ति भी विनयीको ही होती है। कुलस्त्रियों और वेश्याओंके मनके अनुकूल आचरण करनेसे कामीको सुख भोगनेको मिलता है। इस प्रकारके गर्वको अपने अन्दर एक क्षणके लिए भी कौन बुद्धिमान् स्थान देगा? अर्थात् हानि-लाभको समझनेवाला कोई भी स्थान नहीं देगा।

मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति किंचिदपराधम्।
सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः ॥२८॥

१ नास्ति पदमिदं ब प्रतौ। २ चित्तानुपालनक—प०।

टीका—माया शाठ्यमनार्जवम्। तच्छीलः तत्स्वभाव आत्मा। यद्यपि न किञ्चिद्विरूप्य परार्थं करोति मायाजनितम्। सम्भावितस्य मायावित्वेन पूर्वदृष्टदोषः। सम्प्रति तु विरतस्तद्दोषात्। तथाप्यात्मीयेनैव दोषेणोपहतो भवति भुजङ्गवदविश्वास्यः। उद्धृतदंष्ट्रोऽपि भुजङ्गो दूरत परिह्रियते लोकेनेति। भुजङ्गवद्यो मायाफलभाजः भूयस्त एवेति ॥२८॥

अर्थ—यद्यपि मायाचारी मनुष्य कुछ अपराध नहीं करता तथापि अपने दोषसे उपहत-पीड़ित हुआ, सर्पकी तरह किसीका विश्वासपात्र नहीं होता।

भावार्थ—जो मनुष्य पहले मायाचारी रहा है, बादको यदि वह मायाचारको छोड़ भी दे, तो भी उसकी पहली आदतको स्मरण करके कोई उसका विश्वास नहीं करता है। वह अपने दोषसे ही मारा जाता है जिस प्रकार साँपका दाँत तोड़ दिये जानेपर भी लोग उससे दूर ही रहते हैं।

सर्वविनाशाश्रयिणः सर्वव्यसनैकराजमार्गस्य।
लोभस्य को मुखगतः क्षणमपि दुःखान्तरमुपेयात् ॥२९॥

टीका—सर्वेषां विनाशानामपायानामाश्रयो लोभः स्थानम्। उपघातचौरपारदारिकवैर सन्तानादयः सर्वे विनाशापायविनिमित्ताः। सर्वविनाशाश्रयणशीलः सर्वविनाशाश्रयी। सर्वाणि व्यसनानि स्त्रीद्यूतमद्यपानाखेटकवचनदण्डपारुष्यार्थदूषणाख्यानि

हितात् व्यंसयन्ति पुरुषमिति व्यसनानि। तेषामेष लोभकषाय एको राजमार्गः। सर्वाणि व्यसनानि लोभाभिभूतं योग्यमाश्रयमासाद्य विश्राम्यन्ति। राजमार्गो हि द्विजविनिभाण्डालादिविभिन्न सर्वैः क्षुण्णो यथा तथा लोभ एव राजमार्गः सर्वव्यसनैः क्षुण्णः। एवंविधस्य लोभस्य मुखगतः-गोचरीभूतः लोभपरिणामभाक् क खलु दुःखान्तरं दुःख-दुःखादन्यत् सुखम् उपेयात्—उपगच्छेत् इति? प्रतीतिन्यायात् प्रायः दुःखमेवेति। 'नैव कदाचित् सुखं प्राप्नुयात्' इत्यर्थः ॥२९॥

अर्थ—लोभ सब विनाशोंका आधार है और सब व्यसनोंका एक राज-मार्ग है। लोभके मुखमें गया हुआ कौन मनुष्य क्षण भरके लिए भी सुख पा सकता है?

भावार्थ—सब प्रकारके वैर-विरोध और चोरी वगैरह विनाशोंका घर लोभ ही है। स्त्री, जुआ, शराब पीना, शिकार, वचन और दण्डकी कठोरता और अर्थदूषण ये सब व्यसन हैं। जो पुरुषको उसके हितसे दूर करते हैं, उन्हें व्यसन कहते हैं। लोभ कषाय उन व्यसनोंका एक राज-मार्ग है। लोभीको पाकर सभी व्यसन उसमें अपना आसन जमाकर बैठ जाते हैं। जिस प्रकार राज-मार्गसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा चाण्डाल वगैरह भी बे-रोकटोक आ-जा सकते हैं, उसी प्रकार लोभरूपी राज-मार्ग सभी व्यसनोंके लिए खुला रहता है। ऐसे लोभके मुखमें गया लोभी मनुष्य दुःखके सिवाय और क्या भोग सकता है! अर्थात् उसे क्षणभरके लिए भी सुख नहीं मिलता है।

---

१ मायिक यदभिरं ब० प्रती। २ लोभस्थानम् मु०। ३ सर्वे विनाशी—ब०। ४ राजमार्गगमी हि प०।

सम्प्रति बहुदोषकषायोपसंहारमाह—

अब बहुत दोषोंसे युक्त कषायके वर्णनका उपसंहार करते हैं—

एवं क्रोधो मानो माया लोभश्च दुःखहेतुत्वात् ।
सत्त्वानां भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारः ॥ ३० ॥

टीका—एव एते कषायाः तीव्रस्य प्रकर्षप्राप्तस्य नरकगत्यादिषु दुःखस्य हेतवः जनकाः कारणभूता इति । केषां दुःखहेतवः ? सत्त्वानां प्राणिनाम् । दुःखहेतुत्वाच्च भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारो भवन्ति । भवो नरकादिजन्म तदेव संसारः पुनः पुनर्गमनागमनात् दुर्गः— विषमो भयानकः, तस्य यो मार्गः पन्थाः, तस्य प्रणेतारः प्रवर्तका नायका देशकाः । कः पुनरसौ मार्गः ? हिंसानृतादाचरणलक्षणः ॥ ३० ॥

अर्थ—इस प्रकार दुःखोंके कारण होनेसे क्रोध, मान, माया, और लोभ प्राणियोंके चारगतिरूपी भयानक संसारके मार्गके प्रवर्तक हैं।

भावार्थ—ये सभी कषायें नरकादिक गतियोंमें प्राणियोंको तीव्र दुःखके देनेवाली होनेके कारण भयानक संसारके मार्गको दिखलानेवाली हैं। आशय यह है कि हिंसा झूठ वगैरह पापोंका करना संसारका मार्ग है, और कषायके वशीभूत प्राणी इन पापोंको करता है। अतः कषाय संसारको बढ़ाने वाली हैं।

एषामेव कषायाणामाद्यनिमित्तपदद्वयप्रदर्शनार्थमाह—

इन्हीं कषायोंके दो भेद बतलाते हैं—

ममकाराहङ्कारावेषां मूलं पदद्वयं भवति ।
रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्यायः ॥ ३१ ॥

टीका—ममकारो ममत्वम् मेमेदं ममेदम्[1] इति मायालोभकषायापेक्षलक्षणम् । अहङ्कारो गर्वः, स च अभिमानक्रोधलक्षणः । मायामपि द्रव्योपादानाय वणिजः कुर्वन्ति क्रयविक्रयादिषु, अतो ममकारान्तर्भाविन्येव । क्रोधो हि अभिमानादेव क्रियते— किमित्ययं मामाक्रोशतीति आहन्ति वा अवश्यः सन् इति । अतोऽहङ्कार एव । एषाम् इति क्रोधादीनां मूलं बीजमेतदेव पदद्वयं ममकारोऽहङ्कार इति च । तथा च रागद्वेषावपि बीजभूतौ क्रोधादीनां द्रष्टव्यौ । तस्यैव पदद्वयस्यापरः पर्यायो ममकारः—रागः, अहङ्कारः—द्वेषः ॥ ३१ ॥

अर्थ—इन कषायोंके मूल दो पद हैं—एक ममकार और दूसरा अहंकार। राग और द्वेष भी इन्हींके नामान्तर हैं।

भावार्थ—यह मेरा है, इस प्रकारके भावको ममकार कहते हैं। इसमें माया और लोभ कषायका ग्रहण होता है। गर्वको अहंकार कहते हैं। यह मान कषाय और क्रोध कषायका लक्षण है।

---

१ ममेदमिति मु०।

धन कमानेके लिए बनिये लोग लेन-देनमें मायाचार भी करते हैं, अतः माया ममकारके ही अन्तर्गत है। क्रोध भी इसी मानसे ही किया जाता है। 'यह मामूली आदमी होकर भी मुझपर क्यों चिल्लाता है? अथवा मुझे क्यों मारता है?' यह अहंकार ही है। अतः इन क्रोधादि कषायोंके मूल अर्थात् बीजके दो ही पद हैं। तथा राग और द्वेष भी क्रोधादिके बीज जानने चाहिए। ये दोनों उन्हीं दो पदोंके नामान्तर हैं। ममकारका नाम राग है, और अहंकारका नाम द्वेष है।

अथैषां क्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां को रागः, को वा द्वेषस्तदित्याह—

इन क्रोधादि कषायोंमें राग और द्वेषका विभाग करते हैं—

माया लोभकषायश्चेत्येतद्रागसंज्ञितं द्वन्द्वम्।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः ॥ ३२ ॥

टीका—उक्तलक्षणौ मायालोभौ। तावेव द्वन्द्वं मिथुनम्। रागसंज्ञितं रागनामकम्। क्रोधमानौ चोक्तलक्षणौ। एतदपि द्वन्द्वं द्वयं 'द्वेष' इति निर्दिश्यते संक्षेपतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—संक्षेपमें माया और लोभ कषायके युगलका नाम राग है, और क्रोध तथा मान कषायके युगलका नाम द्वेष है।

भावार्थ—माया और लोभको राग कहते हैं, और मान तथा क्रोधको द्वेष कहते हैं।

तौ पुनर्ममकाराहङ्कारौ रागद्वेषौ वा किं केवलावेव ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धे पर्याप्तौ अथान्यमपि किंचित्[1] सहायमपेक्षेते? इत्याह—

शङ्का—वे ममकार और अहंकार अथवा राग और द्वेष अकेले ही ज्ञानावरणादिक कर्मोंका बन्ध करानेमें समर्थ हैं या किसी दूसरेकी सहायता लेते हैं? ग्रन्थकार इसका उत्तर देते हैं—

मिथ्यादृष्ट्यविरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलं दृष्टम्।
तदुपगृहीतावष्टविधकर्मबन्धस्य हेतू तौ ॥ ३३ ॥

टीका—मिथ्यादर्शनं मिथ्यादृष्टिः। तत्पूर्वमुक्तं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम्। अविरमणमविरतिः अनिवृत्तिः पापास्रवात्। विषयेन्द्रियनिद्राविकथाख्यः चतुर्विधः प्रमादः। मनोवाक्कायाख्या योगाः। एतां चतुरः सहायानपेक्षेते ममकाराहङ्कारौ रागद्वेषौ वा कर्माणि बन्धितव्ये। तयोः इत्येतावेव सम्बध्येते। बलम् इति उपकारलक्षणम्। उपकारका मिथ्यादर्शनादयः तयो रागद्वेषयोः। तैश्चोपगृहीतावेतौ मिथ्यादर्शनादिभी रागद्वेषौ अष्टप्रकारस्य कर्मबन्धस्य हेतुत्वं प्रतिपद्येते इति ॥ ३३ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग ये राग और द्वेषकी सेना हैं। उनकी सहायतासे ये दोनों आठ प्रकारके कर्मबन्धके कारण होते हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्वका लक्षण 'तत्त्वार्थका श्रद्धान न करना' पहले बतला आये हैं। पाप-कर्मों से विरति न होनेको अविरति कहते हैं। विषय इन्द्रिय निद्रा और विकथा ये प्रमादके भेद हैं। मनोयोग,

[1] किञ्चित् प०।

वचनयोग और काययोग—ये तीन योग हैं। कर्मबन्धमें ममकार और अहंकार अथवा राग और द्वेष इन चार सहायकोंकी अपेक्षा करते हैं। उनकी सहायता पाकर ही वे दोनों आठ प्रकारके कर्मबन्धमें दक्ष होते हैं।

अष्टविधं बन्धमादर्शयन्नाह—

बन्धके आठ भेद कहते हैं :—

सज्ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहायुषां तथा नाम्नः ।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौलः ॥ ३४ ॥

टीका—स खलु तद्धेतुकः कर्मबन्धो ज्ञानावरणीयादिभेदेन अष्टधा भवति। ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेद्यं मोहनीयमायुर्नाम गोत्रमन्तरायम् इति अष्टौ मूलभेदाः। क्षायोपशमिकं क्षायिकं च ज्ञानमाव्रियते येन कर्मणा तज्ज्ञानावरणम्। चक्षुर्दर्शनाद्याव्रियते येन कर्मणा तद् दर्शनावरणम्। निद्रादिपञ्चकञ्च, तदपि हि दर्शनमावृणोत्येव। वेद्यं सुखानुभवलक्षणं दुःखानुभवलक्षणञ्च। मुह्यति अनेन जीवः इति मोहोऽनन्तानुबन्ध्यादिः। यस्य कर्मणः प्रसादेन 'जीवति' इत्युच्यते, प्राणान् धारयति, तदायुः। नाम्यन्ते प्राप्यन्ते येन गतिजात्यादिस्थानानि तन्नाम। विशिष्टकुलजात्यैश्वर्यादिप्रापणसमर्थमुच्चैर्गोत्रम्। तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्। दानलाभादिविघ्नकारि च अन्तरायमिति। 'मौलः' इति मूले भवो मौलः कर्मबन्धः ॥ ३४ ॥

अर्थ—मूल कर्मबन्धके आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

भावार्थ—उक्त कारणोंसे होनेवाला कर्मबन्ध ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ मूल भेद हैं। जो कर्म क्षायोपशमिक और क्षायिकज्ञानको ढाँकता है वह ज्ञानावरण है। जो कर्म चक्षुदर्शन वगैरहको ढाँकता है वह दर्शनावरण है। पाँचों निद्राएँ भी दर्शनावरणके ही भेद हैं; क्योंकि वे भी दर्शनको ढाँकती हैं। सुख और दुःखका अनुभव जो कर्म कराता है, वह वेदनीय है। जिस कर्मसे जीव मोहित होता है, वह मोह है। उसके भेद अनन्तानुबन्धी आदि हैं। जिस कर्मके उदयसे जीव जीता है अर्थात् प्राणोंको धारण करता है, वह आयु है। जिस कर्मके उदयसे गति जाति वगैरहकी प्राप्ति होती है, वह नाम है। जिस कर्मके उदयसे विशिष्ट जाति तथा ऐश्वर्य आदि प्राप्त होता है वह उच्च गोत्र है। उससे उलटा नीच गोत्र है। जो कर्म दान लाभ वगैरहमें विघ्न डालता है वह अन्तराय है।

यद्येवं मौलोऽष्टविधः अथोत्तरः कतिविधः ? इत्याह—

अब उत्तर कर्मबन्धके भेद कहते हैं—

पञ्च नव द्व्यष्टाविंशतिकश्चतुः षट्कसप्तगुणभेदः ।
द्विपञ्चभेद इति सप्तनवतिभेदास्तथोत्तरतः ॥३५॥

टीका—ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतिभेदाः पञ्च मतिज्ञानावरणादयः । दर्शनावरणस्योत्तर प्रकृतयो नव चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टयं निद्रादिपञ्चकञ्च । वेदनीयं द्विविधं सद्वेद्यमसद्वेद्यञ्च । मोहोत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशतिः—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वम् अनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधादयः, अप्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः, संज्वलनाश्चत्वारः, हास्य रतिररतिः भयं शोको जुगुप्सा स्त्रीवेदः पुंनपुंसकवेदश्चेति । आयुषश्चतस्र उत्तरप्रकृतयः—नारकायुः, तिर्यगायुः, मनुष्यायुः, देवायुरिति । षट् सप्तगुणा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति । अतो नामकर्मण उत्तरप्रकृतयो द्विचत्वारिंशद् भवन्ति । प्रतिपदपाठात्तु कथ्यन्ते । तद्यथा—गतिनाम, जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम बन्धननाम संस्थाननाम संघातनाम संहनननाम, स्पर्शनाम रसनाम वर्णनाम गन्धनाम, आनुपूर्वीनाम अगुरुलघुनाम उपघातनाम, पराघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम विहायोगतिनाम प्रत्येकशरीरनाम साधारण-शरीरनाम त्रसनाम, स्थावरनाम, शुभनाम, अशुभनाम सुभगनाम दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम सूक्ष्मनाम बादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम स्थिरनाम अस्थिरनाम, आदेय नाम अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम तीर्थकरनाम चेति । गोत्रस्योत्तरप्रकृतिद्वयम् । उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रञ्च । अन्तरायोत्तरप्रकृतयः पञ्च—दानान्तरायम् लाभान्तरायम् भोगान्तरायम्, उपभोगान्तरायम् वीर्यान्तरायञ्चेति । एवमेषामष्टानामपि कर्मणामुत्तरप्रकृतयः सप्तनवतिर्भवन्तीति । नामकर्मणः पुनश्चतुर्विधा गतिः इत्यादि नामभेदेन सप्तषष्टिरुत्तर प्रकृतयो भवन्ति । शेषाणां पञ्चपञ्चाशत् । एवमुभयमेकीकृतं द्वाविंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं भवति । तथापि विंशत्युत्तरप्रकृतिशतस्य बन्धः, सम्यग्मिथ्यात्वयोर्नास्ति बन्धः । मिथ्यात्वदलिकमेव विशुद्धं सत् सम्यक्त्वमुच्यते, सम्यग्मिथ्यात्वमपि देशविशुद्धं मिथ्यात्वमेवाभ्यस्त इति ॥ ३५ ॥

अर्थ—पाँच नौ, दो अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच इस प्रकार उत्तरकर्मबन्धके ९७ भेद होते हैं ।

भावार्थ—ज्ञानावरणकी उत्तरप्रकृतियाँ पाँच हैं—मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण अवधि-ज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ।

दर्शनावरणकी उत्तरप्रकृतियाँ नौ हैं—चक्षुर्दर्शनावरण अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण तथा निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ।

मोहकी उत्तरप्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी-क्रोधादि चार, अप्रत्याख्यानावरण चार, प्रत्याख्यानावरण चार संज्वलन चार हास्य रति, अरति, भय शोक, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ।

१ निद्रापञ्चकं च मु । २ जुगुप्सा च वेदाः स्त्रीपुंनपुंसकवेदश्चेति मु० । ३ प्रतिपदपाठेन तु कथ्यते च० । दर [illegible] व ।

आयुकी उत्तरप्रकृतियाँ चार हैं—नारकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ।

इनको सातसे गुणा करनेपर बयालीस होते हैं । अतः नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ बयालीस होती हैं—गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संस्थान, संघात, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येकशरीर, साधारणशरीर, त्रस, स्थावर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यश, अयश और तीर्थंकर नाम ।

गोत्रकी उत्तरप्रकृतियाँ दो हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र ।

अन्तरायकी उत्तरप्रकृतियाँ पाँच हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ।

इस प्रकार इन आठों कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियाँ सत्तानवे होती हैं । नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंके भेदोंको मिलानेसे जैसे गतिके चार भेद हैं, नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ ६७ होती हैं । और शेष कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियाँ पचपन होती हैं । दोनोंको मिलानेसे १२२ उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं । इनमेंसे भी बन्ध १२० ही प्रकृतियोंका होता है । सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके दलिक ही विशुद्ध होनेपर सम्यक्त्व कहे जाते हैं तथा उसी मिथ्यात्वके विशुद्ध दलोंको सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं ।

प्रकृतिरियमनेकविधा स्थित्यनुभागप्रदेशतस्तस्याः ।
तीव्रो मन्दो मध्य इति भवति बन्धोदयविशेषः ॥ ३६ ॥

टीका—एवमियं प्रकृतिरनेकविधा द्वाविंशत्युत्तरशतभेदा इत्यर्थः । तस्याश्च प्रकृतेः स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धेभ्यः स्थितिबन्धानुभागबन्धप्रदेशबन्धाः तेभ्यः प्रकृतिबन्धविशेषो भवति तीव्रः मन्दः मध्य इति वा । उदयविशेषोऽपि तीव्रादिभेदः प्रकृतीनां भवति । तीव्राशयस्तदा बन्धेषु वर्तमानस्तीव्रं प्रकृतिबन्धं करोति, मन्दाशयो मन्दम्, मध्याशयो मध्यममिति । बन्धविशेषाच्चोदय इति । तत्र स्थितिबन्धो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टः । मोहस्य स्थितिबन्ध उत्कृष्टः सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यः । नामगोत्रयोः स्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः । उत्कृष्टः स्थितिबन्ध आयुषः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । वेदनीयस्य जघन्या बन्धस्थितिर्द्वादशमुहूर्ता । नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः । शेषकर्मणामन्तर्मुहूर्तस्थितिः ।

अनुभागबन्धो विपाकाख्यः कर्मणः शुभस्याशुभस्य वा बन्धकाल एव रसविशेषं निर्वर्तयति । तस्यानुभवनं विपाकः । स यथा नामकर्मणो[1] गत्यादिस्थानेषु[2] विपच्यमानोऽनुभूयते । प्रदेशबन्धस्तु, एकस्मिन्नात्मप्रदेशे ज्ञानावरणपुद्गला अनन्ताः, तथा शेषकर्मणामपीति ॥ ३६ ॥

---

१ नामकर्मणि मु । २ गत्यादिषु स्थानेषु मु ।

अर्थ—इस प्रकृतिके अनेक भेद हैं। तथा स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षासे उसका बन्ध और उदयके तीव्र, मन्द और मध्यम भेद होते हैं।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे उत्तरप्रकृतियोंके एक सौ बाईस भेद होते हैं। स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धकी अपेक्षासे यह प्रकृतिबन्ध तीव्र, मन्द अथवा मध्यम भेद होता है, तथा उसका उदय भी तीव्र मन्द अथवा मध्यम होता है। तीव्र परिणामोंसे तीव्र प्रकृतिबन्ध होता है, और मध्यम परिणामोंसे मध्यम प्रकृतिबन्ध होता है। बन्धमें विशेषता होनेसे उदयमें भी होती है, आशय यह है कि जब प्रकृतिकी उत्कृष्ट स्थिति होती है, तब उसका अनुभव और प्रदेशबन्ध भी उत्कृष्ट होते हैं, और उसउस उत्कृष्ट स्थितिमें बन्ध और उदय-दोनों तीव्र होते हैं। इसी प्रकार जब प्रकृतिकी स्थिति जघन्य होती है, तो अनुभव और प्रदेश भी जघन्य होते हैं और उससे स्थितिका बन्ध-उदय मन्द होता है। इसी तरह मध्यममें जानना चाहिए।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय और अन्तरायका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण होता है। मोहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण होता है। नाम और गोत्रका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण होता है। वेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त होता है। नाम और गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त होता है। शेष कर्मोंका अन्तर्मुहूर्त स्थितिबन्ध होता है। विपाकको अनुभागबन्ध कहते हैं। शुभ अथवा अशुभकर्मका जब बन्ध होता है, उसी समय उसमें रस विशेष भी पड़ता है। उस रस विशेषके अनुभवको विपाक कहते हैं। जब गति वगैरह स्थानोंमें कर्मका उदय आता है, तब वह विपाक अपने अपने नामके अनुसार होता है।

कर्मदलिकोंके समूहको प्रदेशबन्ध कहते हैं। जिस प्रकार एक आत्म-प्रदेशमें अनन्त दलिक रहते हैं। तथा अन्यकर्मोंके भी अनन्त दलिक रहते हैं।

बन्धके कारण कहते हैं—

तत्र प्रदेशबन्धो योगात्तदनुभवनं कषायवशात् ।
स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण ॥ ३७ ॥

टीका—तत्र तेषु चतुर्षु बन्धभेदेषु प्रदेशबन्धस्तावत् योगात् मनोवाक्कायलक्षणात् भवति- आत्मप्रदेशेषु ज्ञानावरणादिपुद्गलोपचयो जायते इत्यर्थः। तस्य प्रदेशबन्धस्य कर्मणोऽनुभवनं कषायवशात् विपाकः इत्यर्थः। स्थितिविशेषः पाकविशेषश्च तस्य लेश्याविशेषजनितो भवति उत्कृष्टः मध्यमः जघन्यः इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अर्थ—योगसे प्रदेशबन्ध होता है, कषायसे अनुभागबन्ध होता है, और लेश्याकी विशेषतासे स्थिति और विपाकमें विशेषता आती है।

भावार्थ—बन्धके चार भेदोंमें से प्रदेशबन्ध योगसे होता है। अर्थात् मनोयोग वचनयोग और काययोगके कारण आत्माके प्रदेशोंमें ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलोंका सञ्चय होता है और कषाय-

के कारण उन किये हुए कर्मोंका अनुभवन अर्थात् विपाक होता है, तथा जिस प्रकारकी लेश्या होती है, उसी प्रकारका उत्कृष्ट, मध्यम, और जघन्य स्थितिबन्ध होता है और उसी प्रकारकी उसमें रस-शक्ति पड़ती है।

तत्र 'लेश्या' इति कः पदार्थः ? कति वा भवन्ति लेश्या इत्याह—

लेश्याका स्वरूप तथा उसके भेद बतलाते हैं—

ता कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लनामान ।
श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्य ॥३८॥

टीका—षड् लेश्या–मनसः परिणामभेदाः। स च परिणामस्तीव्रोऽल्पस्तादृशोऽशुभो जम्बूफलभक्षकपुरुषषट्कदृष्टान्तादिसाध्यः । अपरे त्वाहुः— योगपरिणामो लेश्या। यस्मात् कायवाग्व्यापारोऽपि मनःपरिणामापेक्षस्तीव्र एवाशुभो भवति। अशुभमशुभकर्मग्रहणकारणं स्वाभ्यां परिणामा जायन्ते भाविनो वर्णबन्धोऽपीति। कः (के) ? हरिद्राकर्दमगुलिकादयः तेषां कुड्यादौ चित्रकर्मणि स्थैर्यमापादयति श्लेषो वर्णानां बन्धे स्थिरीकरणम्। एवमेता लेश्याः कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः। तीव्रपरिणामाः स्थितिं कर्मणामतिदीर्घां विदधति कुर्वन्त्यशुभाः कृष्णनील कापोताख्या निकाचनावस्थापनेन। तैजसीपद्मशुक्लनामानः शुभस्य कर्मबन्धस्यानुकूलत्वात् शुभप्रकृतीनामेव कर्मस्थितिं विदधति मन्दां विशुद्धां विशुद्धतरां विशुद्धतमाश्च उत्तरोत्तरं भवन्तीति ॥ ३८ ॥

अर्थ—कृष्ण नील, कापोत तैजस पद्म और शुक्ल—ये लेश्याके छह भेद हैं। जिस प्रकार सरेससे रंग पक्का और स्थायी हो जाता है उसी प्रकार ये लेश्याएँ भी कर्मबन्धकी स्थितिको दृढ़ करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—लेश्याओंके छह भेद हैं। परिणामविशेषको लेश्या कहते हैं। जामुन खानेके इच्छुक पुरुषोंके दृष्टान्तको लेकर उन पुरुषोंके अपने अपने जैसे तीव्र मन्द या मध्यम परिणाम थे, वैसी ही उनकी लेश्या जाननी चाहिए। अन्य आचार्यों का मत है कि योगपरिणामको ही लेश्या कहते हैं। क्योंकि शरीर और वचनका व्यापार मनके परिणामकी अपेक्षासे ही तीव्र होता है और तीव्र होनेसे अशुभ होता है। आशय यह है कि लेश्या मनमें होनेवाले भावोंकी दशाका नाम है। किन्तु अन्य आचार्य कायिक और वाचनिक क्रियाको भी लेश्या कहते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य जब कुछ करता है, या बोलता है, तब भी उसके करने या बोलनेमें मनके भावोंकी ही मुख्यता रहती है। मनमें यदि क्रोध होता है, तो उसकी शारीरिक-क्रिया और वाचनिक-क्रियामें बराबर उसका असर पाया जाता है। अतः योग-

१ षट् लेश्यास्तां भेदाः। स च परिणामभेदाः ती—मु. २ परिणामापेक्षस्ती—ब। ३ विगुणस्थ—प। ४ महती विशुद्धा वि मु.।

परिणामको लेश्या कहते हैं। जिस प्रकार दीवार वगैरहपर चित्रोंको स्थायी बनानेके लिए रंगोंमें सरेस डाल देते हैं सरेससे रंग पक्का और स्थायी हो जाता है। इसी प्रकार ये लेश्याएँ कर्मबन्धकी स्थितिको दृढ़ करती हैं। अर्थात् कृष्ण नील और कापोत लेश्यारूप तीव्र परिणामोंसे कर्मोंकी स्थिति अति दीर्घ और दुःख देनेवाली होती है। तथा तैजस पद्म और शुक्ल लेश्यासे शुभ कर्मोंकी स्थिति अधिक और शुभ फल देनेवाली होती है। ये तीनों लेश्याएँ उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर और विशुद्धतम होती हैं।

'तस्मिन् पुनः कर्मणि बद्धे आत्मसात्कृते किं भवति ?' इत्याह—

आत्माके साथ कर्मोंका बन्ध होजानेपर क्या होता है ? यह बतलाते हैं—

कर्मोदयाद् भवगतिर्भवगतिमूला शरीरनिर्वृत्तिः ।
देहादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुखदुःखे ॥३९॥

टीका—उदिते विपाकप्राप्ते तस्मिन् कर्मणि भवो नरकादिगतयः तदोत्पत्तौ भवगतौ सत्यां नरकादिशरीरनिर्वृत्तिः। भवगतिर्मूलं बीजं यस्याः सा भवगतिमूला शरीरनिर्वृत्तिः। देहनिर्वृत्तेश्च स्पर्शनादीन्द्रियनिर्वृत्तिः। ततः स्पर्शनादिविषयग्रहणशक्तिः। तत्रेष्ट विषय निमित्तः सुखानुभवः, अनिष्टविषयनिमित्तश्च दुःखानुभवः ॥ ३९ ॥

अर्थ—कर्मके उदयसे जीवको नरकादिक गतियोंमें जाना पड़ता है। नरकादिक गतियोंमें जानेसे शरीर बनता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंमें विषयको ग्रहण करनेकी शक्ति होती है और विषयोंके ग्रहण करनेसे सुख-दुःख होते हैं।

भावार्थ—बाँधा हुआ कर्म जब उदयमें आता है तो वह जीवको नरकादिक गतियोंमें ले जाता है। वहाँ शरीर बनता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं, और उनमें विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्ति होती है। इष्ट विषयके भोगसे सुख और अनिष्ट विषयके भोगसे दुःख होता है।

अत्र च स्वभावतएव सर्वः प्राणी सुखमभिलषति दुःखाच्चोद्विजते। मोहान्धो गुण दोषानविचार्य सुखसाधनाय यतमानो यां यां क्रियामारभते सा साऽस्य दुःखहेतुर्भवति ' इति दर्शयति—

इस संसारमें स्वभावसे ही सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं। मोहसे अन्धा हुआ जीव भले बुरेका विचार न करके सुखकी प्राप्तिके लिए जो जो काम करता है वह उसके दुःखके ही कारण होते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार निम्न कारिकासे बतलाते हैं—

दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः ।
यां यां करोति चेष्टां तया तया दुःखमादत्ते ॥४०॥

टीका—दुःखं द्वेष्टीति दुःखद्विट्। सुखं लिप्सते तच्छीलश्च सुखलिप्सुः। मोहो'ज्ञानं तिमिरं, तेनान्धो न गुणं दोषं वा पश्यति। चेष्टा कायिकी वाचिकी मानसी वा क्रिया।

१— रंगोंको पक्की हुई चेत्रादिको लेश्या कहते हैं। २ देहनिर्वृत्तिश्च मु० ।

तेन यादृशी या क्रियते क्रिया तया तया दुःखमावृत्ते-दुःखमनुभवति। कर्मैव वा दुःखम् कारणे कार्योपचारात्। तदाह्यत्त- दुःखकारणं कर्म बध्नाति इत्यर्थः॥ ४० ॥

अर्थ—दुःखसे वैरी और सुखको चाहनेवाला प्राणी भले-बुरेका विचार न करता हुआ, मोहसे अन्धा होकर जो जो काम करता है, उससे दुःखको ही भोगता है।

भावार्थ—सुख पानेकी इच्छासे बिना विचारे मोहमें पड़कर प्राणी जो कुछ मनसे, वचनसे, और कायसे चेष्टा करता है, वह चेष्टा कर्मबन्धका कारण है, और कर्मबन्ध दुःखका कारण होनेसे दुःखरूप है। अतः कारणमें कार्यका उपचार करके 'चेष्टासे दुःखका अनुभव करता है' ऐसा कह दिया है। वैसे तो उस चेष्टासे कर्मबन्ध करता है, और कर्मबन्ध से दुःख भोगता है।

तत्र पञ्चसु इन्द्रियार्थेषु एकैकविषयप्रवृत्तावपि अत्यपायान् पञ्चभिर्दृष्टान्तैर्दर्शयति—

पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय हैं। उनमेंसे एक एक विषयमें भी प्रवृत्ति करनेपर जो आपदाएँ आती हैं, उन्हें पाँच दृष्टान्तोंसे बतलाते हैं—

कलरिभितमधुरगान्धर्वतूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः।
श्रोत्रावबद्धहृदयो हरिण इव विनाशमुपयाति ॥ ४१ ॥

टीका—कला अस्मिन् विद्यन्त इति कलं मात्राद्युक्तं ग्रामरागरीत्या युक्तम्। रिभितं मधुरं श्रोत्रसुखम्। गान्धर्वविशेषणान्येतानि। तूर्यं वादित्रविशेषः, तस्य ध्वनिः। योषितां विभूषणानि नूपुररसनाकिङ्किणीप्रभृतिध्वनितानि तेषां रवः शब्दः। एवमादिभिर्मनोहारिभिः शब्दैः। श्रोत्रेन्द्रियावबद्धहृदयः—श्रोत्रे श्रोत्रेन्द्रियविषयेऽवबद्धं हृदयं येन स श्रोत्रावबद्धहृदयः। कुरङ्गो विनाशमाशु प्राप्नोति गोपबालेटके। तद्वदपरोऽपि प्रमादीति ॥ ४१ ॥

अर्थ—गायकके मनोहर और मधुर संगीत, बाजा तथा स्त्रियोंके आभूषणोंके शब्द वगैरहसे जिसका हृदय श्रोत्रेन्द्रियके विषयमें आसक्त है, वह हिरनकी तरह विनाशको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिसमें कला है उसे कल कहते हैं। उतार-चढ़ाव तथा ग्राम-रागकी रीतिसे युक्त कानोंको सुख देनेवाला गायकोंका संगीत, बाजोंकी मधुर ध्वनि और स्त्रियोंके बिछुए, करधनी घुंघरू आदि आभूषणोंका शब्द—इस प्रकारके मनोहारी शब्दोंको सुनकर जिसका मन कर्णेन्द्रियके विषयमें फँस जाता है, वह उसी प्रकार अपना सर्वनाश करता है, जिस प्रकार शिकारीके संगीतकी ध्वनिमें आसक्त होकर हिरन अपना सर्वनाश कर बैठता है।

गतिविभ्रमेङ्गिताकारहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः।
रूपावेशितचक्षुः शलभ इव विपद्यते विवशः ॥ ४२ ॥

टीका—गतेर्विभ्रमः-मदनप्रकारः सविकारा गतिः इत्यर्थः। इङ्गितं निरीक्षितं स्निग्धया दृशाऽपाङ्गप्रेक्षणम्। आकारः-स्तनमुखोरुसंनिवेशविशेषः। हास्यं सविकारं सलीलं

१ तारया मु०। २ [illegible] नास्ति मु. प्रतौ। ३ इति मु०।

हसितम् हास्यम्। कटाक्ष—अपाङ्गसविशेषवीक्षितैः सामर्थ्यां। एभिर्विशेषणैः विक्षिप्तः प्रेरितो वनितारूपासौ निवेशितचक्षु शलभ इव विपद्यते विनश्यति। शलभो हि दीपशिखावलोकनाक्षिप्तोऽभिमुखः पतितः तत्रैव भस्मसाद् भवतीति ॥ ४२ ॥

अर्थ—मदमाती गति, प्रेममयी चितवन, मुख, आँख वगैरह अवयव, मदभरी हँसी तथा कटाक्षसे पागल हुआ मनुष्य स्त्रीके रूपपर आसक्त होकर पतङ्गकी तरह विपत्तिका शिकार बनता है।

भावार्थ—जिस प्रकार पतङ्ग दीप-शिखापर मुग्ध होकर उसीमें जलकर राख हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी स्त्रीकी प्रेममयी चेष्टाओं और उसके रूपपर मुग्ध होकर अपना सब कुछ गँवा बैठते हैं।

स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासै ।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥ ४३ ॥

टीका—कतिपयसुरभिद्रव्यसमाहारः स्नानम्। अङ्गरागः चन्दनकुङ्कुमादिविलेपनम्। धूपद्रव्यकृता वर्तिरेव वर्तिका। (तत्र धूपो वर्तिकारूप एवासौ संजायते।) तैव दह्यमाना धूपायते। वर्णकः कुष्ठादिकः। अधिवासो मालतीकुसुमादिभिः। पटवासो गन्धद्रव्यचूर्णः। एभिः स्नानादिभिर्गन्धैः भ्रमितम्- आक्षिप्तं मनो यस्यासौ गन्धभ्रमितमनस्कः। मधुकरः शिलीमुख इव विनाशं प्राप्नोति। सुरभिणा पद्मगन्धेन आकृष्टः ... वर्तिगन्धमाजिघ्रन्नस्तमिते सवितरि संकुचयत्यपि नलिने नाशमुपयाति। निरुद्धत्वात् तत्रैव पराङ्मुखतां लभत इति।

अर्थ—स्नान अङ्गराग, धूपबत्ती, सुगन्धित लेप अधिवास और पटवासकी सुगन्धसे पागल हुआ मनुष्य भौंरेके समान मृत्युको प्राप्त होता है।

भावार्थ—इसमें कुछ सुगन्धित द्रव्योंको गिनाया गया है। चन्दन केसर वगैरहका लेप कर लेनेको अङ्गराग कहते हैं। धूपकी बनाई गई बत्तीको धूपबत्ती कहते हैं। उसे जब जलाते हैं तब वह धूपकी ही तरह सुगन्ध देती है। किसी चीजको मालती वगैरहके फूलोंकी सुगन्धसे सुवासित करनेको अधिवास कहते हैं। कपड़ोंको सुवासित करनेके लिए तैयार किये गये सुगन्धित चूर्णको पटवास कहते हैं। इनकी सुगन्धसे जिनका मन चंचल हो उठता है, वह भौंरेकी तरह नाशको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार भौंरा कमलकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर उसके भीतर बैठकर उसकी गन्ध लिया करता है। जब सूर्य डूब जाता है, तो कमल बन्द हो जाता है। कमलके बन्द होते ही वह उसके अन्दर बद हो जाता है। और उसके बन्द होनेसे वह वहीं मर जाता है।

मिष्टान्नपानमांसोदनादिमधुररसविषयगृद्धात्मा ।
गलयन्त्रपाशबद्धो मीन इव विनाशमुपयाति ॥ ४४ ॥

---

१ वनितेक्षित इ—मु०। २ वर्तिः सैव धूपे च०।

टीका—मिष्टमत्यन्तस्वादु सर्वदोषरहितं भक्ष्यभोज्यं विविधम् । पानकादि मद्यं प्रसन्नादि वा पानम् । मांसं छागहरिणैणशूकरमत्स्यशशकपक्ष्यादीनाम् । शाल्योदनादि च । मधुरो रसः खण्डशर्करादि च । स एव विषयो रसनायाः । तस्मिन् गृद्धः सक्त आत्मा यस्य । लोहकुशाग्रे गले । [illegible]—मर्माणि सिंहव्याघ्रद्वीपिमृगिकादिव्यापादनहेतोः क्रियन्ते । तन्तुमयाः पाशाः तित्तिरलावकमयूरादिव्यापत्तये निक्षिप्यन्ते । अथवा मत्स्यमारकाः स एव पाशः तेन बद्धो वशीकृतो मीनः प्रचुरोऽपि मृत्युमुखमाविशति ॥ ४४ ॥

अर्थ—मीठा स्वादिष्ट भोजन मदिरा अथवा कोई अन्य मधुर पेय मांस सुगन्धित चावलोंका भात तथा खाँड-शक्कर वगैरह, रसना इन्द्रियके विषयोंमें जिसकी आत्मा आसक्त है, वह लोहेके कंट अथवा जालमें फँसे हुए मीनके समान नाशको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—लोहेके बने हुए यन्त्रको गलयन्त्र कहते हैं और उससे शेर व्याघ्र, सूअर वगैरह पकड़े जाते हैं। धागोंका बना पाश होता है। वह तीतर, लावा मोर वगैरह पक्षियोंके पकड़नेके काम आता है। जिस प्रकार धीवर लोहेके काँटेको जलमें डालता है और उसमें लगे हुए मांसके खानेके लोभमें आकर मछली मृत्युके मुखमें चली जाती है, उसी प्रकार रसना इन्द्रियके विषयोंके लोभमें पड़कर यह प्राणी भी विपत्तिमें फँस जाता है।

शयनासनसंबाधनसुरतस्नानानुलेपनासक्तः ।
स्पर्शव्याकुलितमतिर्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः ॥ ४५ ॥

टीका—शयनं मृदुमाला शय्या तूल्योपधानप्रच्छादनपटसनाथा । आसनमपि आसंदकादि व्यपगतोपद्रवं मृदुपक्ष्मपट्टादियुतम् । संवाहनम्—अङ्गमर्दनम् । सुरतं कोमलगात्रायाः स्त्रियाः चुम्बनालिङ्गनादि । स्नानानुलेपने पूर्वोक्ते । तेषु सक्तो व्यसनी । शय्यादिसंस्पर्शेन स्त्रियाङ्गस्पर्शेन च व्याकुलितमतिः—मोहितबुद्धिः गजेन्द्र इव गणिकाकरिणीभिः कराग्रैः संस्पृश्यमानः—प्रीयमाणश्च सल्लकीभिः पल्लवैः कोमलैः सुप्त ! काचित् हस्तकाण्डेन प्रेरयन्ती काचित्प्रेर्यन्ती काचित् पृष्ठतो स्थित्वा, पार्श्वतश्चान्या स्वच्छन्दचारी [illegible] (कथा) वारि (री) पञ्जरमध्यमानीतः, ततश्चाधारणेनापि [illegible] परवशोऽनेकप्रकारं दुःखमनुभवतीति ॥ ४५ ॥

अर्थ—बिछावन तकिया वगैरहसे सुसज्जित शय्या, कोमल आसन अंगमर्दन, संभोग स्नान और अनुलेपनमें आसक्त हुआ मनुष्य स्त्रियोंके शरीरके आलिंगनसे पागल हुए मूर्ख हाथीके समान बन्धनको प्राप्त होता है।

---

१ मधुरर्षो मो—प । २ पानकादिकम्—च । ३ छागहरिण—प । ४ शूकराद—च । ५ [illegible] आ । ६ [illegible] आ । ७ स्नानानु—प म । ८ मृदुमाला शय्या मु० [illegible] म [illegible] । ९ [illegible] मु० आ [illegible] । १० —स्त्रियाः—मु० ११ [illegible] म आ ।

भावार्थ—हाथीको पकड़नेके लिए अनेक हथिनियाँ छोड़ी जाती हैं। वे उसे अपनी सूँडोंसे छूती हैं, फूलों और पत्तोंसे भरी टहनियोंको सूँड़में दबाकर उसके ऊपर डोरती हैं। उनके स्पर्शसे मोहित हुआ हाथी किसी हथिनीको स्पर्श करता है, किसीको दाँतोंसे धक्का देता है। किसीको आगे करता है, किसीको पीछे करता है, और किसीको अपनी बगलमें करता है। इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए उस हाथीको वे हथिनियाँ हाथी पकड़नेके स्थानपर ले जाती हैं, वहाँ उसके पकड़ जानेपर हाथीवान् उसपर सवार हो जाता है और उसके मस्तकमें अङ्कुश गड़ा गड़ाकर उसे वशमें कर लेता है। इसी प्रकार स्पर्श इन्द्रियके वशमें पड़कर मनुष्यको भी बहुत दुःख सहना पड़ता है।

[1] इत्यमेकेन्द्रियविषयदुःखानामपायद्वारमात्रमुक्तम् इति उपसंहरति—

इस प्रकार एक एक इन्द्रियके विषयोंमें आसक्त हुए जीवोंके दुःखोंका संकेतमात्र करके उसका उपसंहार करते हैं—

एवमनेके दोषाः प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम् ।
दुर्नियमितेन्द्रियाणां भवन्ति बाधाकरा बहुशः ॥ ४६ ॥

टीका—एवम्-उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्य एकैको दोषः प्रदर्शितः। तद्द्वारेण च परलोकेऽप्यनिवृत्तविषयसङ्गानां बहवो दोषा नारकतिर्यग्योनिभवादिषु भवन्ति। केषामेते दोषाः ? प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम्। शिष्टा विवेकिनः परलोकपथप्ररूपणानुष्ठाननिपुणाः, तेषामिष्टा दृष्टिचेष्टा। दृष्टिः सन्मार्गोपदेशि ज्ञानम्। चेष्टा क्रियानुष्ठानम्। उभयावेते शिष्टेष्टदृष्टिचेष्टे प्रणष्टे येषां ते प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टाः, तेषाम्। दुर्नियमितेन्द्रियाणाम्—दोषेषु न नियमं ग्राहितानि इन्द्रियाणि यैः—लोभादिविषयव्यसनानि दोषाः-तेषां दुर्नियमितेन्द्रियाणाम्। बाधाकराः पीडाकराः शारीरमानसबाधकारिणोऽनेकशः संसारोदधौ परिवर्तमानस्ता[2]मिति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिनके शिष्ट जनोंके योग्य ज्ञान और चारित्र नहीं हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ भी वशमें नहीं हैं, उनमें इस प्रकारके पीड़ा पहुँचानेवाले प्रायः अनेक व्यसन पाये जाते हैं।

भावार्थ—इस प्रकार उक्त रीतिसे इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त करनेकी एक एक बुराई बतलाई है, जो प्रत्यक्षगोचर है। जो समझदार मनुष्य परलोकके उपयोगी मार्गका कथन और आचरण करनेमें निपुण होते हैं उन्हें शिष्ट कहते हैं। उन्हें सन्मार्गका उपदेश करना और स्वयं उसका आचरण करना प्रिय होता है। जो ऐसे नहीं हैं और विषयोंके संगसे विरत नहीं हुए हैं, उन्हें उनके कारण नरक, तिर्यञ्च आदि योनियोंमें अनेक शारीरिक और मानसिक पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं।

अपि चैते कुरङ्गादयो विनाशमाजः सहैता एकैकविषयासक्ताः। यः पुनः पञ्चस्वपि इन्द्रियार्थेषु सक्तः स किल प्राप्नोति तदेव चिन्त्यम् इति उपसंहरन्नाह—

---

[1] इत्यमेकेन्द्रिय—मु । [2] तम्यामता मु ।

तथा ये हिरन वगैरह एक एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त होकर विनाशको प्राप्त होते हैं, किन्तु जो पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होकर भी जीता है, उसका जीना आश्चर्यकी ही बात है। उपसंहार करते हुए इसी बातको कहते हैं—

एकैकविषयसंगाद् रागद्वेषातुरा विनाशमिताः।
किं पुनरनियतात्मा जीवः पञ्चेन्द्रियवशार्तः ॥ ४७ ॥

टीका—शब्दाद्येकैकविषयसंगात् रागद्वेषवशागतत्वान्मृत्युपाशे कुरङ्गादयो विनाशं गताः। मान्धामिसूतापथ्यासेव्यातुरवत्। किं पुनरनियतात्मा? इति। नात्मा नियमं प्रापितः—न निवारितः शब्दादिविषयेषु प्रीतिमनुभवन् पञ्चानामिन्द्रियाणां वशवर्ती। अत एव आर्तः—अप्राप्तान् विषयानभिलषन् प्राप्तांश्चावियोगतश्चिन्तयति ॥ ४७ ॥

अर्थ—जब राग और द्वेषसे पीड़ित वे हिरन वगैरह एक एक विषयके सम्बन्धसे विनाशको प्राप्त हुए तब पाँचों इन्द्रियोंकी पराधीनतासे पीड़ित असंयमी जीवका कहना ही क्या है?

भावार्थ—मन्दाग्निसे पीड़ित अपथ्यसेवी बीमारकी तरह, राग और द्वेषसे पीड़ित उक्त हिरन वगैरह जन्तु शब्दादिक एक एक विषयके संसर्गसे मृत्युके मुखमें चले जाते हैं, तब जो शब्दादिक विषयोंमें प्रीति करनेसे अपनी आत्माको नहीं रोकता है तथा पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-तृष्णासे पीड़ित होकर अप्राप्त विषयोंकी इच्छा करता है, और प्राप्त विषयोंके वियोग न होनेकी चिन्ता करता है, उसका तो कहना ही क्या है!

न च कश्चिच्छब्दादिर्विषये समस्ति योऽभ्यस्यमानः सर्वथा तृप्तिं करिष्यति इत्येतद् भवर्णयन्नाह—

अब यह बतलाते हैं कि ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसके बार-बार सेवन करनेसे सर्वथा तृप्ति होती हो—

न हि सोऽस्तीन्द्रियविषयो येनाभ्यस्तेन नित्यतृषितानि।
तृप्तिं प्राप्नुयुरक्षाण्यनेकमार्गप्रलीनानि ॥ ४८ ॥

टीका—नैवास्ति इन्द्रियविषयः स शब्दादिः येनाभ्यस्तेन-पुनः पुनरासेव्यमानेन नित्यतृषितानि-नित्यमेव साभिलाषाणि सपिपासानि तृप्तिं प्राप्नुयुः अक्षाणि-इन्द्रियाणि, अनेकस्मिन् मार्गे शब्दाद्यनेकभेदे प्रकर्षेण लीनानि तन्मयतां गतानि तदासक्तानि पुनः पुनराकाङ्क्षन्त्येव स्वविषयान् ॥ ४८ ॥

अर्थ—इन्द्रियका ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसके बार-बार सेवन करनेसे सर्वदाकी प्यासी और अनेक विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंकी तृप्ति हो सकती हो।

१ विषयेषु समस्तेषु आस—ब आ। २ नित्यं तृ—ब आ।

प्रयोजन होता है, उसके अनुसार उस विषयमें लोग इष्ट अथवा अनिष्टकी कल्पना कर लेते हैं।

अन्येषा यो विषय स्वाभिप्रायेण भवति पुष्टिकर ।
स्वमतिविकल्पाभिरतास्तमेव भूयो द्विषन्त्यन्ये ॥ ५१ ॥

टीका—विवक्षितपुरुषादन्ये तेषां यो विषय शब्दादिः स्वाभिप्रायेण उत्कट रागाणां स्वमनःपरिणामवशात् परितोषमाधत्ते । अपरे तु स्वमतिविकल्पाभिरताः प्रबल द्वेषवशात् स्वमनोविकल्पशिल्पघटनया तमेव विषयं पुनरपि तथा द्विषन्ति ॥ ५१ ॥

अर्थ—किन्हींको अपने अभिप्रायके अनुसार जो विषय अच्छा लगता है, उसी विषयसे दूसरे लोग अपने अभिप्रायके अनुसार द्वेष करते हैं।

भावार्थ—संसारमें ऐसा नहीं है कि जो विषय एक मनुष्यको अच्छा लगता है, दूसरेको भी वह अच्छा लगना चाहिए और जो एकको बुरा लगता है, दूसरेको भी वह बुरा लगना चाहिए, वास्तवमें विषयकी अच्छाई-बुराई मनुष्यके प्रयोजनके ऊपर निर्भर है। यदि मनुष्यका किसी पदार्थसे कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है तो वह उस पदार्थसे राग करता है, और दूसरेका यदि उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता है तो वही पदार्थ उसे अरुचिकर हो जाता है।

एवमनवस्थितप्रेमाणो विषयाः परमार्थतो न वाऽप्रियाः इति दर्शयन्नाह—

इस प्रकार अस्थिर प्रेमवाले विषय वास्तवमें न इष्ट होते हैं और न अनिष्ट, यह बतलाते हैं—

तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य ।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा ॥ ५२ ॥

टीका—तानेव शब्दान् सर्वार्थान् द्विषतो विषयभुजस्तानेव च द्वेष्यान्पुनः प्रलीयमानस्य तन्मयतां गच्छतः समुपजातरागस्य निश्चयतः—परमार्थतो नैकान्तेनैवास्य संभवति किञ्चिदिष्टमनिष्टं वा ॥ ५२ ॥

अर्थ—यह जीव उन्हीं विषयोंसे द्वेष करता है और उन्हीं विषयोंसे राग करता है। अतः निश्चयसे इसका न कोई इष्ट है और न कोई अनिष्ट है।

भावार्थ—मनुष्य जिन विषयोंसे राग करता है, उन्हींसे द्वेष भी करता है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये विषय इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं हैं। मनुष्य ही अपनी रागद्वेषमयी परणतिके कारण अपने प्रयोजनके अनुसार उनमें इष्ट अथवा अनिष्ट बुद्धि रखते हैं। यदि यह विषय ही इष्ट अथवा अनिष्ट होते तो जो विषय एक मनुष्यको इष्ट होता, वह सभीको इष्ट ही होना चाहिए और जो एकको

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषः यथा रजःकणाः श्लिष्यन्ति गात्रमुपलक्षणम्, तथा रागद्वेषपरिणामस्यात्मनः ज्ञानावरणादिवर्गणायोग्याः कर्मपुद्गलाः प्रदेशेषु आत्मनः समागच्छन्त्येव ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर तेलकी मालिश की गई है, उसके शरीरपर धूलिके कण आकर चिपट जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेषसे भीगी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है।

भावार्थ—आत्माके रागद्वेषरूप परिणामोंसे कर्म बंधते हैं, यह पहले बतला आये हैं। और बंधे हुए कर्म औदयिक राग और द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर आत्मासे उसी तरह चिपट जाते हैं, जैसे हवासे उड़कर आनेवाले धूल-कण चिकनाईका निमित्त पाकर शरीरसे चिपट जाते हैं।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेव उपसंहरन्नाह—

अब राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके सभी कारणोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एतौ रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तलक्षणौ रागद्वेषौ। मोहः—मोहनीयम्। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम्। अविरतिः—अनिवृत्तिः कषायसम्बन्धः। एभिः रागादिभिर्विकथादिप्रमादपञ्चकसहितैर्मनोवाक्काययोगानुगतैः कर्म आदीयते—गृह्यते स्वप्रदेशैः आत्मना बिध्यते इत्यर्थः। तस्य कर्मबन्धस्यापि रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मणोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित राग द्वेष मोह मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मोंको ग्रहण करता है।

भावार्थ—राग द्वेषादिका स्वरूप पहले कह आये हैं। विकथादि पाँच प्रमादों और मनोयोग तथा वचनयोगसे सहित रागादिकके द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है। रागादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। रागादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे रागादिक परिणाम होते हैं।

अतः—

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसंततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं तिर्यक्त्वं मनुष्यत्वं देवत्वम्। नारकादिरूपसंसारकारणं दुःखं शारीरं मानसं वा। न हि अनारको नरके दुःखमनुभवति एवमितरत्रापि। तस्मात् रागद्वेषादयः पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिभवस्ततो भवपरम्परायाः मूलं बीजं प्रतिष्ठेति ॥ ५७ ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषो यथा रजःकणाः श्लिष्यन्ति नातिसूक्ष्मस्थूलाः, तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहाक्तस्य ज्ञानावरणादिवर्गणायोग्याः कर्मपुद्गलाः प्रदेशेषु आत्मनो लगन्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर तेलकी मालिश की गई है, उसके शरीरपर धूलिके कण आकर चिपट जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेषसे भीगी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है।

भावार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म आते हैं, यह पहले बतला आये हैं। और आये हुए कर्म जीवके राग और द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर आत्मासे उसी तरह चिपट जाते हैं, जैसे हवासे उड़कर आनेवाले धूल-कण चिकनाईका निमित्त पाकर शरीरसे चिपट जाते हैं।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेव उपसंहरन्नाह—

अब राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके सभी कारणोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एवं रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तलक्षणौ रागद्वेषौ। मोहः—मोहनीयम्। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम्। अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्माश्रवेभ्यः। एभिः रागादिभिर्विकथादिप्रमादपञ्चकसहितैर्मनोवाक्काययोगानुगतैः कर्म आदीयते—गृह्यते, स्वप्रदेशेषु आत्मना निचीयते इत्यर्थः। ततश्च परस्परसम्बन्धेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मणोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित राग द्वेष मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मोंको ग्रहण करता है।

भावार्थ—राग वगैरहका स्वरूप पहले कह आये हैं। विकथादि पाँच प्रमादों और मनोयोग तथा काययोगसे सहित रागादिकके द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है। रागादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। रागादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे रागादिक परिणाम होते हैं।

अतः—

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसंततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं तिर्यक्त्वं मनुष्यत्वं देवत्वम्। नारकादिरूपसंसारकारणं दुःखं शारीरं मानसं वा। न हि अनारको नरके दुःखमनुभवति एवमितरत्रापि। तस्मात् रागद्वेषादयः पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिभवसन्ततेः भवपरम्परायाः मूलं बीजं भवन्तीति ॥ ५७ ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषो यथा रजःकणाः श्लिष्यन्ति नातिसूक्ष्मस्थूलाः तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहाक्लिन्नस्य ज्ञानावरणादिवर्गणायोग्याः कर्मपुद्गलाः प्रदेशेषु आत्मनो लगन्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर तेलकी मालिश की गई है, उसके शरीरपर धूलिके कण आकर चिपट जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेषसे भीगी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है।

भावार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म आते हैं, यह पहले बतला आये हैं। और आये हुए कर्म जीवके राग और द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर आत्मासे उसी तरह चिपट जाते हैं, जैसे हवासे उड़कर आनेवाले धूल-कण चिकनाईका निमित्त पाकर शरीरसे चिपट जाते हैं।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेव उपसंहरन्नाह—

अब राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके सभी कारणोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एवं रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तलक्षणौ रागद्वेषौ। मोह—मोहनीयम्। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम्। अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्माश्रवेभ्यः। एभिः रागादिभिर्विकथादिप्रमादपञ्चकसहितमनोवाक्कायोगानुगतैः कर्म आदीयते—गृह्यते स्वप्रदेशेषु आत्मना निबध्यते इत्यर्थः। ततश्च प्रदीपन्यायेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मणोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित राग द्वेष मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मोंको ग्रहण करता है।

भावार्थ—राग वगैरहका लक्षण पहले कह आये हैं। विकथादि पाँच प्रमादों और मनोयोग तथा काययोगसे सहित रागादिकके द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है। रागादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। रागादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे रागादिक परिणाम होते हैं।

अतः—

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसन्ततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं तिर्यक्त्वं मनुष्यत्वं देवत्वम्। नारकादिरूपसंसारकारणं दुःखं शारीरं मानसं वा। न हि अनारको नरके दुःखमनुभवति एवमितरमपि। तस्मात् रागद्वेषादयः पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिभवसन्ततेः भवपरम्परायाः मूलं बीजं प्रतिष्ठेति ॥ ५७ ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषो यथा रजःकणाः श्लिष्यन्ति नातिसूक्ष्मस्थूलाः, तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहाक्तस्य ज्ञानावरणादिवर्गणायोग्याः कर्मपुद्गलाः प्रदेशेषु आत्मनो लगन्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर तेलकी मालिश की गई है, उसके शरीरपर धूलिके कण आकर चिपट जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेषसे भीगी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है।

भावार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म आते हैं, यह पहले बतला आये हैं। और आये हुए कर्म जीवके राग और द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर आत्मासे उसी तरह चिपट जाते हैं, जैसे हवासे उड़कर आनेवाले धूल-कण चिकनाईका निमित्त पाकर शरीरसे चिपट जाते हैं।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेव उपसंहरन्नाह—

अब राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके सभी कारणोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एवं रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तस्वरूपौ रागद्वेषौ। मोहः—मोहनीयम्। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम्। अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्माश्रवेभ्यः। एभिः रागादिभिर्विकथादिप्रमादपञ्चकसहितैर्मनोवाक्कायप्रयोगानुगतैः कर्म आदीयते—गृह्यते, स्वप्रदेशेषु आत्मना विधीयते इत्यर्थः। ततश्च घटीयन्त्रन्यायेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मणोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मोंको ग्रहण करता है।

भावार्थ—राग आदिका कथन पहले कर आये हैं। विकथादि पाँच प्रमादों और मनोयोग तथा काययोगसे सहित रागादिकके द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है। रागादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। रागादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे रागादिक परिणाम होते हैं।

अतः—

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसन्ततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं तिर्यक्त्वं मनुष्यत्वं देवत्वम्। नारकादिरूपसंसारकारणं दुःखं शारीरं मानसं वा। न हि अनारको नरके दुःखमनुभवति पञ्चविधमपि। तस्मात् रागद्वेषादयः पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिभवसन्ततेः भवपरम्परायाः मूलं बीजं भवन्तीति ॥ ५७ ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषो यथा रजःकणाः श्लिष्यन्ति नातिसूक्ष्मस्थूलाः, तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहार्द्रस्य ज्ञानावरणादिवर्गणायोग्याः कर्मपुद्गलाः प्रदेशेषु आत्मनो लगन्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर तेलकी मालिश की गई है, उसके शरीरपर धूलिके कण आकर चिपट जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेषसे भीगी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है।

भावार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म आते हैं यह पहले बतला आये हैं। और आये हुए कर्म जीवके राग और द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर आत्मासे उसी तरह चिपट जाते हैं, जैसे हवासे उड़कर आनेवाले धूल-कण चिकनाईका निमित्त पाकर शरीरसे चिपट जाते हैं।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेव उपसंहरन्नाह—

अब राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके सभी कारणोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एवं रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तलक्षणौ रागद्वेषौ। मोहः—मोहनीयम्। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम्। अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्माश्रवेभ्यः। एभिः रागादिभिर्विकथादिप्रमादपञ्चकसहितैर्मनोवाक्काययोगानुगतैः कर्म आदीयते—गृह्यते स्वप्रदेशेषु आत्मना विधीयते इत्यर्थः। ततश्च कर्मसम्बन्धभावेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मणोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मोंका ग्रहण करता है।

भावार्थ—राग द्वेषका लक्षण पहले कह आये हैं। विकथादि पाँच प्रमादों और मनोयोग तथा काययोगसे सहित रागादिकके द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है। रागादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। रागादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे रागादिक परिणाम होते हैं।

अतः—

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसन्ततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं तिर्यक्त्वं मनुष्यत्वं देवत्वम्। नारकादिरूपसंसारकारणं दुःखं शारीरं मानसं वा। न हि अनारको नरके दुःखमनुभवति एवमितरत्रापि। तस्माद् रागद्वेषादयः पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिभवसन्ततेः भवपरम्परायाः मूलं बीजं प्रतिष्ठेति ॥ ५७ ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषो यथा रजःकणाः श्लिष्यन्ति नातिसूक्ष्मस्थूलाः तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहार्द्रस्य ज्ञानावरणादिविवर्गणायोग्याः कर्मपुद्गलाः प्रदेशेषु आत्मनो लगन्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर तेलकी मालिश की गई है, उसके शरीरपर धूलिके कण आकर चिपट जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेषसे भीगी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है ।

भावार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म आते हैं, यह पहले बतला आये हैं । और आते हुए कर्म जीवके राग और द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर आत्मासे उसी तरह चिपट जाते हैं, जैसे इधरसे उधर जानेवाले धूल-कण चिकनाईका निमित्त पाकर शरीरसे चिपट जाते हैं ।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेव उपसंहरन्नाह—

अब राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके सभी कारणोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एवं रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तलक्षणौ रागद्वेषौ । मोहः—मोहनीयम् । मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम् । अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्माश्रवेभ्यः । एभिः रागादिभिर्विकथादिप्रमादपञ्चकसहितैर्मनोवाक्काययोगानुगतैः कर्म आदीयते—गृह्यते, स्वप्रदेशेषु आत्मना विधीयते इत्यर्थः । तत्र बीजाङ्कुरन्यायेन रागादीनां कर्मबन्धोऽनन्तं कर्मणोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित राग द्वेष मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मोंको ग्रहण करता है ।

भावार्थ—राग वगैरहका लक्षण पहले कह आये हैं । विकथादि पाँच प्रमादों और मनोयोग तथा काययोगसे सहित रागादिकके द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है । रागादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है । रागादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे रागादिक परिणाम होते हैं ।

अतः—

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसन्ततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मनिष्पन्नो नारकत्वं तिर्यक्त्वं मनुष्यत्वं देवत्वम् । नारकादिरूपसंसारकारणं दुःखं शारीरं मानसं वा । न हि अनारको नरके दुःखमनुभवति एवमितरमपि । तस्मात् रागद्वेषादयः प्रथकर्मबन्धोत्पत्तौ नारकादिभवसन्ततेः भवपरम्परायाः मूलं बीजं प्रतिपत्तिः ॥ ५७ ॥

अर्थ—यह संसार कर्ममय है और संसारके निमित्तसे दुःख होता है। इसलिए राग-द्वेष वगैरह संसारकी परम्पराके मूल हैं।

भावार्थ—यह संसार चार गतिरूप है और चारों गतियाँ कर्मोंके उदयसे ही होती हैं। गतियोंमें जानेसे शारीरिक और मानसिक दुःख होता है। उससे राग-द्वेष होते हैं। राग-द्वेष आदिसे पुनः गति होती है। गतिमें सुख-दुःख होता है, उससे राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष वगैरह संसारकी जड़ हैं।

'कः पुनरस्य रागद्वेषादिजनितस्य संसारचक्रस्य भङ्गोपायः ?' इत्याह—

अब राग-द्वेषसे उत्पन्न हुए संसार-चक्रके तोड़नेका उपाय बतलाते हैं :—

एतद्दोषमहासञ्चयजालं शक्यमप्रमत्तेन ।
प्रशमस्थितेन घनमप्युद्वेष्टयितुं निरवशेषम् ॥ ५८ ॥

टीका—दोषाणां रागद्वेषादीनां तज्जनितकर्मणाञ्च महासञ्चयः—उपचयः। दोषमहासञ्चय एव जालम्। जालमिव जालम्। यथा मीनमकरादीनामाक्षेपकं जालं जीवितापहारि, तद्वदेतदपि जन्मान्तरेषु सत्त्वानामनेकदुःखसंकटावतारणे प्रत्यलं जीवितापहारि चेति। तदेतच्छक्यमप्रमत्तेन उद्वेष्टयितुं-विनाशयितुम्। प्रमादाः कषायनिद्रादयः, तद्रहितेन प्रशमस्थितेनेति, प्रशमार्पितमनसा प्रशमैकरसेन घनं गहनम्, एतत् जालं निरवशेषम् आमूलादुद्वेष्टयितुमिति ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो अप्रमादी है और वैराग्यमें स्थित है, वह इस रागादि दोषोंके महान् सञ्चयरूप घने जालको पूरी तरहसे नष्ट करनेमें समर्थ है।

भावार्थ—जिस प्रकार मगर मच्छको पकड़नेके लिए बनाया हुआ जाल जीव-घातक होता है, वैसे ही राग-द्वेष वगैरह तथा उनसे सञ्चित कर्मोंका यह जाल भी जन्मान्तरोंमें प्राणियोंको अनेक दुःखपूर्ण सङ्कटोंमें डालनेवाला है। जो कषाय-निद्रा वगैरह प्रमादोंसे रहित है तथा जिसका मन वैराग्यके रसमें डूबा हुआ है, वही इस घने कर्म-जालको छिन्न-भिन्न कर सकता है।

अस्य तु मूलनिबन्धं ज्ञात्वा तच्छेदनोद्यमपरस्य ।
दर्शनचारित्रतपःस्वाध्यायध्यानयुक्तस्य ॥ ५९ ॥
प्राणवधानृतभाषणपरधनमैथुनममत्वविरतस्य ।
नवकोट्युद्गमशुद्धोञ्छमात्रयात्राधिकारस्य ॥ ६० ॥
जिनभाषितार्थसद्भावभाविनो विदितलोकतत्त्वस्य ।
अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारणे कृतप्रतिज्ञस्य ॥ ६१ ॥

परिणाममपूर्वमुपागतस्य शुभभावनाध्यवसितस्य ।
अन्योऽन्यमुत्तरोत्तरविशेषमभिपश्यत समये ॥ ६२ ॥
वैराग्यमार्गसंस्थितस्य संसारवासचकितस्य ।
स्वहितार्थाभिरतमते शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता ॥ ६३ ॥

टीका—पञ्चभिः कारिकाभिः कुलकम् । यस्य महाव्रतोपसम्पदनन्तरं मूलगुणमन्वं मार्गं कारणं विज्ञाय । तच्छेदने उद्यमः—उत्साहः परो यस्य मर्यादामहाशालं छेत्तव्यम् । दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणम् । चारित्रं सामायिकादि । तपो द्वादशभेदमनशनादि । स्वाध्यायः पञ्चप्रकारो वाचनाप्रच्छनादि । ध्यानमेकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणं यस्य शुद्धं च । धर्मादनपेतं धर्म्यम् आज्ञापायविपाकसंस्थानविषयभेदाच्चतुर्विधम् । शुक्लमप्यस्त्यन्तविशुद्धाध्यवसायरूपं पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियालक्षणं चतुर्धा । एभिः सम्यग्दर्शनादिपरिणामैर्युक्तस्य ॥ ५९ ॥ तथा—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं प्राणवधः । अनृतभाषणं सद्भूतनिह्नवः 'नास्त्यात्मा' इति । असद्भूतोद्भावनं 'सर्वगत आत्मा' इति विपरीतकटुकसावद्यादिवचनं च । मामर्थं भाषमाणस्य विपरीतम् । कटुकं परुषमाक्रोशादि । सावद्यवचनम् 'अनेन मार्गेण मृगयूथमपूर्वं गतम्' इति लुब्धकमाचष्टे । चौर्यबुद्ध्या परस्वमात्मसात्करोति परधनहरणम् । मैथुनं द्वयोर्योगः सचित्तयोः सचित्ताचित्तयोर्वा । मिथुनस्य भावो मैथुनं स्त्रीपुंनपुंसकवेदोदयादासेवनम् । ममत्वलक्षणः परिग्रहः 'ममेदं स्वम्' 'अहमस्य स्वामी' इति । 'मूर्च्छा परिग्रहः' (तत्त्वार्थसूत्र १२ सू. अ. ७) इति वचनात् । एभ्यः प्राणिवधादिभ्यो विरतस्य । निशिभोजनं तु परिग्रहलक्षणे मात्सर्यलक्षणेनान्वभावितम् । एवं मूलगुणानभिधाय उत्तरगुणानभिधित्सुराह—

कोटिः—अंशम् यथा षट्कोटिस्तम्भः पञ्चभिः पर्वभिः इत्यर्थः । न स्वयं हन्ति, नान्येन घातयति, घ्नन्तमन्यं नानुमोदते, एतास्तिस्रः कोटयः । तथा न स्वयं पचति न पाचयति, पच्यमानं नानुमोदते, इत्येता अपि तिस्रः कोटयः । तथा न स्वयं क्रीणाति न क्रापयति, क्रीणानमन्यमपि नानुमोदते इत्येताश्चान्यास्तिस्रः । एकत्र समाहृता नव कोटयः पुनरिमा द्विधा भिद्यन्ते—अविशुद्धकोटयो विशुद्धकोटयश्च । आद्याः षडविशुद्धकोटयः पाश्चात्त्यास्तिस्रो भवन्ति विशुद्धकोटयः । उद्गमः—अन्वेषणम् यथा उद्गमे सेव पुच्छिया इत्यादि । तेन शुद्धमुद्गमशुद्धम् । उञ्छमिव उञ्छम् एकैकद्वारपतितभिक्षाग्रहणमुञ्छं न कस्यचित् क्वचित्काले पीडाकारि । तथा मधुकराकारितासंकल्पितानुमतमनिसृष्टं कल्पनीयमार्गमाणं

१—स्व पृथक्त्वैकत्ववितर्कं सविचारसूक्ष्म-प० ।—एकत्वपृथक्त्ववितर्कसविचारं सूक्ष्म—क च । २ धर्म्यमर्थिनम्—मु । ३ धनि—मु । ४ अविशुद्धकोटिः—मु । ५ विशुद्धकोटिश्च—मु । ६ षडविशुद्धकोटिः—मु । ७ विशुद्धकोटिः—मु । ८ सिद्धां—मु ।

न कंचन सत्त्वमपघ्नन्ति । उञ्छमेव उञ्छमात्रम् तेन तादृशा यात्रायामधिकारो यस्य स उञ्छमात्रयात्राधिकारः । यात्रा तु अहोरात्राभ्यन्तरे विहितक्रियानुष्ठानम्, तत्राधिकृतस्य नियुक्तस्य ' इत्यर्थः ॥ ६० ॥

जिनैर्भाषितोऽयं उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तो जीवादिः सप्तविधः । स गणधरैः सूत्रेण सूचितः । तस्यार्थसद्भावं भावयति तच्छीलस्य । एवमेतत्- यथा भगवद्भिरुक्तं गणधरैश्च तथैवायम्, नान्यथा इति जिनभाषितार्थसद्भावभाविनः । विदितम्-अवगतं लोकतत्त्वं येनासौ विदितलोकतत्त्वः । जीवाजीवाधारक्षेत्रं लोकः, तस्य तत्त्वं परमार्थः—नास्त्यसौ वालाग्रप्रमाणोऽपि प्रदेशो यत्र अनन्तशः स्थावरत्वेन त्रसत्वेन वा नोत्पन्नो मृतो वा यथासम्भवम् । अथवा अधोमुखमल्लकाकृतिः, मध्ये स्थालाकारः उपरि मल्लकसम्पुटाकारो नारकतिर्यग्मानुषदेवाधिवासो जन्मजरामरणोपद्रवयुक्तः । अष्टादशाङ्गशीलाङ्गसहस्रधारणे कृतप्रतिज्ञस्य-अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि उपरि वक्ष्यमाणानि धर्मात्क्षान्त्यादीन्द्रिय इत्यस्यां कारिकायाम् । अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि धारयितव्यानि यावज्जीवं मया इति कृतप्रतिज्ञस्य ॥ ६१ ॥

विशुद्धिप्रकर्षयोगादपूर्वः परिणाम उच्यते मनसः, तमनुप्राप्तस्य । शुभभावनाध्यवसितस्य । अध्यवसितमध्यवसायः । शुभभावना-पञ्चानां महाव्रतानां पञ्चविंशतिभावनाः परिपठिताः, अनित्यत्वादिका वा वक्ष्यमाणा द्वादश भावनाः, तदध्यवसायस्य । समये-सिद्धान्ते । अन्योन्यम्-परस्परम् । 'द्वयोर्विशेषयोरयमुत्तरः प्रधानम् अमुष्मादप्ययं विशेषः प्रधानतरः ' इत्यादिविशेषमतिशयं पश्यतो भावनामयेन ज्ञानेनेति ॥ ६२ ॥

वैराग्यपथप्रस्थितस्य । सम्यग्दर्शनादिरेव वैराग्यमार्गः । संसारवासचकितस्य भीतस्य इत्यर्थः । स्वहितम्-ऐकान्तिकात्यन्तिकगुणयुक्तं मुक्तिसुखम्, तदेवार्थः । स्वहितार्थाभिमुख्येन रता बद्धा प्रीतिर्मतिर्यस्य तस्यैवम्प्रकारस्य शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता । इयम् इति वक्ष्यमाणा, निर्वाणहेतुत्वात् शुभा जायते चिन्ता । अथ कुलकपरिसमाप्तिः ॥ ६३ ॥

अर्थ—इस दोष-जालके मूल कारणको जानकर जो उसको छेदनेमें युक्त है, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, तप स्वाध्याय और ध्यानसे युक्त है, हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन और ममत्वसे विरक्त है, नवकोटि और उद्गमसे शुद्ध अल्प आहार मात्रसे अपना निर्वाह करता है, जिनभगवान्‌के द्वारा कहे गये जीवादि तत्त्वोंके अस्तित्वको मानता है, लोकके स्वरूपको जानता है, शीलके अट्ठारह हजार भेदोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा ले चुका है, अपूर्व परिणामवाला है, शुभ भावनाओंमें निश्चल है, आगमके विषय-में परस्परमें जो उत्तरोत्तर विशेषता है, उसे जानता है, वैराग्यके मार्गमें स्थित है, संसारके निवाससे भयभीत है, और अपने हित-मोक्षमें तल्लीन है, उसीको आगे कही गई शुभ चिन्ता उत्पन्न होती है ।

भावार्थ—पहली कारिकामें जो दोषोंका जाल बतलाया गया है, उसके मूल कारणको जानकर जो उसके छेदनेमें उत्साह करता है कि 'मुझे यह महाजाल छिन्न-भिन्न करना चाहिए' तथा जिसमें ऊपर कही अन्य बातें पाई जाती हैं, उसको ही आगे कही गई शुभ चिन्ता उत्पन्न होती है ।

---

१ तच्छीलस्य—मु । २ अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणः—मु । ३ प्रथम-मु० । ४ मनस-मु० । ५ अनित्यत्वादिका वक्ष्य-मु० ।

तत्त्वार्थका श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। सामायिक वगैरहको चारित्र कहते हैं। उसके अनशन वगैरह बारह भेद हैं। स्वाध्यायके वाचना पृच्छना वगैरह पाँच भेद हैं। किसी वस्तुमें मनके एकाग्र करनेको ध्यान कहते हैं। धर्म्य और शुक्ल शुभ ध्यान हैं। धर्मविषयक एकाग्र चिन्तनको धर्म्यध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। अनन्तविशुद्ध परिणामी जीवके शुक्लध्यान होता है। उसके चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

प्रमादके योगसे किसीके प्राण लेनेको हिंसा कहते हैं। असत्यवचन अनेक प्रकारका होता है—१ सत्को असत् कहना जैसे, आत्मा नहीं है। २ असत्को सत् कहना जैसे—आत्मा व्यापक है। ३ विपरीत वचन, जैसे, गायको घोड़ा कहना। ४ कड़ुवे वचन बोलना। ५ सावद्य वचन—इस मार्गमें हिरनोंका झुण्ड गया है, ऐसा शिकारीको बतला देना। हिंसाके कारण होनेसे कटुक सावद्य वचन भी असत्य ही कहे जाते हैं। जुआरीकी बुद्धिसे परके धनको हरना चोरी है। स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेदके उदयसे रमण करनेको मैथुन कहते हैं। 'यह मेरी वस्तु है,' 'मैं इसका स्वामी हूँ' इस तरह के ममत्वको परिग्रह कहते हैं; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें ममत्वको ही परिग्रह कहा है। परिग्रह अथवा चोरीके कथनमें रात्रिभोजनका अन्तर्भाव कर लिया गया है; क्योंकि रात्रिभोजन अति आसक्तिका सूचक है। इस प्रकार मूलगुणोंको कहकर उत्तरगुणोंको कहते हैं—

न स्वयं मारता है, न दूसरेसे मरवाता है और न दूसरेको मारता हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये तीन कोटियाँ हैं। तथा, न स्वयं पकाता है, न दूसरेसे पकवाता है और न किसीको पकाते हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये भी तीन कोटियाँ हैं। तथा न स्वयं खरीदता है, न दूसरेसे खरीदवाता है और न दूसरेको खरीदते हुए देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये भी तीन कोटियाँ हैं। इस प्रकार मिलकर ये नौ कोटियाँ होती हैं। ये दो प्रकारकी होती हैं—एक अविशुद्ध कोटि और दूसरी विशुद्ध कोटि। आदिकी छह कोटियाँ अविशुद्ध कोटियाँ हैं और अन्तकी तीन विशुद्ध कोटियाँ हैं।

आहारके खोजनेको उद्गम कहते हैं। जो आहार उससे शुद्ध होता है वह उद्गमशुद्ध है। कटे गये खेतमें पड़े हुए धान्यके कणोंके चुननेको उञ्छ कहते हैं। जिस प्रकार उञ्छ किसी किसान वगैरहको कष्टदायक नहीं होता, वैसे ही जो आहार न स्वयं बनाया गया है, न गृहीताके उद्देश्यसे बनाया गया है और न उसकी उसमें अनुमति ही है, उस आहारको लेनेसे किसी प्राणीके प्राणका भय नहीं रहता। इस प्रकारके आहारसे जीवन-यात्रा करनेमें जिसका अभिप्राय है, अर्थात् जिनभगवान्ने उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त जीवादि सात पदार्थोंका कथन किया है। और गणधरदेवने उन पदार्थोंको द्वादशांगरूपमें संकलित किया है। जैसा भगवान्ने कहा है और गणधरोंने अवधारण किया है— जीवादि सात तत्त्व वैसे ही हैं, अन्यथा नहीं हैं' इस प्रकारसे जो उनका श्रद्धान करता है।

जहाँपर जीव और अजीव द्रव्य रहते हैं, उसे लोक कहते हैं। उसके तलको अर्थात् इस लोकमें बालकी नोकके बराबर भी ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ त्रस और स्थावररूपसे यह जीव

उत्पन्न हुआ और मरा न हो। अथवा नीचा मुख किये हुए मल्लकके आकार अधोलोक है। थालीके आकार मध्यलोक है। ऊपर मुख किये हुए मल्लकके आकार ऊर्ध्वलोक है। इस लोकमें नारक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव बसते हैं, तथा जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि उपद्रवोंसे यह व्याप्त है। लोकके इस तत्त्वको जो जानता है। शीलके अठारह हजार भेदोंको आगे कहेंगे। जिसने उनके पालन करनेकी प्रतिज्ञा की है। शुद्धिका प्रकर्ष होनेसे जिसके परिणाम अपूर्व हैं। पाँच महाव्रतोंकी पचीस भावनाएँ बतलाई गई हैं। अथवा आगे अनित्यत्व आदि बारह भावनाओंका कथन करेंगे। उन भावनाओंका जो चिन्तन करता रहता है। तथा आगममें वर्णित अमुक बात प्रधान है और अमुक बात उससे भी प्रधान है, इत्यादि विशेषको जो जानता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप वैराग्यके मार्गमें स्थित है। संसारसे उद्वेग करता है। अपने हित—मोक्ष-सुखमें ही जो मुख्यतासे प्रीति करता है, उसके ही आगे कही जानेवाली शुभ चिन्ता होती है। निर्जराका कारण होनेसे इस चिन्ताको शुभ कहा है।

तामेव चिन्तां स्पष्टयन्नाह—

उसी चिन्ताको स्पष्ट करते हैं —

भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे।
न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥ ६४ ॥

टीका—कोटिशब्दः संख्यावाची। स च अनन्तसंख्यायाः सूचकः। भवा नारकतिर्यग्देवाख्याः, तेषां कोटीभिः कोटिभिः अनन्ताभिरतीताभिरपि न सुलभं दुर्लभमेव, मनुष्यस्य भावो मानुष्यम्, मनुष्यजन्म इत्यर्थः। तदेवंविधमतिदुर्लभं प्राप्य कोऽयं मम प्रमादोऽनुष्ठानस्यैव मेऽननुष्ठानम्। प्रमादो ज्ञानादिषु मुक्तिसाधनेषु। कदाचिदेवमाशङ्केत मम मनुष्यत्वमेवास्तु सर्वदा सुन्दरमक्षीणम् इति। तच्च न, यतः न च गतमायु इत्यादि। प्रतिक्षणमुदयप्राप्तं वेद्यमानमनुभूयते, मनुष्यायुः परिगलति। न च क्षीणं पुनरावर्तते सौधर्माधिपतेरपि शक्रस्य न प्रत्यागच्छति किं पुनर्नरस्येति ॥ ६४ ॥

अर्थ—करोड़ों भवोंमें दुर्लभ मनुष्य पर्यायको प्राप्त करके मुझे यह प्रमाद क्यों ? देवराज इन्द्र की भी बीती हुई आयु पुनः लौटकर नहीं आती।

भावार्थ—यहाँ कोटि शब्द संख्याका वाचक है। और वह अनन्तका सूचक है। अर्थात् अनन्त भव बीतनेपर भी मनुष्यका भव मिलना बड़ा ही दुर्लभ है। इस प्रकारके दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर मोक्षके साधन ज्ञान वगैरहमें मुझे प्रमाद नहीं करना चाहिए। शायद कोई यह सोचे कि मनुष्य-पर्याय सर्वदा बनी रहेगी किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रतिसमय उदयमें आनेवाली आयु अपना फल देकर क्षीण होती जाती है, और क्षीण हुई आयु तो सौधर्मस्वर्गके इन्द्रकी भी लौटकर नहीं आती—मनुष्य की तो बात ही क्या है !

---

१ कोटिशब्दः मु०। २ नारकति—मु०। ३—मनुष्ठानम् मु०। ४ वेद्यमानमनुभवनात् परिगलति मु०।

न च नित्यं मनुष्यजन्म यस्मात्—
और मनुष्य-जन्म नित्य भी नहीं है; क्योंकि—

आरोग्यायुर्बलसमुदयाश्चला वीर्यमनियत धर्मे ।
तल्लब्ध्वा हितकार्ये मयोद्यम सर्वथा कार्य ॥ ६५ ॥

टीका—नीरुक्त्वमारोग्यम् तच्चलम् अनित्यम् इत्यर्थः। नीरुजोऽपि रोगान् लभन्ते सनत्कुमारादिवत्। आयुरपि सोपक्रमं विषोपघातादि प्रभृति गर्भकौमारयौवनस्थविरावस्थासु प्रतिसमयं क्षयमुपैति अध्यवसानादिभिश्च प्रकारैः सप्तभिर्भेदमुपैति । बलं प्राणः । उत्साहो वीर्यान्तरायक्षयोपशमजः सामर्थ्यविशेषः । स च बलवतो दृष्टः पुनस्तस्यैव दुर्बलावस्थायां न सम्भवतीति अनित्य एव। समुदया इति धनधान्यादिनिचयाः क्षणभङ्गुराः। वीर्यं च उत्साहः परीषहजयादौ तदनियतं विनश्वरम् । धर्मे क्षान्त्यादिके तल्लब्ध्वा—प्राप्य हितकार्ये—हिते ज्ञानादौ, तदेव कार्यम्, तेन । मया उत्साहः सर्वथा सर्वप्रकारमविश्रान्त्या कार्य इति ॥ ६५ ॥

अर्थ—आरोग्य, आयु, बल और लक्ष्मी ये सभी चञ्चल हैं। धर्ममें उत्साहकी स्थिरता नहीं है। इन्हें प्राप्त करके मुझे सब प्रकारसे हितकारी कार्यमें प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—नीरोगता सर्वदा नहीं रहती। नीरोग मनुष्य भी सनत्कुमार चक्रवर्तीकी तरह रोगी हो जाते हैं। आयु भी गर्भ बाल जवानी और बुढ़ापेमें प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होनेवाला बल भी बलवान्में ही देखा जाता है। वही जब दुर्बल हो जाता है, तब बल नहीं रहता। अतः बल भी अनित्य है। धन-धान्य आदि लक्ष्मी भी क्षणभङ्गुर है। परीषहके जीतने वगैरहमें मनुष्यका जो उत्साह रहता है, वह भी सर्वदा नहीं रहता। अतः इन्हें प्राप्त करके ज्ञानाभ्यास वगैरह कार्योंमें मुझे सब प्रकारसे प्रयत्न करना चाहिए।

किं पुनस्तद्धितम् ? इत्याह—
हित क्या है ? यह बतलाते हैं —

शास्त्रागमादृते न हितमस्ति न च शास्त्रमस्ति विनयमृते ।
तस्माच्छास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यम् ॥ ६६ ॥

टीका—शास्त्रलक्षणमुपरिष्टात् वक्ष्यते शास्ति इत्यादौ। शासनात्—उपदेशदानात् त्राणाच्च शास्त्रम्। भगवतो मुखपङ्कजादर्थनिर्गमः, गणधरास्यपङ्कजेभ्यः सूत्रनिर्गमः । उभयमेतद् शास्त्रशब्दवाच्यम्। शास्त्रमेवागमः शास्त्रागमः गणधरप्रभृत्याचार्यपरम्परया आगत इति आगमः। शास्त्रागमादृते शास्त्रागमाद्विना नापरं हितमस्ति। न च शास्त्रागमो भवत्यविनीतस्य आचार्यादिशुश्रूषया विनीतेन शास्त्रं प्राप्यते । तस्माच्छास्त्रागमलाभमिच्छता शास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यमिति ॥ [illegible] ॥

---

१ [illegible]—मु० । २ [illegible]—मु । ३ [illegible] इति पद—मु । ४ तत मु मध्ये नास्ति । ५—[illegible] मु०

अर्थ—शास्त्रके ज्ञानके बिना हित नहीं हो सकता, और विनयके बिना शास्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए जो शास्त्रके ज्ञानका इच्छुक हो उसे विनयी होना चाहिए।

भावार्थ—शास्त्रका लक्षण आगे कहेंगे। जो सन्मार्गका उपदेश देता है और दुर्गतिसे बचाता है वह शास्त्र है। भगवान्‌के मुख-कमलसे निकला हुआ अर्थ और गणधरदेवके मुख-कमलसे निकले हुए सूत्र—ये दोनों ही शास्त्र शब्दसे कहे जाते हैं। शास्त्रको ही आगम कहते हैं; क्योंकि गणधर वगैरह, आचार्य-परम्परासे वह आता है। शास्त्रागमके बिना कोई हित नहीं हो सकता, और शास्त्रका ज्ञान विनयके बिना नहीं हो सकता। आचार्य आदि की सेवासे ही विनयीको शास्त्रकी प्राप्ति होती है। इसलिए जो शास्त्रागमका ज्ञान चाहता है, उसे विनयी होना चाहिए।

सत्स्वपि अनेकेषु गुणेषु पुंसां विनय एव भूषणं परम्, नान्वयरूपसौभाग्यादीनि[1] इति दर्शयन्नाह—

अनेक गुणोंके होनेपर भी पुरुषोंका विनय ही प्रधान भूषण है। वंश, रूप सौभाग्य वगैरह भूषण नहीं हैं, यही कहते हैं—

कुलरूपवचनयौवनधनमित्रैश्वर्यसम्पदपि पुंसाम्।
विनयप्रशमविहीना न शोभते निर्जलेव नदी ॥ ६७ ॥

टीका—विशिष्टान्वयः कुलं क्षमिपादि। रूपं शरीरावयवानां लक्षणान्वितः सन्निवेशविशेषः। वचनं मधुरं प्रियभाषितवाग्मित्वादि। यौवनं यूनो भावः। युवा हि मन्दरूपोऽपि शोभते प्रायो यौवनगुणादेव। धनं हिरण्यसुवर्णमणिमुक्ताप्रवालद्विगोमहिष्यश्वादिकाद्विधा[2]। मित्रं स्नेहवान् पुरुषो विश्रम्भस्थानम्। ऐश्वर्यमीश्वरस्य भावः प्रभुत्वम्[3]। सम्पच्छब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः—कुलसम्पद् रूपसम्पद् इत्यादि। सम्पत् प्रकर्षविशेषः। एषाऽपि कुलादिसम्पद् न भ्राजते पुरुषाणां विनयप्रशमविहीनत्वात्। विनयः अभ्युत्थानासनप्रदानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपश्चारित्रः[4]। प्रशमो माध्यस्थ्यमौदासीन्यम्। आभ्यां रहिता न शोभते निर्जलेव नदी। यथा सरिज्जलशून्या हंससारससक्रवाकचक्रवाककुरङ्कैरसेव्यमाना न भ्राजते अतिदीर्घगतमार्गमरुमर्गाप्युद्वेगकर्मेव भवतीति[5]। एवं विनयरहितः पुमानिति ॥ ६७ ॥

अर्थ—पुरुषोंकी कुल रूप वचन, यौवन धन मित्र और ऐश्वर्य सम्पदा भी विनय और वैराग्यसे रहित हो तो निर्जल नदीकी तरह शोभित नहीं होती।

भावार्थ—क्षत्रिय आदि विशिष्ट वर्णोंको कुल कहते हैं। शरीरके अङ्ग-उपाङ्गोंकी शुभ लक्षण सहित रचना-विशेषको रूप कहते हैं। मीठा, प्यारा बोलना वचन कहलाता है। यौवन जवानीको कहते

१ सौभाग्यादीनि दर्शं—मु०। २ गोमहिष्या (ष्यो) श्वादिकादि वा मु ३—मीश्वरभावः मु०। ४ विनयप्रश्नमापितत्वं। ५ हे नातिदीर्घगतमार्ग—मु०।

है। जवान आदमी, सुरूप न होनेपर भी जवानीके कारण प्रायः सुन्दर लगता है। चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, मूँगा वगैरह तथा गाय, भैंस, बगीचे आदि को धन कहते हैं। स्नेही और विश्वासी पुरुष मित्र कहलाता है। मालिकीको ऐश्वर्य कहते हैं। सम्पदा शब्दका सम्बन्ध हरेकके साथ लगाना चाहिए। जैसे कुलसम्पदा, रूपसम्पदा वगैरह। उठना, बैठनेके लिए आसन देना, हाथ जोड़ना, वगैरह विनय कहलाती है। माध्यस्थ्य—उदासीनताको प्रशम कहते हैं। जिस प्रकार हंस, सारस, चकवा वगैरहके झुण्डोंसे घिरी हुई भी नदी यदि निर्जल हो तो सुन्दर नहीं लगती, केवल एक लम्बा मरुस्थल दिखलाई पड़नेके कारण भयानक लगती है, वैसे ही अन्य सम्पदाओंसे भरा-पूरा होनेपर भी मनुष्य यदि विनयी न हो तो वह सुन्दर नहीं लगता।

न तथा सुमहार्घ्यैरपि वस्त्राभरणैरलङ्कृतो भाति ।
श्रुतशीलमूलनिकषो विनीतविनयो यथा भाति ॥ ६८ ॥

टीका—न तथा शोभते सुमहार्घ्यवस्त्राभरणभूषितः पुरुषः यथा श्रुतशीलभूषितः। श्रुतमागमः, शीलं मूलोत्तरगुणभेदं चरणम् तयोर्निकषः परीक्षास्थानम्। यदि विनीतस्तत्तस्य तथ्यं श्रुतम् यदि च विनीतस्ततः शीलम्, अन्यथा मूर्खो दुःशील एव च स्यात्। सुवर्णपरीक्षा पाषाणकः निकषः इति प्रतीतम्। तद्वत् श्रुतशीलपरीक्षाविनयनिकषे कर्षणे विशेषेण नीतः प्रापितो विनयो येनासौ विनीतविनयः[1] इति ॥ ६८ ॥

अर्थ—अत्यन्त बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणोंसे भूषित मनुष्य भी वैसा सुन्दर नहीं लगता, जैसा श्रुत और शीलकी मूल कसौटीरूप विनयी मनुष्य सुन्दर लगता है।

भावार्थ—श्रुत शास्त्रको कहते हैं और शील आचारको कहते हैं। यदि मनुष्य विनीत है, तो उसका श्रुत श्रुत है और शील शील है। अन्यथा उसे मूर्ख और दुःशील ही समझना चाहिए। जो श्रुत और शीलका, परीक्षा करनेके लिए कसौटीके समान है, तथा विनयसे भूषित, वह सबसे सुन्दर है।

अपि च—

और भी—

गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि ।
तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकाङ्क्षिणा भाव्यम् ॥ ६९ ॥

टीका—गृणन्ति प्रतिपादयन्ति शास्त्रार्थमिति गुरवः। तदायत्ताः शास्त्रारम्भाः। सूत्रपाठप्रवृत्तिरर्थश्रवणप्रवृत्तिश्च गुर्वायत्ताः कालग्रहणस्वाध्यायप्रस्थापनादेशसमुद्देशानुज्ञापरिकराः शास्त्रारम्भाः सर्वेऽपि इत्युच्यन्ते। तस्मात् गुर्वाराधनपरेण इति। गुर्वाराधनम्—

१ [illegible]—मु ।

'अहर्निशं पादसेवा, सम्यक् क्रियानुष्ठानम्, नृपकमण्डलुप्रक्षालनम्, दण्डकग्रहणम्, तत्प्रवृत्तौ गमनं निर्विचारम्, तदभिहितानुष्ठानम् इत्याद्यापादनम्—अभिमुखीकरणम्। तत्परेणेति। तदुपयुक्तेन भवितव्यमिति ॥ ६९ ॥

अर्थ—यतः शास्त्रके सभी आरम्भ गुरुके आधीन हैं, अतः जो अपना हित चाहता है, उसे गुरुकी सेवामें तत्पर होना चाहिए।

भावार्थ—जो शास्त्रके अर्थका कथन करते हैं, उन्हें गुरु कहते हैं। सूत्रोंके पढ़ने और उनके अर्थको सुननेमें प्रवृत्त होना, काल-ग्रहण, स्वाध्याय आदि शास्त्रके आरम्भ कहे जाते हैं। ये सभी आरंभ गुरुकी कृपापर निर्भर हैं। अतः रात-दिन गुरुकी पाद-सेवाके लिए तैयार रहना चाहिए। जैसा वे कहें, वैसा करना चाहिए। उनके उपकरण वगैरह रखने उठानेमें तत्पर रहना चाहिए।

गुरौ चोपदिशति 'पुण्यवानहमिति' य एवमनुभावो गुरूणाम् बहुमन्तव्य एव न विस्मयः

अब यह बतलाते हैं कि जब गुरु उपदेश देते हों तो उस समय ऐसा विचार कि मैं बड़ा पुण्यवान् हूँ जो मुझपर गुरुका इतना अनुग्रह है।—ऐसा विचारना चाहिए

धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी ।
गुरुवदनमलयनिसृतो वचनसरसचन्दनस्पर्शः ॥ ७० ॥

टीका—धनं लभते तल्लब्धा धन्यः पुण्यवान्। तस्योपरि निपतति 'वचनसरसचन्दनस्पर्श' इति वक्ष्यति कीदृगसौ वचनसरसचन्दनस्पर्शः? अहितसमाचरणधर्मनिर्वापी। अहितम्-असुखम् समाचरणम्-क्रियानुष्ठानम् अहितसमाचरणमेव धर्मः—तापविशेषः, तं निर्वापयति—उपशमयति निरस्यति तच्छीलश्चेति। गुरुवदनमलयनिसृत इति। गुरोः—आचार्यादेर्वदनं मुखम् तदेव मलयपर्वतः, तस्माद्विनिसृतो निर्गतः। वचनमेव सरसचन्दनं स्नेहोपबृंहितहितोपदेशागमनम् तदेव वचनम्, तस्य स्पर्शः शीतो घर्मापनयनसमर्थः। मलये तु सरसं चन्दनमात्रमभिमतविच्छिन्नम् तस्य स्पर्शो घर्मापहारी भवति सुखदश्च। अथवा रसचन्दनस्पर्शः। रसो द्रवता चन्दनपङ्कः सपानीयः इत्यर्थः ॥ ७० ॥

अर्थ—शास्त्र विरुद्ध आचरणरूपी तापको दूर करनेवाला गुरु महाराजके मुखरूप मलय पर्वतसे निकले वचनरूपी सरस चन्दनका स्पर्श किसी ही पुण्यवान्को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सरस चन्दनको लगानेसे शरीरकी दाह मिट जाती है, वैसे ही गुरु महाराजके स्नेह युक्त हितकारी वचनोंको सुनकर भव्यजनोंका अहितरूपी सन्ताप मिट जाता है। गुरु महाराजका उपदेश सुनकर वे शास्त्र विरुद्ध आचरणको छोड़कर शास्त्रविहित आचरण करने लगते हैं। गुरुकी यह अनुकम्पा किसी ही पुण्यशाली जीवोंको प्राप्त होती है। 'रसचन्दनस्पर्शः' ऐसा भी पाठ है।

---

१ वरस—मु ।

एवं च हितोपदेशेनानुगृह्णता शिष्यान् आचार्यस्य कः प्रत्युपकारः शिष्येण विधेयः' इत्याह—

इस प्रकार हितकारक उपदेशके द्वारा शिष्योंका उपकार करनेवाले आचार्यका शिष्यको जो प्रत्युपकार करना चाहिए, यह बतलाते हैं —

दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् ।
तत्र गुरुरिहामुत्र च सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥ ७१ ॥

टीका—दुःखेनाप्यते प्रतीकारो दुष्कर इति वा दुष्प्रतीकारः । मातापितरौ तावद् दुष्प्रतीकारौ । माता हि जातमात्रस्याभ्यङ्गस्नानस्तनक्षीरपानमूत्राशुचिक्षालनादिनोपकारेण वृद्धिमुपनयति, कल्यपथ्याहारप्रदानेनोपकुर्वती अदृष्टपूर्वस्याकृतोपकारस्य चाऽपत्यस्य दुष्प्रतीकारा। नहि तस्याः प्रत्युपकारः शक्यते कर्तुम्। पिताऽपि हितोपदेशदानेन शिक्षाग्राहणेन भक्तपरिधानप्रावरणादिनोपकारेण अनुगृह्णन् दुष्प्रतीकारः । स्वामी राजादिर्भृत्यानां धनधान्यादिना कृत्वा भवत्युपकारकः। भृत्यास्तु न तथा प्रत्युपकारसमर्थाः प्राणव्ययमहार्घा यद्यपि म्रियमाणमवन्ति स्वामिनो भृत्यास्तथापि पूर्वमकृतोपकाराणामेव भृत्यानामुपकारकः स्वामी, भृत्यास्तु कृतोपकाराः प्रत्युपकुर्वन्ति। गुरुः—आचार्योऽपि । स च दुष्प्रतिकारः सन्मार्गोपदेशदायित्वात्, शास्त्रार्थप्रदानात्, संसारसागरपारप्रापकत्वात्। इहामुत्र च—इहलोके सुदुर्लभतरः प्रतीकारो यस्य गुरोरिति सु दुर्लभतरः प्रतीकार इति ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस लोकमें माता पिता स्वामी और गुरुका प्रत्युपकार करना बड़ा कठिन है। उनमें गुरुका प्रत्युपकार तो इस लोकमें भी अत्यन्त दुष्कर है, और परलोकमें भी अत्यन्त कठिन है।

भावार्थ—माता-पिताका प्रत्युपकार बड़ा दुष्कर है। माता तो बच्चेके जन्म लेते ही उसकी मालिश करना, दूध पिलाना, मूत्र वगैरह गन्दगीको धोना आदि उपकारके द्वारा उसका पालन-पोषण करती है। जिस बच्चेको पहले उसने कभी देखा भी नहीं था और जिसने उसका कोई उपकार भी नहीं किया है, उसे वह दूध पिलाकर और आरोग्यवर्धक आहार देकर उसका उपकार करती है। अतः माताके उपकारका बदला चुकाना बड़ा कठिन है। पिता भी हितकारक उपदेश देता है। पढ़ाता-लिखाता है, भोजन-वस्त्र वगैरहसे लालन-पालन करता है। अतः उसके उपकारका बदला चुकाना भी कठिन है। स्वामी राजा वगैरह धन-धान्य देकर सेवकोंका उपकार करते हैं। सेवक उस उपकारका बदला नहीं चुका सकता। यद्यपि सेवक अपने प्राण देकर स्वामीकी जानको बचाता है, तथापि स्वामी पहले-पहल कोई उपकार किये बिना ही सेवकोंका उपकार करते हैं, किन्तु सेवक स्वामीका उपकार पाकर ही उसका उपकार करते हैं। अतः उनके उपकारका बदला चुकाना भी कठिन है। किन्तु गुरु तो सन्मार्गका उपदेश देते हैं, शास्त्रोंका अर्थ बतलाते हैं और संसार-समुद्रसे पार करते हैं। अतः उनके उपकारका बदला चुकाना तो न इस जन्ममें ही सम्भव है और न अगले जन्म में ही सम्भव है।

---

१ कथम् (न) वा–मु० । २—मेव संसारनिस्तारक—फ० । ३ इहलोके दुष्करतरा–मु० ।

सम्प्रति विनयस्य पारम्पर्येण पर्यन्तवर्ति मोक्षाख्यं फलं दर्शयन्नाह—
अब यह बतलाते हैं कि परम्परासे विनयका फल मोक्ष है —

विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥ ७२ ॥

टीका—विनयस्य फलं शुश्रूषा—श्रोतुमिच्छा। यदाचार्य उपदिशति तत् सम्यक् शुश्रूषते, श्रुत्वा च अनुतिष्ठति। गुरोः सकाशाच्छ्रवणस्य किं फलमित्याप्यते? अत आह—गुरुशुश्रूषाया फलं श्रुतज्ञानम्—'आगमज्ञानलाभः' इत्यर्थः। ज्ञानस्य किं फलम्? विरतिः—आश्रवद्वारेभ्यो निवृत्तिः। विरतेः फलमाश्रवद्वारस्थगनम्। विरतौ सत्यामाश्रवद्वाराणि स्थगितानि भवन्ति। तदाश्रवद्वारस्थगनात् संवरो जायते। फलभूतः संवृतात्मा भवति, अपूर्वकर्मप्रवेश निरोधः ॥ ७२ ॥

अर्थ—विनयका फल सुननेकी इच्छा है। गुरुके सुननेका फल श्रुतज्ञानकी प्राप्ति है। ज्ञानका फल विरति है, और विरतिका फल आस्रवका रुकना—संवर है।

भावार्थ—आचार्य जो उपदेश देते हैं, उसे भले प्रकार सुनता है और सुनकर उसका पालन करता है। यह विनयका फल है। गुरुके मुखसे शास्त्र-श्रवण करनेसे आगमोंका ज्ञान होता है। यह गुरुसे सुननेका फल है। शास्त्र-ज्ञानके होनेपर उन कामोंका करना छोड़ देता है, जिनके करनेसे कर्मोंका आस्रव होता है। यह ज्ञानका फल है। उन कामोंसे विरत होनेपर आस्रवके द्वार बन्द हो जाते हैं। अतः आस्रवके द्वारोंके बन्द हो जानेसे संवर होता है। अतः विरतिका फल नये कर्मोंके आस्रवको रोकना है।

संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ ७३ ॥

टीका—संवरस्य फलं तपोऽनुष्ठाने शक्तत्वमक्षपणायम्। तपसि बलं तपोबलम्—तपसि सामर्थ्ये शक्तिविशेषः। तपसस्तु निर्जराफलं कर्मपरिशाटनम्। तस्मात् कर्मापगमात् क्रिया निवर्तते, एवं फलं निर्जरायाः। क्रियानिवृत्तेर्निरुद्धयोगस्यात् अयोगित्वात् ॥ ७३ ॥

अर्थ—संवरका फल तपस्या करनेकी शक्तिका होना है। तपका फल निर्जरा देखा गया है। संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेसे निवृत्ति होती है, और क्रियाकी निवृत्तिसे मन वचन और कायकी प्रवृत्ति रूप योग रुक जाता है।

भावार्थ—विनयका साधारण ही फल नहीं है। पहली कारिकामें कहे गये क्रमके अनुसार विनयसे संवरकी प्राप्ति होती है और संवरसे तपःशक्ति बढ़ती है तप निर्जराका कारण है, और निर्जरासे क्रियासे छुटकारा मिलता है, तथा क्रिया-निवृत्तिसे मन वचन कायरूप योगोंका निरोध होता है। इस प्रकार एक विनयगुणके द्वारा योगनिरोध तक देखा जाता है।

योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षय सन्ततिक्षयान्मोक्ष । [1]
तस्मात् कल्याणाना सर्वेषां भाजन विनय ॥ ७४ ॥

टीका—योगनिरोधस्य फलं जन्मजरामरणप्रबन्धलक्षणाया नरकादिभवसन्ततेरात्यन्तिकः क्षयः । तस्माद्भवसन्ततिक्षयाच्च मोक्षावाप्तिः । ऐकान्तिकात्यन्तिकादिगुणयुक्तं स्वास्थ्यमवस्थानं मोक्षः । तस्मात् पारम्पर्यद्वारेण सर्वकल्याणानां भाजनम्—आश्रयो विनयः । सर्वकल्याणरूपो मोक्षः । अथवा गुरुशुश्रूषादिकल्याणं यावद्योगनिरोधः भवसन्ततिक्षयश्च, सर्वाण्येतानि कल्याणानि, येषां फलं मोक्ष इति ।

अर्थ—योगोंके रुकनेसे नरकादिरूप भवोंकी परम्पराका नाश हो जाता है। भव-परम्परा के नाश हो जानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः विनय सब कल्याणोंका मूल है।

भावार्थ—विनयका फल योग-निरोध ही नहीं है। योग-निरोधसे नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देवरूप भवोंकी कड़ी नष्ट हो जाती है, और इस भव-परम्पराके नाशसे अविनश्वर मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इस तरह विनयका महान् फल है। इस गुणके कारण परम्परासे मोक्षतक प्राप्त हो जाता है, और यह जीव सदाके लिए संसारके अनन्त दु:खोंसे छूट जाता है।

ये पुनरविनीतास्तेषां कः फलविपाकः ? इत्याह—
अब अविनयी मनुष्योंको जो कुछ फल भोगना पड़ता है, उसे बतलाते हैं —

विनयव्यपेतमनसो गुरुविद्वत्साधुपरिभवनशीला ।
त्रुटिमात्रविषयसगादजरामरवन्निरुद्विग्ना ॥ ७५ ॥

टीका—उक्तलक्षणो विनयः । तस्माद् व्यपेतं विगतं मनो येषां विनयव्यपेतमनसः । गुरूणाम्-आचार्यादीनाम् । विद्वांसः—अन्येऽपि चतुर्दशपूर्वधरादयः । ज्ञानादिसाधनद्वारेण मोक्षमभिलषन्तः साधयन्तः साधवः । तेषां परिभवः—अनादरो वंदनाभ्युत्थानादिप्रतिपत्तेरकरणम्, तदेव च शीलं स्वभावो येषाम् । त्रुटिरनन्तपरमाणुसंघातलक्षणाऽल्पकः सवितृकिरण प्रकाशितः । वातायनादिषु भ्रमन् दृश्यते । तन्मात्रो विषयसङ्गस्वल्पको निस्सारः शब्दादिविषयेषु च सङ्गस्तस्मादासक्तेः प्रत्यपायमागामिनमचेतयन्तः । अजरामरवन्निरुद्विग्नाः । जरा च मरणं च जरामरणे, अविद्यमाने जरामरणे यस्यासौ अजरामरः, तद्वन्निरुद्विग्नाः—निर्भयाः, मुक्ता एव अजरामराः सर्वसङ्गनिर्मुक्ताः, तद्वदात्मानं मन्यते नाहं जरां प्राप्स्यामि न च मरणम्, स्वल्पकविषयसुखासक्तत्वात् इति ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो अविनयी हैं, वे गुरुओं विद्वानों और साधुओंका अनादर करते हैं और त्रुटिरेणु के बराबर विषयोंमें आसक्त होकर अजर अमर मुक्तात्माके समान निर्भय हो जाते हैं।

भावार्थ—जिनके मनमें विनयका लेश भी नहीं रहता है, वे आचार्योंका, चौदह पूर्व आदिके पाठी विद्वानोंका और साधुओंका अनादर करनेमें स्वभावसे प्रवृत्त रहते हैं। झरोखोंके द्वारा आने

जाली सूर्य-किरणोंके प्रकाशमें जो धूलके कण दिखाई पड़ते हैं, उन्हें त्रुटिरेणु कहते हैं। उसके बराबर अति तुच्छ विषयोंको भी पाकर वे उन्हींमें आसक्त हो जाते हैं। और अपनेको अजर-अमर मानकर आगामी संकटका भय नहीं करते।

एतदेव प्रत्यपायादिविशेषविषया स्पष्टतरमभिधत्ते—

अब उसी संकटका खुलासा करते हैं —

केचित् सातर्द्धिरसातिगौरवात् साम्प्रतेक्षिणः पुरुषाः ।
मोहात्समुद्रवायसवदामिषपरा विनश्यन्ति ॥ ७६ ॥

टीका—केचिदेवाविदितपरमार्थाः । सातं सुखं सद्वेद्यनीयम् । ऋद्धिर्विभवः कनकरजतपद्मरागेन्द्रनीलमरकतादिमणिसम्पत् गोमहिष्यजाविककरितुरगरथादिसम्पच्च । रसास्तिक्तकटुककषायाम्लमधुरलवणाख्याः । एतेषु सातादिषु गौरवमादरः सुखाय सम्पद्यः इहपरसाम्परायापायभादर । अतीव सुष्ठु गौरवम् । अतिगौरवाद्धेतोः साम्प्रतमेव वर्तमानकालमेवेक्षन्ते नागामिनम् । त एवंविधाः पुरुषाः मोहात् अज्ञानात् मोहकर्मोदयाद्वा समुद्रवायसवदामिषपरा विनश्यन्ति मृतकरिकलेवरापानप्रविष्टमांसास्वादनगृद्धकाकवत् । जलधिमध्यमभ्यास्यमाने कलेवरे विनिर्गत्य तेनैवापानमार्गेण सकलं दिग्मण्डलमवलोक्य विश्रान्तिस्थानमपश्यन् निलीयमानश्च पयसि निधनमुपगतः । आमिषपराः इति रसगौरवस्यैव प्रत्यपायमुक्त्वा दर्शयामास प्रकरणकारः । न तथा सातर्द्धिगौरवे बहुप्रत्यपाये यथा रसगौरवम्, मद्यमांसभक्षणादिषु प्रवृत्तिः प्राण्युपमर्देन दुःसम्पाद्या ॥ ७६ ॥

अर्थ—कुछ अविवेकी मनुष्य सुख, ऋद्धि और रसमें अत्यन्त आदर रखनेके कारण केवल वर्तमान कालको ही देखते हैं। और मोहके वशीभूत होकर मांसके लोभी समुद्री कौवेकी तरह नाशको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो परमार्थको नहीं जानते वे सांसारिक सुख सम्पत्ति और इष्ट रसका स्वाद लेनेमें ही मग्न रहते हैं और उन्हींकी प्राप्तिका प्रयत्न किया करते हैं। अतः वे केवल वर्तमानको ही देखते हैं, आगेका विचार नहीं करते। ऐसे मनुष्य अज्ञानके वशीभूत होकर मरे हुए हाथीके शरीरमें गुदा-मार्गसे घुसकर मांस खानेमें आसक्त कौवेकी तरह नाशको प्राप्त होते हैं। जैसे एक कौवा मांस खानेके लिए हाथीके पेटमें घुस गया। जोरकी वर्षाके कारण हाथी बहकर समुद्रमें जा पहुँचा। बेचारा कौवा हाथीकी गुदासे निकलकर स्थान पानेके लिए इधर-उधर उड़ा और कोई स्थान न पाकर पुनः उसी हाथीके पेटमें जा घुसा, और इस तरह अन्तमें पानीमें डूबकर मर गया। इसी प्रकार विषय-सुखके लालची मनुष्य भी संसार-समुद्रमें डूब जाते हैं। मांसके स्वादका लोभी (आमिषपर) विशेषण लगानेसे ग्रन्थकारने रसनेन्द्रियके विषयकी आसक्तिको अधिक बुरा बतलाया है। क्योंकि हिंसा किये बिना मद्य मांस वगैरहकी प्रवृत्ति नहीं होती।

---

१ स्पष्टय–फ० प० । २–सम्पादन–प० ।

ते जात्यहेतुदृष्टान्तसिद्धमविरुद्धमजरमभयकरम् ।
सर्वज्ञवाग्रसायनमुपनीत नाभिनन्दन्ति ॥ ७७ ॥

टीका—ते एवं गुणर्द्धिरसगारवगुरवः सन्तः । जात्या हेतवः स्वाभाविकास्तथ्याः । उत्पत्तिस्थितिविनाशाश्च यदस्ति । तदुत्पद्यतेऽवतिष्ठते विनश्यति च तस्मात् उत्पत्तिमत्त्वात् स्थितिमत्त्वाद् विनष्टत्वाच्च सर्वे पदार्था नित्याश्चानित्याश्च इति सप्तभङ्गीमन्तो भवन्ति । दृष्टान्ताश्चाङ्गुल्यादयः । यथा एकस्मिन्नेव काले अङ्गुली मृतत्वेनावस्थिता वक्रत्वेन विनष्टा ऋजुत्वेनोत्पन्ना उत्पादस्थितिविनाशवती, तथा आत्मादयः सर्वे पदार्थाः जात्यहेतुभिर्दृष्टान्तैश्च सिद्धं प्रतिष्ठितमभ्यासरु- मविरुद्धमिति । न खलु नित्यानित्ययोर्विरोधोऽस्ति द्रव्यार्थतया नित्यत्वमन्वयं समङ्गीकृत्य घटकपालखण्डादिषु सत्त्वोपविशिष्टत्व मृत् इति प्रत्यय । पर्यायास्तु घटकपालादयः पर्यायार्थतयाङ्गीकरणात् तदनित्यत्वम् । भिन्ननिमित्तत्वाच्च न सहानवस्थानलक्षणो विरोधोऽस्ति । तस्मादविरुद्धम् । सर्वज्ञवाग्रसायनम्—सर्वज्ञवाग् द्वादशाङ्गप्रवचनं तदेव रसायनम् । यथा रसायनमुपयुज्यमानं नीरुजं वपुः करोति वलीपलितवर्जितम्, तथा सर्वज्ञवचनमप्युपयुज्यमानं विधिना सकलदुःखापहारि भवति जन्ममरणप्रपञ्चं निरस्यतीति । अविद्यमाना जरा यत्र तदजरम् । विगतशरीरत्वान्मृत्युमपि मरणादिकमत एव तत्र नास्ति । जरामरणाभावत्वात् 'अजरमभयकरम्' इत्युक्तम् । उपनीतं ढौकितमर्पितं वा नाभिनन्दन्ति—न परिगृह्यास्तदुपयोगं कुर्वन्ति ॥ ७७ ॥

अर्थ—वे स्वाभाविक हेतुओं और दृष्टान्तोंसे सिद्ध विरोध रहित अजर और अभयकारी सर्वज्ञ देवके वचनरूपी रसायनको पाकर भी उसका आदर नहीं करते हैं ।

भावार्थ—जो कुछ सत् है वह उत्पन्न होता है, ठहरता है और नष्ट होता है । अतः उत्पत्ति, स्थिति और विनाशसे युक्त होनेके कारण सभी पदार्थ नित्य भी होते हैं और अनित्य भी होते हैं। जिस प्रकार मुड़ी हुई अंगुलिको फैलानेपर एक ही समयमें उसमें तीनों धर्म पाये जाते हैं। अंगुली रूपसे वह अवस्थित रहती है, टेढ़ेपनकी अपेक्षासे वह नष्ट होती है, और सीधेपनकी अपेक्षासे वह उत्पन्न होती है। क्योंकि टेढ़ीसे सीधी करनेपर टेढ़ापन नष्ट जाता है और सीधापन आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा आदिक सभी पदार्थ स्वाभाविक हेतुओं और दृष्टान्तोंसे सप्तभंगीमय सिद्ध हैं। तथा यह विरोध रहित भी है, क्योंकि नित्यता और अनित्यतामें कोई विरोध नहीं है। द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य मानकर ही घट, कपाल वगैरहको मिट्टी कहा जाता है। और पर्यायार्थिकनयको मानकर घट-कपाल वगैरह अनित्य हैं। अतः नित्यताका निमित्त भिन्न है और अनित्यताका निमित्त भिन्न। इसलिए दोनों धर्म एक जगह रह सकते हैं और दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। अतः निर्दोष हेतुओं और दृष्टान्तोंसे सिद्ध तथा विरोध रहित सर्वज्ञभगवान्‌का द्वादशांगरूप प्रवचन रसायनके समान है। जैसे रसायनके सेवनसे शरीर झुर्रियों और सफेद बालोंसे रहित होकर नीरोग होजाता है, उसी प्रकार

१. नित्यानित्यत्व इति प्रतिभाति । २ द्रव्यार्थिकतया—प० । ३—सप्तभङ्गीमन्तो—प० । ४—घटकपालखण्डादिषु-प०ज० । ५—नाभिनन्दन्तीति—प । ६ वचन—प । ७ मुपयुज्य—प०ज । ८—एतन्मेव—प ज । ९—ज्योति—प०

विधिपूर्वक जिनभगवान्‌के वचनोंका आचरण करनेसे जन्म-मरणरूपी प्रपञ्च नष्ट हो जाता है। इसी लिए जिनभगवान्‌के वचनको अजर-अमर और अभयकारी कहा है। उक्त रीतिसे जो सांसारिक सुख, ऋद्धि और रसमें आसक्त रहते हैं, वे उस रसायनके मिलनेपर भी प्रसन्न चित्तसे उसका सेवन नहीं करते हैं।

एतमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—

इसी बातके समर्थनमें दृष्टान्त देते हैं।

यद्वत् कश्चित् क्षीरं मधुशर्करया सुसंस्कृतं हृद्यम्।
पित्तार्दितेन्द्रियत्वाद्वितथमतिर्मन्यते कटुकम् ॥ ७८ ॥

टीका— कश्चित् इति पित्तप्रकृतिः प्रकुपितपित्तधातुः। क्षीरं गोमहिष्यादीनां स्वभावेनैव स्वादु किं पुनर्मधुशर्करायुतम्। सुसंस्कृतमिति सुक्वथित निष्पन्नतमावस्थम्। हृद्यं हृदयेष्टम्। पित्तार्दितेन्द्रियत्वादिति—पित्तेनार्दितो व्याप्तः पित्तोदयेनाकुलीकृतान्तःकरणो वितथमतिः—विपरीतबुद्धिः मन्यतेऽवगच्छति कटुकम् इति मधुरमपि सदिति ॥ ७८ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के पित्तसे पीड़ित होनेके कारण विपरीत बुद्धि हुआ कोई मनुष्य मधु और शक्करसे युक्त उत्तम रीतिसे तैयार किये गये दूधको कडुवा समझता है।

सम्प्रति दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिकमर्थं समीकुर्वन्नाह—

दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमें घटाते हैं—

तद्वन्निश्चयमधुरमनुकम्पया सद्भिरभिहितं पथ्यम्।
तथ्यमवमन्यमाना रागद्वेषोदयोद्वृत्ताः ॥ ७९ ॥

जातिकुलरूपबललाभबुद्धिवाल्लभ्यकश्रुतमदान्धाः।
क्लीबाः परत्र चेह च हितमप्यर्थं न पश्यन्ति ॥ ८० ॥

टीका—यद्यपि [illegible] परीषहेन्द्रियनिरोधसंपातत्वात्कटुकं तथापि निश्चयं पर्यन्तकाले मधुरम्—अनेककल्याणयोगात् रमणीयम्। अनुकम्पया सद्भिः—अविसंवादिभिर्गणधरैरभिहितं सम्यक्त्वानामनुग्रहाय पथ्यम्। तथ्यं च स्फुटमविसंवादि। तदवमन्यमाना अनादृत्य [illegible] निराकरणबुद्ध्या रागद्वेषोदयेनोद्वृत्ताः स्वच्छन्दचारिणो न हितोपदेशमाचरन्ति इति ॥ ७९ ॥ एवमुद्वृत्ताः किमाचरन्तीत्याह जातिः मातृसम्बन्धः। कुलं पितृसम्बन्धः। रूपं शरीरावयवसन्निवेशविशेषः। बलं शारीरं स्वजनबलं द्रव्यबलं चेति। लाभो यथाप्रार्थितप्राप्तिः। बुद्धिरौत्पत्तिक्यादिः।

१–बुद्धिं–फ० ब। २–मा बुद्धि–प०। ३ वार्ष्टिकन्ता–प० प०। ४ बुद्धिः–प। ५–व्याकरणा–प०। ६ बुद्धिं फ०। ७–दा च दृ–फ०।

परिणामसुन्दरं लोकस्य प्रियपथ्यवाक्यम्। श्रुतमागमः शास्त्रपरिज्ञानम्। एतद्य जात्यादिविशुतान्तं मदहेतुत्वात् मदो गर्वः, तेनान्धाः। यथान्धाश्चक्षुर्विकला न किञ्चिद्वस्तुसमीपे पश्यन्ति, तथा जात्यादिमदोद्धतान्धा हिताहितविचारणापरहिताः क्षीबा विषयपराङ्मुखा इवाकृताः। तस्मादपरि लोकादिह परलोकहितं न पश्यन्ति न कुर्वन्ति चेति ॥ ८० ॥

अर्थ—जैसे ही परिणाममें मधुर और गणधरादिकके द्वारा दया-बुद्धिसे कहे गये हितकारक सत्यको निरादर करनेवाले, राग और द्वेषके उदयसे स्वच्छन्दचारी होते हैं।

जाति, कुल, रूप बल, लाभ बुद्धि, लोकप्रियता और शास्त्रज्ञानके मदसे अन्धे हुए विषय-लोलुपी मनुष्य इस लोक और परलोकमें हितकारक वस्तुको भी नहीं देखते हैं।

भावार्थ—यद्यपि गणधर वगैरहने भव्यजीवोंके कल्याणके लिए जो सत्य और हितकारक उपदेश दिया है, वह अवश्य परीषह और इन्द्रियोंको रोकने वगैरहके कारण प्रारम्भमें दुःख देनेवाला लगता है, किन्तु अन्तमें उसका फल मीठा ही होता है। परन्तु स्वच्छन्दचारी मनुष्य उसकी ओर ध्यान नहीं देते।

जिस प्रकार अन्धे मनुष्य देखने योग्य वस्तु भी नहीं देख सकते हैं वैसे ही जाति वगैरहके मदसे अन्धे हुए विषय-लोलुपी मनुष्य भी हित और अहितका विचार नहीं करते हैं।

संसारे परिभ्रमतां सत्त्वानां स्वकर्मोदयात् कदाचित् ब्राह्मणजातिः, कदाचिच्चाण्डाल-जातिः, कदाचित् क्षत्रियादिजातयः, न नियतैव जातिर्भवति इति दर्शयन्नाह—

संसारमें भ्रमण करते हुए जीवोंको अपने अपने कर्मोंके उदयसे कभी ब्राह्मण जाति, कभी चाण्डालकी जाति और कभी क्षत्रिय वगैरहकी जाति होती है। कोई जाति सर्वदा नहीं रहती। यही कहते हैं —

ज्ञात्वा भवपरिवर्ते जातीनां कोटिशतसहस्रेषु।
हीनोत्तममध्यत्वं को जातिमदं बुधः कुर्यात् ॥ ८१ ॥

टीका—भवो नारकादिजन्म, तस्य परिवर्तः परिभ्रमणम्-नारको भूत्वा तिर्यग्योनौ मनुष्यजातौ वा जायते स्वकर्मवशात्। भूयः पृथिव्यादिष्वेकेन्द्रियजातावुत्पद्यते। तत्र एकेन्द्रि-याणां सत्त्वानां यावन्तः असुमतिभेदा भवन्ति। एवमसंख्येयास्वपि यावत्स्वव योनयस्तावन्त्येव जातिशतसहस्राणि। तथा देवानामपीति। अतएव चतुरशीतिलक्षयोनिकः संसारः। स योऽस्मिन्नुपद्यमानो हीनोत्तममध्यमेषु कुलेषु जन्म लभते। एवंविधमसमञ्जसं वा संसार-मवगम्य ज्ञात्वा को नाम विद्वान् जातिमदमालम्बेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—संसारमें परिभ्रमण करते हुए लाखों-करोड़ों जातियोंमें जघन्य उत्तम और मध्यमपने को जानकर कौन बुद्धिमान् जातिका मद करेगा।

भावार्थ—यह जीव नारकी होकर तिर्यञ्चयोनि अथवा मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है। पुनः एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जातिमें उत्पन्न होता है। उसमें भी एकेन्द्रियोंमें पृथिवीकायके शर्करा, बालुका वगैरह बहुतसे भेद हैं। इसी प्रकार जल अग्नि, वायु और वनस्पतिकी भी जितनी योनियाँ हैं, उतनी ही लाख जातियाँ हैं। देवगतिमें भी ऐसा ही जानना चाहिए। इसी लिए संसारको चौरासी लाख योनियोंवाला कहा गया है। उस संसारमें उत्पन्न हुआ जीव जघन्य, मध्यम और उत्तम कुलोंमें जन्म लेता है। संसारकी इस विडम्बनाको जानकर कौन विद्वान् जातिका मद कर सकता है ?

एतदेव स्फुटतरमाचष्टे—

इसी बातको और भी स्पष्टतासे कहते हैं —

नैकान् जातिविशेषानिन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् सत्त्वाः ।
कर्मवशाद् गच्छन्त्यत्र कस्य का शाश्वता जाति ॥ ८२ ॥

टीका—जातिविशेषाननेकसंख्यान् इन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् इन्द्रियनिर्वृत्तिः पूर्वं कारणं येषां जातिविशेषाणाम्। एकस्मिन्निन्द्रिये स्पर्शनाख्ये निर्वृत्ते एकेन्द्रियजातिः। स्पर्शनरसनयो द्वीन्द्रियजातिः। स्पर्शनरसनघ्राणनिर्वृत्तौ त्रीन्द्रियजातिः। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्निर्वृत्तौ च चतुरिन्द्रियजातिः। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रनिर्वृत्तौ पञ्चेन्द्रियजातिः। स्वकर्मवशात् गच्छन्ति, अत्र कस्य का शाश्वता जातिः ? तस्मान्न युक्तो जातिमदः ॥ ८२ ॥

अर्थ—कर्मके वशसे प्राणी इन्द्रियोंकी रचनासे होनेवाली अनेक जातियोंमें जन्म लेता है। यहाँ किसकी कौन जाति स्थायी है ?

भावार्थ—जाति-भेदका कारण इन्द्रियोंकी रचना है। एक स्पर्शन इन्द्रियके होनेपर एकेन्द्रिय जाति है। स्पर्शन और रसनाके होनेपर दोइन्द्रिय जाति होती है। स्पर्शन रसना और घ्राणके होनेपर तेइन्द्रिय जाति होती है। स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षुके होनेपर चौइन्द्रिय जाति है। स्पर्शन रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत्रके होनेपर पञ्चेन्द्रिय जाति होती है। इन जातियोंमें जीव अपने अपने कर्मके अनुसार जन्म लेता है। यहाँ किसीकी कोई जाति हमेशा नहीं रहती। अतः जातिका मद करना ठीक नहीं है।

कुलमदमुद्दासयन्नाह—

अब कुलके मदको दूर करनेके लिए उपदेश देते हैं:—

रूपबलश्रुतिमतिशीलविभवपरिवर्जितांस्तथा दृष्ट्वा ।
विपुलकुलोत्पन्नानपि ननु कुलमान परित्याज्य ॥ ८३ ॥

टीका—पितृसम्बन्धः कुलम्। तच्च विस्तीर्णं लोकख्यातम्। तत्र चोत्पन्नो रूपपरिहीणकः पुरुषो योषिद्वा विरूपा यस्याश्चयाणा हुण्डसंस्थानाकृतिः। रूपं शारीरम् तेन परिहीणः सर्वस्य परिभूतः। श्रुतेन परिहीनोऽत्यन्तमूर्खो निकृष्टो मातृकामपि नाजानाति। मति—बुद्धिः, साऽपि हिताहितप्राप्तिपरिहारक्षमा नास्तीत्येवम्पा परिहीणकः। शीलं सदाचारता द्यूतपरदाराऽनृतभाषणतस्करत्वनिष्ठुरत्वादिपरित्यागलक्षणम्। विभवो धनधान्यकनकरजतादिसम्पत्। विपुलेषु कुलेषूत्पन्नानामपि शीलादिरूपादिकानवलोक्य। ननु नियमेनैव कुलमानो गर्वः परिहर्तव्यः गर्वाविषयत्वाभावादेव॥८३॥

अर्थ—लोक-प्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्योंको भी रूप बल शास्त्रज्ञान बुद्धि सदाचार और सम्पत्तिसे शून्य देखकर कुलका मद निश्चय ही छोड़नेके योग्य है।

भावार्थ—बड़े भारी कुलमें जन्म लेनेपर भी स्त्री अथवा पुरुष यदि कुरूप हुआ, निर्बल हुआ, अत्यन्त मूर्ख हुआ, हित और अहितका विचार करनेकी बुद्धि न हुई, जुआरी, परस्त्रीगामी (पर पुरुषगामी), असत्यवादी और चोर हुआ, पासमें धन-धान्य सम्पदा न हुई तो सभी उसका तिरस्कार करते हैं। अतः कुलका मद नियमसे नहीं करना चाहिए। क्योंकि उसमें गर्वके लिए कोई स्थान नहीं है।

अपि च—

और भी—

> यस्याशुद्धं शीलं प्रयोजनं तस्य किं कुलमदेन।
> स्वगुणाभ्यलङ्कृतस्य हि किं शीलवतः कुलमदेन ॥८४॥

टीका—शीलमेव यस्योपहतमसदाचाराद्दुष्टमागात् तस्यैं स्वात्म्य एव कुलमदः प्रयोजनाभावात्। शुद्धे तु शीले सत्यपि नाम गर्वः, कुशीलस्य हि गर्वो शीलशीलमेव सम्पद्यति। स्वगुणा रूपबलश्रुतबुद्धिविभवादयो यस्य सन्ति स तैरेवालङ्कृतः अतः शीलवतोऽपि न किंचित् कुलमदेन। इति परित्याज्यः कुलमदः, इति परिहार्यः॥ ८४॥

अर्थ—जिसका शील दूषित है, उसका कुलके मद करनेसे क्या प्रयोजन है? और जो शीलवान् है, वह अपने गुणोंसे ही भूषित है। उसे भी कुलका मद करनेसे क्या प्रयोजन है?

भावार्थ—शीलके शुद्ध होनेपर गर्व करना ठीक भी है, कुशील मनुष्यका गर्व तो कुशीलता को ही बढ़ाता है। किन्तु जो रूप बल श्रुत, बुद्धि, सम्पत्ति वगैरहसे भूषित होते हुए शीलवान् है, उसे भी कुलका मद करना शोभा नहीं देता क्योंकि उसके गुण ही मद करनेके लिए पर्याप्त हैं। उसे कुलका मद करनेसे क्या काम?

रूपमदोऽपि न कार्य इति दर्शयति—

रूपका भी मद न करना चाहिए, यह बतलाते हैं—

१—विपुलमदः—प०। २—या हुण्डकुब्जवामन—फ० ब०। ३—मातृका—मु०। ४—स्यान्नाम एव—प०। ५—गर्वं—प०।

क शुक्रशोणितसमुद्भवस्य सततं चयापचयिकस्य ।
रोगजरापाश्रयिणो मदावकाशोऽस्ति रूपस्य ॥ ८५ ॥

टीका—शुक्रं पिता निसृष्टं वीर्यम्। शोणितं मातुर्योनौ स्फुटितस्फोटकभूतम्। एत-स्माद्यस्त् समुद्भवस्य शरीरस्य। बीजबिन्दोराधानात्प्रभृति कललार्बुदमांसपेश्याद्याकारेणोपचय गच्छन् गर्भः शिरोग्रीवाबाहूरःस्थलोदरपादविभागेन वर्धते, रसहारिण्या च जनन्यभ्यवहृताहार रसोपयोगात् सम्पूर्णाङ्गावयवो नवमे मासि दशमे वा मातुरुदराद्विनिर्गच्छति। ततोऽपि स्तनक्षीर पीतकाभ्यवहारात् कुमारयौवनमध्यमस्थविरावस्थाभिः शरीरं चयापचययुक्तम्। पथ्येष्टाहारपरि णतेरुपचयो वृद्धिः अपथ्यानिष्टान्नपानोपयोगादपचयो हानिः। तौ चयापचयौ यस्य तच्चयाप चयिकम्। निरुजस्य वा उपचयः, मान्द्यादिभिरपचयः। रोगा ज्वरातीसारकासश्वासादयः। जरा पूर्वावस्थात्यागेनोत्तरावस्थावस्कन्दनं यावदत्यन्तस्थविरावस्थेति। रोगजरयोरपाश्रयि स्थानं शारीरकमाश्रयः। एवंभूते शुक्रादिसप्तकनिष्पन्ने देहे को मदावकाशः किं गर्वनिमित्तं रूपस्येति ? ॥ ८५ ॥

अर्थ—यह रूप रज और वीर्यसे उत्पन्न होता है। सदैव घटता-बढ़ता रहता है। रोग और जराका घर है। उसमें मद करनेका क्या स्थान है ?

भावार्थ—पिताके वीर्य और माताके रजसे शरीर बनता है। शुक्राधानसे लेकर कलल, अर्बुद माँसपेशी वगैरह आकार धारण करता हुआ गर्भ सिर, गर्दन हाथ, छाती उदर वगैरह रूपसे बढ़ता है, और माताके द्वारा खाये गये भोजनके रससे अङ्ग उपाङ्ग पूरे बन जानेपर नौवें अथवा दसवें माहमें माताके उदरसे बाहर आता है। उसके बाद भी माताके स्तनोंका दूध पीकर कुमार, यौवन प्रौढ़ और वृद्ध अवस्थाको धारण करता है। अतः शरीर हानि और वृद्धिसे युक्त है। पथ्य और रुचिकर भोजनके मिलनेसे पुष्ट होता है और अपथ्य तथा अरुचिकर भोजनके मिलनेपर दुर्बल हो जाता है। अथवा नीरोग दशामें पुष्ट होता है और मन्दाग्नि वगैरह होनेसे दुर्बल हो जाता है। ज्वर अतीसार, खाँसी, श्वास वगैरह रोगोंका तथा बुढ़ापेका घर है। ऐसे शरीरमें कौन ऐसी बात है, जिससे इसके रूपका गर्व किया जाय ?

नित्यं परिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुषपूर्णे ।
निश्चयविनाशधर्मिणि रूपे मदकारणं किं स्यात् ॥ ८६ ॥

टीका—नित्यमिति सर्वदा परिशीलनीयं संस्करणीयम्। यस्मान्नवभिः [1]भाण्डोदरैः सदैवान्तर्गतं मलं दूषिकाकर्णमलश्लेष्मपूतिगन्धप्रस्वेदमूत्रपुरीषस्नेहाद्युद्वमति शारीरकम्। स्नपनमर्दन-

१—बीजम्-प । २-स्फोटकभूतम् मु । ३—जन-प । ४—बाहु इस्त पाद पेटादि ! मांसन वर्धते प । ५—स्पीतकाभ्यवहारा—फ ब । ६—व्यस्य—प । ७—स्यभावि प—प । ८—दशमिरादि—फ ब । ९—रोगे प । १०—आदिः प । ११—एवं प—फ ब । १२—भोजना—फ ब ।

संमार्जनादि प्रतिक्षणमपमापयति, अनिर्विण्णो रूपवान्। त्वचा चर्मणा मांसेन च अवगता मलिन आच्छादिते स्थगिते। अशुचि मूत्रपुरीषरुधिरमेदोमज्जास्थिस्नायुप्रभृति तेन पूर्णे व्याप्ते। विनाशधर्मो यस्यास्ति तद्विनाशधर्मि। निश्चयेन अभ्यर्थतया अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानानुलेपनप्रतिविशिष्टअन्नपानप्रतिपालितमपि विनश्यति यद्यन्ते कृम्यादिपुञ्जो वा भस्मराशिर्वा शुष्कचर्मास्थिकलेवरमात्रं वा भवति। एवंविधे च रूपे किं पुनर्भवेत् मदकारणं यत्र मायन्ति निर्विवेका रूपमात्रात् ॥ ८६ ॥

अर्थ—यह नित्य ही सत्कार करने योग्य है। चर्म और माँससे ढका हुआ है। मलसे भरा है और निश्चयसे नष्ट होनेवाला है। ऐसे रूपमें मदका क्या कारण है?

भावार्थ—शरीरमें नौ मलद्वार हैं। उनसे सदा कीच, नाक, थूक, कान, वीर्य मूत्र, विष्ठा, पसेव वगैरह मल बहा करता है। रूपवान् रागी मनुष्य हरसमय उसकी सफाईका ध्यान रखता है। चर्म और रक्त माँससे यह ढका हुआ है। किन्तु उसके अन्दर मूत्र, विष्ठा, मल, चर्बी, मज्जा, हड्डी, नसें वगैरह गन्दी चीजें भरी हुई हैं। तेल उबटना, स्नान लेप और अच्छे-अच्छे खान-पानसे इसका लालन पालन करनेपर भी यह नाश नष्ट होता है। अन्तमें यह या तो कीड़ोंका ढेर बन जाता है या राखका ढेर बन जाता है, अथवा हड्डी और चमड़ा मात्र रह जाता है। ऐसे रूपमें मद करनेका क्या कारण है! जिससे मानस्य रूपवाले उसका मद करते हैं।

बलका मद नहीं करना चाहिए —

बलसमुदितोऽपि यस्मान्नर क्षणेन विबलत्वमुपयाति।
बलहीनोऽपि च बलवान् संस्कारवशात् पुनर्भवति ॥ ८७ ॥

टीका—बलेन शारीरेण समुदितः सम्पन्नो[1] बलवानपि यस्मात् क्षणेन—स्वल्पेनैव कालेन भवति अतिविक्लवतर विधूपितबलत्वमार्तध्यान विगतबलो भवति। बलहीनोऽपि दुर्बलः सन्नपि धृतिमान् धर्मान्तरसा व्यवहारसंस्कारवशात् एव बलसम्पन्नो भवति जायते। संस्कारो[2] वासना कर्मविपाकः, तद्वशात् वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषात् इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अर्थ—बलवान् मनुष्य भी क्षणभरमें बलहीन हो जाता है और बलहीन[1] भी पुष्टिकर भोजन वगैरहके सेवनसे अथवा वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे बलवान् हो जाता है।

भावार्थ—मनुष्यको अपने बलका भी मद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह बल जिसका मनुष्य गर्व करता है, कोई स्थायी वस्तु नहीं है। अच्छेसे अच्छा बलवान् भी प्रबल रोग आदिके निमित्तसे क्षणभरमें बलहीन देखा जाता है और बलहीन मनुष्य भी वीर्यान्तरायके क्षयोपशम और बलप्रद साधनोंसे बलशाली देखा जाता है। अतः बल भी गर्व करनेकी वस्तु नहीं है।

१—स्वल्पेनैव। २—विलि—फ ब। ३—व्यवहार—फ ब। ४—बल—फ ब। ५—संस्कारो व—मु०। ६—वेनाकर्म—फ० ब।

तस्मादनियतभाव बलस्य सम्यग्विभाव्य बुद्धिबलात् ।
मृत्युबले चाऽबलता मद न कुर्याद्बलेनापि ॥ ८८ ॥

टीका—अनियतो भाव सत्ता यस्य 'कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवति' इति बलम् उक्तेन न्यायेन इति सम्यग् विभाव्य विज्ञाय यथावत् । 'कथं पुनरभावो बलस्य ?' इत्याह— बुद्धिगम्यमेतत् इति प्रतिपादयति । मृत्युबले चोपतिष्ठमाने न शरीरबलं न स्वजनबलं न द्रव्यबलं क्षमते प्रतिक्रियार्थं । अतो मद न कुर्यात् सम्यग्विभावितत्वादसमर्थो बलेनापि ॥८८॥

अर्थ—अतः बुद्धिकी शक्तिके द्वारा बलकी अस्थिरताको भलीभाँति जानकर तथा मौतके सामने शारीरिक बलकी निर्बलताको देखकर बलका मद नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—बल सर्वदा नहीं बना रहता, यह बात हरेककी बुद्धिमें समा सकती है । और मौतके सामने आनेपर तो सभी बल बेकार होजाते हैं । अतः बलका मद नहीं करना चाहिए ।

लाभका मद नहीं करना चाहिए —

उदयोपशमनिमित्तौ लाभालाभावनित्यकौ मत्वा ।
नालाभे वैक्लव्य न च लाभे विस्मयः कार्य ॥ ८९ ॥

टीका—लाभान्तरायकर्मणः क्षयोपशमाल्लाभो भवति भक्तपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकादेः । लाभान्तरायकर्मोदयात्तु न लभते किञ्चिदपि । अतो नास्ति नित्यो लाभः नाप्यलाभः । नित्यानित्यौ च लाभालाभौ विज्ञाय नालाभे वैक्लव्यं दीनता कार्या नातिलाभे सति विस्मयो गर्वः कार्यः । यदि लभ्यते ततो धर्मसाधनं शरीरं धर्माय दशविधचक्रवालसामाचारीसमाचरणसमर्थं भविष्यति । न वैक्लव्यं तथाप्यदीनचेतसः साधोर्निर्जराभाक्त्वं भविष्यति । कर्मोदयक्षयोपशमजनितः अलब्धभावो न स्वतो लाभालाभलक्षण इति ॥ ८९ ॥

अर्थ—लाभान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे लाभ होता है और लाभान्तरायकर्मके उदयसे कुछ भी लाभ नहीं होता । अतः लाभ भी नित्य नहीं है और अलाभ भी नित्य नहीं है । ऐसा जानकर अलाभमें दीनता नहीं करनी चाहिए और लाभके होनेपर गर्व नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—यदि साधुको आहारादिकका लाभ हुआ तो वह धर्म-साधनके आधारभूत शरीर वगैरहका पालन करता है और यदि लाभ न हुआ तो भी दीनता रहित चित्तवाले साधुके कर्मोंकी निर्जरा होती है । अतः लाभ और अलाभको कर्मके क्षयोपशम और उदयका फल जानकर दोनोंमें सम-भाव रखना चाहिए ।

१–शाउब–प० फ० ब० । २–चोप–प० ब० । ३–प्रतिरि–फ । –प्रति ब । ४–न नि–प० । ५–नापि ल–प । ६ लभते–फ । ७–समर्थ–फ० ब० मु, । ८–लभा–फ० ब० ।

परशक्त्यभिप्रसादात्मकेन किंचिदुपभोगयोग्येन ।
विपुलेनापि यतिवृषा लाभेन मदं न गच्छन्ति ॥ १० ॥

टीका—परो दाता गृहस्थादिः, तस्य दानान्तरायक्षयोपशमजनिता शक्तिः, स्वशक्त्यनुरूपं ददाति । अभिप्रसादात्मकेनेति—अभ्युपगमाभिप्रसन्नं चेतो भवति साधुं प्रति, मुक्तिसाधने प्रवृत्तोऽयं तपस्वी निःसङ्गः समारम्भादिषु, पात्रभूतोऽस्मै दत्तं बहुफलं भवति । एवं लाभः परप्रसादात्मकः । स्वल्पमपि तद्यदि किञ्चिदेवोपभोगान्तरं साधयति, न पुनरयावज्जीविताय भवेत्तुष्टिं करोति । एवं वस्त्रादेरपि अनित्यत्वात् किञ्चिदुपभोगयोग्यत्वम् । एवंविधेन लाभेन यतिवृषा यतिप्रधानभूताः विपुलेन विस्तीर्णेन बहुना न मनागपि मदमुद्वहन्ति ॥ १० ॥

अर्थ—दाताकी शक्ति और प्रसन्नताके अनुरूप प्राप्त हुए कुछ उपभोगके योग्य बड़े भारी लाभसे भी मुनीश्वरोंको मद नहीं होता है ।

भावार्थ—दानान्तरायके क्षयोपशमसे दातामें दान देनेकी शक्ति प्रकट होती है । दाता अपनी उसी शक्तिके अनुसार दान देता है । तथा यदि दाताका चित्त साधुके प्रति प्रसन्न होता है कि यह साधु मुक्तिकी साधनामें लगा हुआ है, तपस्वी है, आरम्भ और परिग्रहसे रहित है, सत्पात्र है, इसे दान देनेसे बड़ा पुण्य होगा, तो दाता उस अपनी शक्तिके अनुसार दान देता है । अतः लाभ दाताकी शक्ति और प्रसन्नतापर भी निर्भर है । तथा दानमें प्राप्त हुआ वस्त्र औषध कुछ ही समयके लिए शरीरकी तृप्ति करता है । अतः ऐसे लाभसे, भले ही वह बड़ा भारी हो, श्रेष्ठ मुनि कभी मदको प्राप्त नहीं होते ।

बुद्धिका मद करना योग्य नहीं है —

ग्रहणोद्ग्राहणनवकृतिविचारणार्थावधारणाद्येषु ।
बुद्ध्यङ्गविधिविकल्पेष्वनन्तपर्यायवृद्धेषु ॥ ११ ॥
पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।
श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ॥ १२ ॥

टीका—अपूर्वसूत्रार्थयोर्ग्रहणसमर्था बुद्धिः, गृहीतं सूत्रमर्थो वा उद्ग्राहः—अन्यस्मै प्रतिपादनं बुद्धिविशेषणं । नवकृतिरिति—नवम्—अभिनवं स्वयमेव प्रकरणाध्ययनोपनिबन्धनादि करोति । विचारणा नाम सूक्ष्मेषु आत्मकर्मबन्धमोक्षादिषु युक्त्यनुसारिणी जिज्ञासा । आचार्योपाध्यायादिवचनविनिर्गतस्य शब्दार्थस्य सकृदेव ग्रहणं न द्विस्त्रिः । एवमाद्येषु इति आदि

१–स्वोपभोगे–प । २–स्वोचता–प । ३–न कि बहुना फ ब । ४–बुद्धिः–ब । ५–उद्ग्राहः अन्ये फ । ६–वै दत्तमर्थे–ब । ७–अध्ययनं–प फ ब मु । ८–पूर्वेऽ ब । –अर्थावधारणमाचार्यादिवचनविनिर्गतस्य शब्दार्थस्य सकृदेव ग्रहणं न द्विस्त्रिरुच्चारणादिभिः—ब ।

ऽवग्रहात् धारणा परिगृह्यते । बुद्धेरङ्गानि शुश्रूषाप्रतिप्रश्नग्रहणादीनि तेषां विधि—विधान आगमेन प्रतिपादनम्, तस्य विधेर्विकल्पास्तेषु । किंभूतेषु ? अनन्तैः पर्यायैर्वृद्धेषु । क्षयोपशमभेदा बुद्धिविकल्पाः परस्परमनन्तैः पर्यायैर्वृद्धाः असर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयत्वात् मतिश्रुतयोः, समस्तरूपिद्रव्यनिबन्धनत्वादवधेः तदनन्तभागवर्तिरूपिद्रव्यनिबन्धनत्वाच्च मनःपर्यायबुद्धेः । इत्येवं बुद्ध्यङ्गविधिविकल्पेषु अनन्तपर्यायवृद्धेषु सत्सु ॥ ९१ ॥

पूर्वपुरुषा गणधरप्रभृतयश्चतुर्दशपूर्वधरादयो मायमेधावयानुविद्धसानाः । सिंहा इव सिंहाः शौर्येणोपमानम् । परीषहकषायेन्द्रियकुञ्जरनिहननात् पूर्वपुरुषसिंहाः । विज्ञानातिशयो विज्ञानप्रकर्षः स एव सागरः समुद्रो विस्तीर्णत्वात् । अनन्तस्य भाव आनन्त्यं बहुत्वम् इत्यर्थः । क्षयोपशमज्ञानस्य प्रकर्षापकर्षवत्त्वादनन्ता विज्ञानातिशयसागरा बहव इत्यर्थः । अथवा श्रुते सर्वश्रुतग्रन्थे वैक्रियतेजोलेश्याक्षयागमनसंभिन्नश्रोतृत्वादयोऽतिशया बहुप्रकाराः त एव सागराः एकस्याप्यतिशयस्य दुरवगाहत्वात् । तदेतत् पूर्वपुरुषसिंहानां श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः दुर्षमाकालवर्तिनः कथं केन प्रकारेण स्वल्पया स्वधिषणया मायन्तीति ॥ ९२ ॥

अर्थ—ग्रहण, उद्ग्राहण, नवीन रचना करना, विचारणा तथा अर्थको अवधारण करना वगैरह और बुद्धिके अङ्गोंका आगममें जो विधान है, उसके अनन्त पर्यायोंकी वृद्धिको लिए हुए भेदोंमें पूर्व महापुरुष सागरके समान महान् ज्ञानकी अनन्तताको सुनकर आज कलके पुरुष अपनी बुद्धिका गर्व कैसे करते हैं ?

भावार्थ—अपूर्व सूत्रों और उनके अर्थको ग्रहण करनेमें, दूसरोंको समझानेमें, नवीन प्रकरण वगैरह रचनेमें, सूक्ष्म पदार्थोंका विचार करनेमें आचार्य वगैरहके मुखसे निकले हुए अर्थका एक बारमें ही अवधारण करने वगैरहमें हमारे पूर्वज बड़े दक्ष थे । तथा शास्त्रोंमें बुद्धिके 'सुननेकी इच्छा' वगैरह जो अङ्ग बतलाये हैं उनके भेद मतिज्ञान आदि हैं, जो परस्परमें अनन्त पर्यायोंकी वृद्धिको लिए हुए हैं । क्योंकि मति और श्रुत सब द्रव्योंको विषय करते हैं । अवधि समस्त रूपी द्रव्यको जानता है, और मनःपर्यय उसके अनन्तवें भाग रूपी द्रव्यको जानता है । इस प्रकार परस्परमें अनन्त पर्यायोंकी वृद्धिको लिए हुए जो बुद्धिके भेद हैं, वे भी हमारे उन चौदह पूर्वके पाठीसे लेकर ग्यारह अङ्गके ज्ञाता पूर्वजोंमें पाये जाते थे । इस प्रकार उनका ज्ञान सागरके समान गंभीर और अनन्त था । उनके इस ज्ञानातिशयको सुनकर आज-कलके क्षुद्र बुद्धिवाले मनुष्योंको अपने ज्ञानका गर्व नहीं करना चाहिए ।

किसीके प्रिय होनेका मद भी नहीं करना चाहिए :—

द्रमकैरिव चाटुकर्मकमुपकारनिमित्तकं परजनस्य ।
कृत्वा यद्वाल्लभ्यकमवाप्यते को मदस्तेन ॥ ९३ ॥

१–अर्थ पर्यायाः अर्थ—क. ख. । २–धरपूर्व–प. । ३–कपायकुञ्जर–ब. । ४–प्रतीहर प. –प. –ज्ञानातिश–मु. । ५–पूर्व–प० । ६–पुरुषमनुज–प. । ७–प्रकारेण स्व–प० ।

टीका—रङ्कैरिव चाटुशब्देन समानार्थश्चाटुशब्दोऽपि विद्यते। चाटुवचनाद्या उपकार प्रत्ययो भवति। चाटुकर्मैव चाटुकर्मकम्। अनुवृत्तिः तत्प्रयोजनानुष्ठानं तद्गुणप्रशंसा विप्रपादिदानम् इत्येवं कुर्वाणो लोकस्य वल्लभो भवति। आचार्यादीनामाभोदितमभ्युत्थानादि क्रियमाणं चाटुकर्म न दोषमावहति। उपकारो निमित्तं यस्य चाटुकर्मणः तदुपकारनिमित्तकम्। उपकारोऽनेन प्राग् मम कृत उपकरिष्यते वाऽतश्चाटुकर्म करोति। परजनस्य इति गृहस्थादिसुजनम्। तच्चाटुकर्म कृत्वा यदवाप्यते वाल्लभ्यकं को मदस्तेनेति—श्वेवावश्येमाविद्यायिनः पुरः स्थित्वा भक्तपुच्छचालनादि कृतोपकारस्य यद्वाल्लभ्यकमवाप्नोति किं तत्र विस्मितमिति ॥ १३ ॥

अर्थ—उपकारके निमित्त दीन मनुष्योंके समान दूसरे लोगोंकी चापलूसी करके जो उनका प्रेम प्राप्त किया जाता है, उसका क्या मद?

भावार्थ—इसने मेरा उपकार किया है, अथवा आगे करेगा यह सोचकर मनुष्य भिखारियोंकी तरह दूसरोंकी चापलूसी करता है। उसके पीछे-पीछे लगा रहता है, उसका काम करता है, उसकी बड़ाई करता है, और उसे बैठनेको आसन देता है। जिस प्रकार कुत्ता रोटीका टुकड़ा डालनेवालेके आगे खड़ा होकर अपने कान और पूंछ हिलाता है। इस तरहके कामोंसे दूसरोंका जो प्रेम प्राप्त होता है, उसमें कोई अचरज नहीं है। अतः उसका मद करना बेकार है।

गर्वं परप्रसादात्मकेन वाल्लभ्यकेन यः कुर्यात् ।
तद्वाल्लभ्यकविगमे शोकसमुदयः परामृशति ॥ १४ ॥

टीका—गर्वः—अभिमानः बहुजनवल्लभोऽहम् इति परप्रसादेन जनितः। परो हि चाटुकर्मकारिणः परितुष्टः कश्चित् प्रसादं करोति वस्त्रान्नपानादिकम्। तल्लाभेन च गर्वितो भवति। स चाटुकर्मकारिणं वाल्लभ्यकविगमे विगते—वाल्लभ्ये द्वेष्यत्वे जाते, शोकसमुदयः परामृशति स्पृशति—यथाऽनुवर्तितोऽयमेकपद एव निःस्नेहो जातः। यावन्ति चाटुकर्माणि कृतानि तावन्त एव शोकाः शोकसमुदयस्तेन स्पृश्यते। शोकविषत्तपीडाविशेषः ॥ १४ ॥

अर्थ—दूसरोंके अनुग्रहसे प्राप्त हुए प्रेमका जो मनुष्य गर्व करता है, उस प्रेमके नष्ट हो जानेपर उसे बड़ा भारी रंज होता है।

भावार्थ—चापलूसी करनेवालेसे प्रसन्न होकर दूसरे मनुष्य उसपर अनुग्रह करते हैं, उसे अन्न-वस्त्र देते हैं। उसीसे ही वे यह गर्व करता है कि मैं बहुतसे मनुष्योंको प्रिय हूँ। किन्तु जब प्रेमका स्थान द्वेष ले लेता है तब उसने जितनी भी खुशामद की थी, उतना ही उसे रंज भी उठाना पड़ता है कि इतनी खुशामद करनेपर भी अमुक मनुष्य एकदम ही दुश्मन बन गया।

श्रुतका मद नहीं करना चाहिए —

माषतुषोपाख्यानं श्रुतपर्यायप्ररूपणां चैव ।
श्रुत्वाऽति विस्मयकरं विकरणं स्थूलभद्रमुनेः ॥ १५ ॥

१–वर्तितो–प० फ० ब०।

सम्यक्कोद्यमसुलभं चरणकरणसाधकं श्रुतज्ञानम् ।
लब्ध्वा सर्वमदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ॥ ९६ ॥

टीका—स्वल्पेनापि श्रुतेन माषतुषो गृहीतेन जडमतिनाऽपि निर्वाणं साध्यते। असमर्थो बहुमागममध्येतुं करणजडत्वात् मेधावारणाविघाताच्च। तस्यैवंविधस्य गुरुभिरनुकम्प पदद्वयमर्पितम् मा रुष मा तुष इति रागद्वेषनिग्रहगमम्। तस्य तद् घोषयतः करण-वैकल्यादन्यथा स्थिरीभूतम् माषतुष इति। श्रूयते च तस्य निर्वाणावाप्तिः। तस्म बहुधीतं मयाऽयश्च परिज्ञायते इति निष्कारणो गर्वः। श्रुतपर्यायप्ररूपणा चैवम्—श्रु मागमः, तस्य पर्याया भेदाः—कश्चिदेकार्थव्याख्याकारी, कश्चिद्द्वयर्थव्यापी तथाऽप बह्वर्थव्यापी एकस्यैव सूत्रस्येति श्रुतपर्यायआकर्ण्य। अतिविस्मयकरम् विकुर्वणं वैक्रि सिद्धरूपनिर्माणं स्थूलभद्रमहर्षेरामिनिर्मायिकाणां दर्शनाय आगमाभियोगजनितं लब्धिविकुर श्रुतसम्प्रदायविच्छेदं च तस्य श्रुत्वा को नामैहिकापायमीत्याऽपि श्रुतमदं कुर्यात् ॥ ९५

आगमश्रीबहुश्रुतैराचार्यादिभिः सह सम्पर्कः–संसर्गः, उद्यम–उत्साहोऽभ्येतव्यायअभ च। सम्यक्कोद्यमाभ्यां सुलभम्–अनायासेन प्राप्यम्। चरणं मूलगुणाः, करणमुत्तरगुणा ते साधकम् निष्पादकम्। श्रुतज्ञानं लब्ध्वा–समासाद्य, सर्वेषां जात्यादिमदानामपनयनका मूलस्तेनैव कथं मदमादधीत आत्मनि ! न हि विषापहारि प्रयुज्यमानमगदं विषतां कल्पेतीति ॥ ९६ ॥

अर्थ—माषतुष मुनिके कथानकको सुनकर, श्रुतज्ञानके भेदोंकी प्ररूपणाको सुनकर औ स्थूलभद्र मुनिकी अत्यन्त आश्चर्यजनक विक्रियाको सुनकर कौन मनुष्य श्रुतका मद करेगा बहुश्रुत आचार्योंके संसर्गसे और अपने उत्साहसे अनायास प्राप्त होनेवाले, मूलगुण औ उत्तरगुणोंके साधक तथा सब मदोंको हरनेवाले शास्त्रज्ञानको प्राप्त करके उसका मद कैसे कि या सकता है ?

भावार्थ—भावपूर्वक ग्रहण किये हुए थोड़ेसे भी श्रुतसे जड़बुद्धि मनुष्यको भी निर्वाण प्रा हो सकता है। माषतुष मुनि जड़बुद्धि होनेके कारण बहुत आगे पढ़नेमें असमर्थ थे। उनपर द करके गुरु महाराजने उन्हें दो पद सिखला दिये—'मा रुष और मा तुष' अर्थात् रा मत करो और द्वेष मत करो। इन पदोंका उच्चारण करते करते उन्हें माषतुष याद रह गया इतने मात्रसे ही उन्हें निर्वाणकी प्राप्ति सुनी जाती है। अतः मैंने बहुत पढ़ा है, और मैं आपको स जानता हूँ ऐसा गर्व करना निःसार है। तथा आगमज्ञानके बहुतसे भेद हैं।
कोई एक अर्थकी व्याख्या करता है और कोई दो अर्थकी व्याख्या करता है। तथा कोई उस एक ह सूत्रके अनेक अर्थ करता है।

१–तद्, प। २–परिज्ञाता–प०। ३–नामिकार्यै–प०। ४–श्रेणायभ्रमत्वा–फ० ब। ५–तदर्थं–फ० ब।

तथा श्रुतज्ञान तो सभी मदोंको दूर करनेवाला है। श्रुतज्ञानको पाकर मद करना अत्यन्त अनुचित है। विषको दूर करनेके लिए दी गई औषधि विषको बढ़ाती नहीं है।

स्थूलभद्र महर्षिको विशिष्ट श्रुताभ्याससे विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई और उसके गर्वमें आकर उन्होंने दर्शनार्थ आई हुई आर्यिकाओंको भयभीतकर श्रुत-सम्प्रदायका विच्छेद किया।[1] अतः कौन व्यक्ति होगा जो इस घटनाको सुनकर श्रुतका मद करे?

एतेषु मदस्थानेषु निश्चये न च गुणोऽस्ति कश्चिदपि ।
केवलमुन्माद स्वहृदयस्य संसारवृद्धिश्च ॥ १७ ॥

---

१ पाटलीपुत्रमें एकत्र हुए महावीर-संघ की प्रार्थनापर विहारस्थ भद्रबाहुस्वामी पूर्वश्रुतकी वाचना देनेके लिए तैयार हो गये परन्तु वे इस शर्तपर तैयार हुए कि महाप्राणध्यान पूर्ण करनेके पश्चात्, ... कालमें और मध्याह्नके बाहर आने-जानेके समयमें ही वाचना दे सकेंगे। निदान ५ साधु-विद्यार्थी एवं १ उनके परिचारक साधु भद्रबाहुके निकट नेपालके अध्ययन निमित्त पहुँचे। परन्तु वाचनाक्रमके अनुकूल न होनेसे अन्य साधु तो भद्रबाहुके निकटसे चल दिये। उनमें से केवल स्थूलभद्र ही रह गये और उन्होंने सम्पूर्णतया अध्ययन करते हुए दशपूर्व सम्पूर्ण सीख लिए।

एक दिन स्थूलभद्र एकान्तमें भद्रबाहुसे पूर्वोका अध्ययन कर रहे थे। इसी अवसरपर उनकी सात बहिनें भद्रबाहुस्वामीके दर्शनार्थ आईं। उन्होंने वहाँ स्थूलभद्रको न देखकर उनके निवास-स्थानके सम्बन्धमें प्रश्न किया। भद्रबाहुने उन्हें उनका ठिकाना बतला दिया।

साध्वियाँ स्थूलभद्रके स्थानपर पहुँचीं, परन्तु उन्होंने अपनी श्रुत-शक्तिका परिचय करानेकी इच्छासे सिंहका रूप धारण कर लिया। साध्वियाँ डर गईं और भद्रबाहुस्वामीके निकट जाकर कहने लगीं—क्षमा-श्रमण! वहाँ स्थूलभद्र नहीं है, बल्कि एक सिंह है। भद्रबाहुने बतलाया कि स्थूलभद्र ही सिंहका रूप बनाये है। साध्वियाँ पुनः स्थूलभद्रका दर्शनकर कृतार्थ हुईं।

इसके बाद स्थूलभद्र भद्रबाहुके पास वाचना लेने पहुँचे। भद्रबाहुको सिंहके संबंधी वृत्तान्तका ज्ञान हुआ, उन्हें श्रुतकेवलि संभवी स्थूलभद्र द्वारा इस प्रकार श्रुतज्ञानका दुरुपयोग देखकर बड़ा खेद और आश्चर्य हुआ। वाचना देनेके निवेदनपर भद्रबाहु स्थूलभद्रसे कहने लगे—"हे आयुष्मन्! जो तुमने पढ़ा है वही बहुत है अब आगे पढ़नेकी कोई जरूरत नहीं।"

स्थूलभद्रने और मध्यस्थ साधुओंने वाचना देनेके लिए बहुत अनुनय-विनय की पर भद्रबाहु कहने लगे—"समझो, दिन-दिन समय नाजुक आता जा रहा है मनुष्योंकी मानसिक शक्तियोंका अतिशय ह्रास होता जा रहा है उनकी क्षमता और गंभीरता कम होती जा रही है। इस अवस्थामें शेष पूर्वोका प्रचार करनेमें मैं शुभ नहीं देखता।"

स्थूलभद्र अधिक वाचनाके लिए अत्याग्रह करते रहे। अतः भद्रबाहुने शेष चार पूर्वोको पढ़ाना तो स्वीकार कर लिया परन्तु स्थूलभद्रको उन पूर्वोंको दूसरोंको पढ़ानेकी आज्ञा नहीं दी।

इस प्रकार स्थूलभद्रके श्रुताभिमानके कारण उनके साथ ही चार पूर्वोंका नाश हुआ।

देखो वीर-निर्वाण सम्वत् और जैनकालगणना पृ. ९४—९८।

टीका—जात्यादिष्वष्टसु मदस्थानेषु एतेषु निश्चये परमार्थविचारणायां पर्यवसाने वा न खलु कश्चिद् गुणो दृश्यते ऐहिक आमुष्मिको वा। यदि नाम जातिर्विशिष्टा ततः किं स्यात्? हीना चेत्ततोऽपि किम्? केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य—यदि परमुन्माद उन्मत्तता ग्रहाविष्टस्येव यत्किञ्चन प्रलापित्वं स्वहृदयस्येति। स्वचित्तपरिणामा एतानि मदस्थानानि भवन्ति। स च हृदयपरिणामो बहिर्वर्तिन्या वाक्कायचेष्टयाऽवगम्यते। ततश्च संसारवृद्धिः—जन्मजरामरणप्रबन्धः संसारः, तस्य वृद्धिः—दीर्घीकरणमिति ॥ ९७ ॥

अर्थ—वास्तवमें इन मदोंके करनेमें कोई भी लाभ नहीं है। यह केवल अपने हृदयका उन्माद है और उससे संसारकी वृद्धि ही है।

भावार्थ—इस प्रकार ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर—इनमेंसे एक भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसके मदसे मनुष्यका कुछ विशेष लाभ हो। इनके मदमें मनुष्य सदैव उन्मत्त बना रहता है और आत्म-स्वरूपको भूलकर अनन्त संसारका बन्ध किया करता है। इसलिए गर्व किसी प्रकारका भी अच्छा और श्रेयस्कर नहीं है।

जात्यादिमदोन्मत्त पिशाचवद् भवति दुःखितश्चेह ।
जात्यादिहीनतां परभवे च निःसंशयं लभते ॥ ९८ ॥

टीका—जात्यादिनाऽष्टप्रकारेण मदेनोन्मत्तो हृत्पूरकभक्षणपित्तोदयात् व्याकुलीकृतोन्मत्तकरणपुरुषवत् पिशाचवद्वा भवति दुःखितश्चेह। कश्चित्पुरुषः पिशाचैर्लोकैः जनाकीर्णं देशमुत्सृज्य समुद्रमध्यवर्तिनं द्वीपमनुप्रविष्टः। तत्र चैको वणिग् विभिन्नपोतः प्रथमतरं गतः। तत्र चेक्षुवाटाः प्रभूताः। तद्रसपानात् केवलात् गुडपाकानीव गुडमुखेन विसृष्टानि। पुरीषपरिणामान्तराणि तानि तथाऽवलोक्य स पोतपिशाचकश्चखाद स्वादूनि। एवमास्ते प्रतिदिवसम्। एवञ्च कालान्तरेण हिण्डमानो वणिक्। ततश्चोद्विग्नस्तस्मादपि स्थानाद्विनिर्गतोऽन्यं द्वीपं गतः। तत्रापि वल्गुल्यादिदूषितानि फलानि भुङ्क्ते। एवं यत्र यत्र याति तत्र तत्र दुःखभाक्। एवंविधश्च परभवेऽपि हीनजात्यादिविशेषेणोत्पद्यते इति न युक्तो जातिमदः ॥ ९८ ॥

अर्थ—जाति वगैरहके मदसे उन्मत्त हुआ मनुष्य इस लोकमें पिशाचकी तरह दुःखी होता है। तथा परभवमें नियमसे नीच जाति वगैरहको प्राप्त होता।

भावार्थ—एक ब्राह्मणपर पवित्रताका भूत सवार हो गया। पवित्र रहनेकी इच्छासे वह मनुष्योंकी बस्तीको छोड़कर समुद्रके बीचमें स्थित एक द्वीपमें जाकर रहने लगा। किसी व्यापारीका जहाज समुद्रमें डूब गया था। बहता हुआ वह व्यापारी पहले-पहल उस द्वीपमें जा लगा। वहाँ ईख बहुत होती थी। केवल उसका रस पीनेसे व्यापारीको गुड़की लिण्डियाकी तरह टट्टी होने लगी। उस

१—जात्यादेरष्टा—प। २—हृद्—ब०। ३—पाम्यादि—फ० ब०। ४—दृढीकृत—फ० दीर्घक—प। ५—द्रुम—प०। ६—बाधाकु—प। ७—करण—प ब०। ८—पर्योद्रकाः—मु०। ९—भिन्न—फ० ब। १०—स्वाविर्गतोऽन्यं द्वीपं गतः—ब०। ११—यत्र यत्र—फ० ब०। १२—हिनेनोत्पद्यते—प।

बालपनमें इन मिश्रियोंको चखा और स्वादिष्ट लगनेपर प्रतिदिन उन्हींको खाकर खुश रहने लगा। एक दिन उसकी दृष्टि घूमते हुए व्यापारीपर पड़ गई। अतः उसे बड़ा उद्वेग हुआ और वह उस स्थानको भी छोड़कर दूसरे द्वीपमें चला गया। वहाँपर भी दूषित फलोंको खाता। इस तरह जहाँ जहाँ गया, वहाँ वहाँ उसे दुःख भोगना पड़ा। इसी प्रकार जिस पुरुषपर गर्वका भूत सवार होता है, उसे भी इस लोक और परलोकमें दुःख भोगना पड़ता है।

सर्वमदस्थानानां मूलोद्घातार्थिना सदा यतिना ।
आत्मगुणैरुत्कर्षः परपरिवादश्च संत्याज्यः ॥ ९९ ॥

टीका—तस्मात् सर्वेषां जात्यादिमदस्थानानामष्टानामपि यन्मूलं बीजं गर्वाख्यं तदुद्घातो विनाशः, तदर्थिना-मानकषायविजयार्थिना, सदा सर्वकालं यतिना मोक्षसाधनप्रवृत्तेन प्रयत्नवता, आत्मगुणैर्जात्यादिभिः उत्कर्षो गर्वः परेषां च परिवादः मर्मोद्घाटनं परिभवः परित्यजनीय इति ॥ ९९ ॥

अर्थ—अतः सब मदोंके मूल मानकषायको नाश करनेके इच्छुक मुनिको सर्वदा अपने गुणोंकी प्रशंसा और दूसरोंकी निन्दाको छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—मानकषाय ही सब मदोंका मूल है। जो साधु उसे उखाड़ फेंकना चाहता है, उसे न तो अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्दा करनी चाहिए।

कस्मात् पुनः परपरिवादस्त्याज्यते इत्याह

पर-निन्दा क्यों छोड़ना चाहिए, यह बतलाते हैं —

परपरिभवपरिवादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म ।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥ १०० ॥

टीका—परस्य परिभवः-न्यक्कारः किमनेन जात्यादिहीनेन इति। परिवादस्तु मर्मोद्घाटनम्-एवमेवं चाऽयमकरणीयं करोति। आत्मनश्चोत्कर्षणम्-जात्यादिभिरुत्कृष्टताख्यापनात् बध्यते-समादीयते कर्म नीचैर्गोत्राख्यम्। यत्र यत्रोत्पद्यते तत्र तत्र हीनजातिषु म्लेच्छदासचाण्डालादिषु तदनुभवति। ततश्च कर्मभयत्वात् संसारस्य तत्कृतं संसारपरिभ्रमणं जन्मजरामरणप्रबन्धम्। प्रतिभवमिति-भवाभिमुखं सकल भीतिप्रदम्। अथवा प्रतिभवम् भवे भवे इत्यर्थः। भवानां जन्मनां कोटिः। भवानां चासौ भवकोटिश्च अनेकभवकोटिः। भवकोट्यानेकया दुर्मोचं दुर्मोक्षं नानुभवितुं शक्यम् इत्यर्थः। नामगोत्रयोर्विंशतिकोटीकोट्यः स्थिति'' इति वचनात् ॥ १०० ॥

१—च परिभव—प । २-समाप्यते—प । ३— परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ''। तत्त्वार्थ ६ अ. सू-२४ । ४—भवम—प च । ५-जे सब हि—प । ६-कोटीकोट्य—प ।

अर्थ—दूसरोंके तिरस्कार और निन्दासे तथा अपनी प्रशंसासे भव-भवमें नीचगोत्रकर्मका बन्ध होता है, जो भवोंकी अनेक परम्पराओंमें भी नहीं भोगा जा सकता।

भावार्थ—नीचगोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण बतलाई गई है। अतः एक भवका बाँधा हुआ कर्म अनेक भवोंमें भी नहीं भोगा जा सकता। ऐसी दशामें भव-भवमें बाँधे हुए कर्मका भोग तो करोड़ों भवोंमें भी होना अशक्य है।

कर्मोदयवशाच्च हीनादिजातिषु जन्म भवति नाकस्मात् इति दर्शयति—

कर्मोदयके कारण ही नीच वगैरह जातियोंमें जन्म होता है, यह बतलाते हैं —

कर्मोदयनिर्वृत्तं हीनोत्तममध्यमं मनुष्याणाम् ।
तद्विधमेव तिरश्चां योनिविशेषान्तरविभक्तम् ॥ १०१ ॥

टीका—कर्मशब्देन गोत्रमेवाभिसम्बध्यते। हीनं नीचैर्गोत्रकर्मोदयात्, उत्तममुच्चैर्गोत्रकर्मोदयात्, मध्यमं व्यतिमिश्रकर्मोदयात्। मनुष्याणां तिरश्चां च त्रिविधमपि भवति तद्विधमेव तिरश्चाम् इति वचनात्। 'अधमोत्तममध्यमम्' इत्यर्थः। योनिविशेषान्तरविभक्तम् इति—तिर्यग्योनिविभेदेन मनुष्ययोनिभेदेन च विभक्तं कृतविभागम्। विशेषास्तु तिरश्चामेकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाख्याः, मनुष्याणां सम्मूर्छनगर्भव्युत्क्रान्तिविशेषाः[1]। अन्तरशब्दोऽन्यत्वप्रतिपादनाय। इति कारिकार्थं विवृतम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—मनुष्योंमें नीचपना, उच्चपना और मध्यमपना कर्मके उदयसे होता है। तिर्यञ्चोंमें भी उसी तरह जानना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि दोनोंमें योनिके भेदसे भेद पाया जाता है।

भावार्थ—यहाँपर कर्म शब्दसे गोत्रकर्म लिया जाता है। नीचगोत्रकर्मके उदयसे नीचपन होता है, उच्च गोत्रकर्मके उदयसे उच्चपन होता है और दोनों कर्मोंके उदयके मेलसे मध्यपन होता है। मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें ये तीनों ही पन पाये जाते हैं। इसमें तिर्यञ्चयोनि और मनुष्ययोनिके भेदसे भेद है। तिर्यञ्चोंके भेद एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं, और मनुष्योंके संमूर्छनजन्मवाले, गर्भजन्मवाले आदि भेद हैं।

एवमुक्तेन न्यायेन हीनादिजन्मप्रतिपत्तिः कर्मोदयजनितेति महद्वैराग्यकारणम्, तथेद मपरं वैराग्यस्य निमित्तमाख्याति—

इस प्रकार उक्त रीतिसे नीच वगैरह जन्मोंको कर्मोंका फल जानकर महान् वैराग्य उत्पन्न होता है। अब वैराग्यका अन्य भी निमित्त बतलाते हैं —

देशकुलदेहविज्ञानायुर्बलभोगभूतिवैषम्यम् ।
दृष्ट्वा कथमिह विदुषां भवसंसारे रतिर्भवति ॥ १०२ ॥

१-सम्मूर्छिम-प॰ ब॰। २-[illegible]

टीका—देशो मगधाङ्गकलिङ्गादिरार्यः, शकयवनकिरातादिरनार्यः । कुलमिक्ष्वाकुहरिवंशादिकम् अपरं म्लेच्छमातङ्गचाण्डालादिकुलम् । शरीरसमचतुरस्रसंस्थानविशेषविशेषो देहः, अपरः कुब्जहुण्डसंस्थानादिः । विज्ञानं विशिष्टो बोधो जीवादिपदार्थविषयः, अपरः मन्दप्रज्ञानपरिगतः विज्ञानहीनः । दीर्घेणायुषा यथाकालविभागवर्तिना युक्तः, अपरस्तु गर्भकौमारयौवनावस्थास्वपि अनियतायुः । बलं शारीरादि, तेन सम्पन्नो बलवान् अपरो दुर्बलः स्वशरीरमपि कथञ्चिद् धारयति । भोगवाननेकवस्त्रस्त्र्यादिसम्पदुपभोगसमर्थः अपरो भोगरहितस्ततोऽपि च भोगानसमर्थो भोक्तुम् । हिरण्यसुवर्णधनधान्यादिविभूत्या युक्त एकः, अपरो दारिद्र्याभिभूतो वराकः कष्ट-मिवसन् एषां देशादीनां सम्पद्विपर्ययवतां वैषम्यं विषमतां विलोक्य कर्मोदयजनिताम् कथं केन प्रकारेण, विदुषां बुद्धिमतां नरकादिभवसंसारे रतिः प्रीतिर्भवति ? इति कर्मोदयनिमित्तं शुभाशुभ लक्षणं देशादि विज्ञाय उद्वेगः संसारात्कार्यः । तस्मात् धर्मानुष्ठानादर एव श्रेयान् इति ॥ १०२ ॥

अर्थ—देश, कुल, शरीर, ज्ञान, आयु, बल, भोग और विभूतिकी विषमता देखकर विद्वानोंको इस नरकादिरूप संसारमें कैसे रति होती है ?

भावार्थ—कोई मगध, अङ्ग, कलिङ्ग वगैरह आर्य देशमें जन्म लेता है । कोई शक, यवन किरात वगैरह अनार्य देशमें जन्म लेता है । कोई इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि उच्च कुलोंमें जन्म लेता है । कोई भिखारियों वगैरहके नीच कुलमें जन्मते हैं । किसीका शरीर शुभ लक्षण और शुभ अवयवोंसे युक्त है, और किसीका शरीर कुब्जक, हुंडक वगैरह संस्थानवाला है । किसीको जीवादि पदार्थोंका विशिष्ट ज्ञान है और कोई बिल्कुल अज्ञानी है । किसीकी आयु खूब लम्बी और अपने समयपर पकनेवाली होती है, और कोई गर्भावस्थामें, अथवा कुमारावस्थामें अथवा भरजवानीमें ही मर जाता है । कोई बड़ा बली है और कोई बिल्कुल निर्बल है, कोई अनेक भोगोंको भोगनेमें समर्थ है और किसीके शक्ति होते हुए भी या तो भोगनेको भोग नहीं हैं या भोग-सामग्री होते हुए भी भोगनेकी शक्ति नहीं है । एक सोना-चाँदी, धन-धान्य वगैरह विभूतिसे युक्त है तो दूसरा गरीबीमें दिन काटता है । इस विषमताको देखकर विद्वान् मनुष्य संसारसे कैसे प्रीति कर सकता है ? उन्हें तो संसारसे वैराग्य ही करना चाहिए । अतः धर्म-ध्यानमें चित्त लगाना ही हितकर है ।

तथाऽपरं वैराग्यनिमित्तमाविर्भावयन्नाह—

वैराग्यके और भी निमित्त बतलाते हैं

अपरिगणितगुणदोषः स्वपरोभयबाधको भवति यस्मात् ।
पञ्चेन्द्रियबलविबलो रागद्वेषोदयनिबद्धः ॥ १०३ ॥

टीका—गुणाश्च दोषाश्च गुणदोषाः, अपरिगणितौ अनालोचिता गुणदोषाश्च येनासौ अपरिगणितगुणदोषः । प्रेक्षापूर्वकारी गुणान् दोषांश्च विचार्य गुणेषु प्रवर्तते, दोषान् परिहरति । यश्चानालोचितगुणदोषः स खलु स्वपरोभयबाधको भवति । स्वमात्मानं बाधतेऽपरञ्च बाधते ।

१–अपरस्त्वीक–फ च । २–अथ मना–प । ३–मा भैव–च ।

दोषप्रवृत्तावात्मानं बाधते, यथाऽयं प्रवृत्तस्तथाऽहमपि प्रवर्तयामि इति परमपि बाधते। पञ्चेन्द्रियवशेन विवशो विगतबलः। पञ्चेन्द्रियबलेन महताऽभिभूतत्वाच्छुभमार्गमयापितमाऽन्येन बलेन मार्गे प्रतिपादयितुमशक्यः इति विवशः। रागद्वेषोदयेन निबद्धो नियमितः रागद्वेषपरिगतः इत्यर्थः ॥ १०३ ॥ यस्मादनालोचितगुणदोष एवंविधो भवति—

अर्थ—अतः पाँचों इन्द्रियोंके वशके आगे निर्बल हुआ और राग तथा द्वेषके उदयसे जकड़ा हुआ मनुष्य गुण और दोषका विचार नहीं करता और अपनेको, दूसरोंको तथा दोनोंको कष्ट देता है।

भावार्थ—सोच-विचार कर काम करनेवाला मनुष्य गुण और दोषका विचार करके गुणोंमें प्रवृत्ति करता है और दोषोंको छोड़ देता है। जो गुण-दोषका विचार नहीं करता, वह दोषोंमें प्रवृत्त होकर अपनेको कष्ट देता है। तथा उसकी देखा-देखी दूसरे लोग भी दोषोंमें प्रवृत्त होते हैं। अतः वह दूसरोंको भी पीड़ाका कारण होता है। तथा पाँचों इन्द्रियोंके जालमें वह ऐसा फँस जाता है कि प्रयत्न करनेपर भी उसे सुमार्गपर लाना कठिन होता है।

तस्माद् रागद्वेषत्यागे पञ्चेन्द्रियप्रशमने च ।
शुभ परिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम् ॥ १०४ ॥

टीका—यस्मादेव तस्मात् यथा रागद्वेषयोरात्यन्तिकस्त्यागो भवति तथाऽनुष्ठेयम्। पञ्चेन्द्रियबले यथा प्रशाम्यति नोद्वृत्तशक्तिर्भवति तथा शुभपरिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम्। शुभ एव परिणामो यथा वस्तुतत्त्वविज्ञानादिव्याप्यते, शुभ परिणामावस्थाने यो हेतुः तस्य हेतोः प्रयत्नेनावस्थितिर्यथा स्यात् तथा चेष्टितव्यमिति ॥ १०४ ॥

अर्थ—अतः शुभ परिणामोंकी स्थितिके लिए राग और द्वेषके त्यागनेमें तथा पाँचों इन्द्रियोंको शान्त करनेमें प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—अतः गुण-दोषका विचार न करनेवाले मनुष्यमें उक्त बुराइयाँ पाई जाती हैं। अतः ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे राग और द्वेषका सर्वथा अभाव हो तथा पाँचों इन्द्रियोंकी शक्ति शान्त हो। और उसके लिए शुभ मार्गोंको प्राप्त करने तथा उन्हें बनाये रखनेका प्रयत्न करना चाहिए।

तत्कथमनिष्टविषयाभिकाङ्क्षिणा भोगिना वियोगो वै ।
सुव्याकुलहृदयेनापि निश्चयेनागमः कार्यः ॥ १०५ ॥

१—ते पञ्चेन्द्रियबलेन महता—फ० ब०। २—क्षमादिषु। ३—कः विमतबलो राग—फ० ब०। ४—गुरुत्व—ब०। ५—यत्नेन—प०। ६—स्थानस्य यो—प०। ७—प्रमितात्—फ० ब०।

टीका— तत्कथं चेष्टितव्यम् इत्याह—अनिष्टा विषया अत्यन्तमापेन व्यापेन, तान् आकाङ्क्षति अभिलषति येन अनिष्टविषयाभिकाङ्क्षिणा भोगिना भोगासक्तेन, कथमात्यन्तिको वियोगः स्यादेभिः सह इति । वैराग्यः पापपूर्णत्वे । मुहुर्व्याकुलहृदयेनापि वार्य व्यग्रहृदयेनापि सता । निश्चयेन यथावद् विज्ञाय एतानिष्ट पत्र पापायत्तत्वान् शब्दादिविषयान् । आगमः क्षपा—आगमो भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतोऽभ्यासितव्यः कार्यः । तदर्थः विषयाणामात्यन्तिकः स्वात्मनि भवयो भवत्यनेनाभ्युपायेनेति ॥ १ ५ ॥

अर्थ—(प्रश्न)—अनिष्ट विषयोंकी इच्छा करनेवाले भोगासक्त मनुष्यसे इन विषयोंका वियोग कैसे हो सकता है ? (उत्तर)—हृदयके अत्यन्त व्याकुल होनेपर भी इन विषयोंको जानकर आगमका अभ्यास करना चाहिए)

भावार्थ—पहले यह प्रश्न किया गया है कि जब मनुष्य भोगोंमें आसक्त है और रात-दिन भोगोंकी वाञ्छा करता रहता है तो वह उन विषयोंका त्याग कैसे कर सकता है ? बादमें उसका उत्तर दिया गया है कि भोगोंके लिए हृदयके आकुलित होनेपर भी पहले उसे भोगोंकी वास्तविकताको जानना चाहिए, कि ये विषय इसलोक और परलोकमें दुःखदायी हैं । उसके बाद भगवान् अर्हन्तदेवके द्वारा उपदिष्ट आगमका अभ्यास करना चाहिए । इस उपायसे उन विषयोंकी इच्छा बिलकुल नष्ट हो जाती है ।

कथं पुनरनिष्टा विषयाः' इत्याह—
विषय अनिष्ट क्यों हैं ? यह बतलाते हैं —

आदावत्यभ्युदया मध्ये शृङ्गारहास्यदीप्तरसा ।
निकषे विषया बीभत्सकरुणलज्जाभयप्राया ॥ १०६ ॥

टीका—आदौ प्रथमं कुतूहलकुतुकत्वया अत्यभ्युदयम् उत्सवभूतम् मन्यते । उत्सवं आगमिष्यतीति भवत्यानन्दचेतसि प्रथमम् । मध्ये विषयप्राप्तौ सत्यां शृङ्गारेणापरपकुच-कण्ठाश्लेषमुखचुम्बनकरस्पर्शनप्रहारपरिहासप्रणयकोपादिमत्वात् दीप्तरसाः । निकषे इति— विच्छिन्नसंयोगोत्तरकाले विषयाः स्वशाद्यः प्रतिभान्ति बीभत्साः निवसनत्वात् प्रकट गुह्यपाङ्ग-विकृतदर्शनात् । करुणास्तु बहुविधपरिखेदकष्टसम्भवात् करुणाभयस्थानकष्टापायत्वात् । परिसमाप्तप्रयोजना च लज्जिततरमाचष्टे त्रपावती निवसनादि बिभेति च गुरुजनादासङ्गे 'मां मैथुनविषयमद्राक्षीत् कश्चित्' इति । एवमेते विषया बीभत्सकरुणलज्जाभयप्रायाः प्रायन्ते । मध्येऽप्युचितदीप्तभोगवेदनाः आरम्भेऽपि कुतूहलोत्सुक्यमात्रमेव आतुविरस्वास्थ्यमापादयन्तीति व्याख्या ॥ १ ६ ॥

अर्थ—ये विषय प्रारम्भमें उत्सवकी तरह हैं । मध्यमें शृङ्गार और हास्यसे रसको उद्दीप्त करते हैं । और अन्तमें बीभत्स, करुणा लज्जा और भय पैदाको करते हैं ।

१-एवम्-क० ख । २-चक्रीभूत-क० ख । ३-करणकल-क० ख । ४-कुटिर-मु० ।
५-भाष्य-क० ख । ६-भेद कि कु-क ख । ७-भाः ब-क० ख ।

भावार्थ—प्रारम्भमें यह मनुष्य कुतूहलसे इन विषयोंको, उत्सवोंकी तरह मानता है। अर्थात् जैसे किसी उत्सवकी सूचना मिलनेपर उससे आनन्द होता है वैसा ही आनन्द विषयोंकी प्राप्ति होनेसे पहले होता है। विषयोंके प्राप्त होनेपर शृङ्गार वेष, अलङ्कार, हास्य, प्रेम-कोप और संभोगके अन्तमें सूखे हुए कामाङ्गोंको देखकर बड़ी ग्लानि होती है। नवोढाके चीत्कारको स्मरण करके उसपर दया आती है। एक दूसरेको नग्न देखकर लज्जा होती है। उस अवस्थामें गुरुजनोंके देख लेनेपर भय लगा रहता है। इस प्रकार अन्तमें ये विषय ग्लानि करुणा, लज्जा और भय वगैरहको उत्पन्न करते हैं। मध्यमें मोहकी तीव्र वेदनाको उत्पन्न करते हैं और प्रारम्भमें कुतूहल और उत्सुकता पैदा करते हैं। ये कभी भी मनुष्यको स्वस्थ नहीं होने देते। अतः छोड़नेके योग्य हैं।

'ननु च उपभुज्यमानाः सुखलेशेनोपभोक्तारमनुगृह्णन्तो विषयाः' इत्येतदधिकारे पठति—

विषय-भोगसे मनुष्यको थोड़ा-बहुत सुख भी होता है, अतः विषय उपकारक हैं, इसका उत्तर देते हैं —

यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः ।
किंपाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥ १०७ ॥

टीका—निषेव्यमाणा उपभुज्यमानाः क्षणमात्रं यद्यपि मनोऽह्लादं जनयन्ति तथापि पश्चात् विपाककाले आपातरमणीया अपि सन्तः किंपाकफलभक्षणोपमाः। किंपाकवृक्षफलानि हि रस-गन्धेनोल्बणवर्णानि स्वादूनि सुरभीणि च परिणतिकाले परासुतया योजयन्ति। अतो दुरन्ताः 'दुःखान्ताः' इत्यर्थः ॥ १०७ ॥

अर्थ—यद्यपि सेवन करते समय विषय मनको सुखकर लगते हैं, तथापि किंपाक वृक्षके फल-के भक्षणके समान अन्तमें दुःखदायी होते हैं।

भावार्थ—किंपाक वृक्षके फल खानेमें बड़े स्वादिष्ट और सुगन्धित होते हैं किन्तु पेटमें पहुँचते ही जहरका काम करते हैं। विषयोंको भी ऐसा ही जानना चाहिए।

तथाऽपरं निदर्शनमाह—

दूसरा उदाहरण देते हैं —

यद्वच्छाकाष्टादशमन्नं बहुभक्ष्यपेयवत् स्वादु ।
विषसंयुक्तं भुक्तं विपाककाले विनाशयति ॥ १०८ ॥

टीका—शाकं तीमनमष्टादश यस्य तत् शाकाष्टादशमन्नम्। बहुभक्ष्यं मोदकादि, पेयं पानकविशेषः सीधुमद्यादि वा, तदेतत् यथास्वयं तत्पेयवदन्नम्। स्वादु-मधुरादिरसयुक्तं विषसंयुक्तमिव भुक्तम्, विपाककाले परिणतिसमये यथा विनाशयति ॥ १०८ ॥

१-दर्भे फ० ब० । २-इत्यधिकारे प० -फ० ब० । ३-मेयोल्बिस-फ० ब० । ४-संविपाक-फ०, ब० । ५-मोदकामलकादि, प० । ६-विषसंयुक्तं फ० ब० । ७-अन्ते वि-फ० ब० ।

तद्वदुपचारसंभृतरम्यकरागरससेविता विषयाः ।
भवशतपरम्परास्वपि दुःखविपाकानुबन्धकराः ॥ १०९ ॥

टीका—दार्ष्टान्तिकमथ दृष्टान्तेन समीकरोति 'तद्वद्' इति। उपचारः—चाटुकर्म विनयप्रतिपत्तिः, तेनोपचारेण संभृतं बहुकृतं रम्यकं रमणीयत्वमतिशयप्रीतिहेतुत्वम्, रागः स्नेहविशेषः, तस्य रसो—ऽतिशयः, उपचारसंभृतरम्यकरागरसेन सेविता उपभुक्ता विषयाः शब्दादयः। तत्कर्मबन्धकारित्वात् विपाकदारुणत्वं स्फुटीकरोति पश्चार्धेन—भवशतानां परम्पराः पङ्क्तयः सन्ततयः तासु दुःखेन विपाकेन अनुबन्धकरणशीला दुःखानुबन्धकारिण इति ॥ १०९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बहुत प्रकारके शाक और बहुतसे खाने योग्य और पीने योग्य स्वादिष्ट वस्तुओंसे युक्त स्वादिष्ट भोजन यदि विषैला हो तो उसके खानेसे अन्तमें मृत्यु होती है। उसी प्रकार खुशामद और विनय वगैरहसे भरी हुई रमणीयता और अत्यन्त रागसे भोगे हुए विषय सैकड़ों भवोंकी परम्परामें भी दुःख-भोगकी परम्पराको करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—विषय-भोग सुस्वादु विषैले भोजनके समान अन्तमें दुःखदायी होता है। विषैले भोजनके खानेसे तो एक ही बार मृत्यु होती है। किन्तु विषयोंके सेवनसे भव-भवमें कष्ट उठाना पड़ता है।

अपि पश्यतां समक्षं नियतमनियतं पदे पदे मरणम् ।
येषां विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ॥ ११० ॥

टीका—पश्यतामपि समक्षं प्रत्यक्षेण प्रमाणेन मरणं नियतकालमनियतकालं च। देवनारकाणां नियतकालमेव। अनियतकालं मनुष्याणां तिरश्चां च। पदे पदे स्थाने स्थाने नारकादिजन्मनि आयासापायादिभेदे गोमहिष्यश्वादिभेदे च। अथवा नियतम् इति सर्वकालमेव अनियतं मनुष्यतिर्यगायुः सम्भवितमरणानाम्। एवमवगतामित्युर्योः स्वरूपाणामपि येषां विषयेषु रतिः आसक्तिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् कुशलः। तिर्यञ्च एव हि ते निर्बुद्धित्वादिति ॥ ११० ॥

अर्थ—जगह-जगह नियत और अनियत मरणको सामने देखते भी जिनकी विषयोंमें आसक्ति है, उन्हें मनुष्योंमें नहीं गिनना चाहिए।

भावार्थ—मरण दो तरहका होता है—एक नियत काल और दूसरा अनियत काल। देव और नारकोंका मरण नियत कालमें ही होता है; क्योंकि उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। तथा अनियत काल मरण मनुष्य गति और तिर्यञ्च गतिमें होता है। सभी गतियोंमें मृत्यु अवश्य है। संसारमें ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ मृत्यु न होती हो। अथवा दूसरा अर्थ ऐसा भी कर सकते हैं कि मरण

१–रसो विषय उप–प । २–भवाः शत–प० । ३–दा प० । ४–स्वरूपाणामपि येषां, फ० ब० । ५–[illegible] प्रि फ ब ।

सर्वदा ही अनियत है; क्योंकि आयु प्रत्येक समयमें क्षय हो रही है। और यह बात हम अपने सामनेके मनुष्यों और तीर्यञ्चोंमें प्रत्यक्ष देखते हैं। तो भी आयुको अनित्य जानकर भी जो विषयोंमें फँसे हुए हैं, उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिए। आसक्त होनेके कारण वे पशु ही हैं।

विषयपरिणामनियमो मनोऽनुकूलविषयेष्वनुप्रेक्ष्यः ।
द्विगुणोऽपि च नित्यमनुग्रहोऽनवद्यश्च संचिन्त्य ॥ १११ ॥

टीका—मनोऽनुकूला ये विषया इष्टाः शब्दादयस्तेषां विषयाणां परिणामोऽनुप्रेक्ष्यः-चिन्तनीय आलोचनीयः । इष्टपरिणामाः सन्तोऽनिष्टपरिणामा भवन्ति, अनिष्टपरिणामाश्चाभीष्टपरिणामा भवन्ति, नावस्थितः कश्चित् परिणामोऽस्ति । एवमनवस्थितपरिणामविषयविरक्तौ सत्यामनुग्रहो द्विगुणोऽनवद्यश्च संचिन्त्य । अनुग्रहः—गुणयोगः, स च द्विगुणः । बहुगुण एव द्विगुण उक्तः, द्विशब्दस्योपलक्षणत्वात्। अनवद्यश्चासौ पापबन्धाभावात् इत्यनुप्रेक्ष्यः ॥१११॥

अर्थ—मनके अनुकूल विषयोंमें विषयोंके परिणामके नियमका बारम्बार चिन्तन करना चाहिए और सदा निर्दोष तथा बहुगुणयुक्त लाभका विचार करना चाहिए।

भावार्थ—मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंके भावी परिणामका विचार करना चाहिए। अर्थात् अच्छे लगनेवाले विषय कालान्तरमें बुरे लगते हैं, और बुरे लगनेवाले विषय कालान्तरमें अच्छे लगने लगते हैं। उनका कोई परिणाम सर्वदा नहीं रहता। अतः अस्थिर परिणामवाले विषयोंसे विरक्ति होनेपर आत्माका बड़ा भारी दोष रहित कल्याण होता है। क्योंकि विषयोंसे विरक्ति होनेपर पापकर्मका बन्ध नहीं होता। अतः उस लाभका सर्वदा विचार करते रहना चाहिए।

इति गुणदोषविपर्यासदर्शनाद्विषयमूर्छितो ह्यात्मा ।
भवपरिवर्तनभीरुभिराचारमवेक्ष्य परिरक्ष्य ॥ ११२ ॥

टीका—इति इत्थं गुणान् दोषरूपेण यः पश्यति दोषांश्च गुणरूपेण प्रेक्षते, विपर्यासदर्शनाद् वैपरीत्यं युज्यते। विषयेषु शब्दादिषु मूर्छितः-तन्मयतां गतो य आत्मा। भवः संसारः, तत्र परिवर्तनं नरकादिषु जन्ममरणप्रबन्धः, तस्माद् बिभ्यद्भिः आचारमवेक्ष्य प्रथमाङ्गार्थमनुचिन्त्य परिरक्ष्यः परिपालनीय इति ॥ ११२ ॥

अर्थ—इस प्रकार गुण और दोषमें विपरीत दर्शन होनेसे यह आत्मा विषयोंमें आसक्त हो रहा है। संसार-भ्रमणसे डरनेवाले भव्य जनोंको आचारका अनुशीलन करके उसकी रक्षा करनी चाहिए।

भावार्थ—यह आत्मा गुणोंको दोषरूपसे देखता है और दोषोंको गुणरूपसे देखता है। इस विपरीत दर्शनसे विषयोंको सुखदायी समझकर यह उनमें लीन हो रहा है। जो भव्यजीव नरकादि गतियोंमें भ्रमण करनेसे डरते हैं, उन्हें आचाराङ्गके अर्थका अभ्यास करके अपनी आत्माकी रक्षा करनी चाहिए।

१–गुण एव ब–फ० ब० ।

स चाचारः पञ्चप्रकारः इति दर्शयति समासेन—

उस आचारके पाँच भेद हैं। संक्षेपमें उन्हें बतलाते हैं—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोवीर्यात्मको जिनैः प्रोक्तः ।
पञ्चविधोऽयं विधिवत् साध्वाचारः समनुगम्यः ॥ ११३ ॥

टीका—तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणः सम्यक्त्वाचारः। तदुपगृहीतो मत्यादिज्ञानपञ्चकाचारः। अष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाच्चारित्राचारः। तपोऽपि द्वादशभेदमनशनादि तप आचारः। वीर्यमात्मनः शक्तिर्वीर्याचारः। एवमेव पञ्चप्रकार आचारः प्रथमाङ्गार्थः तीर्थकृद्भिरर्थतोऽभिहितः, तच्छिष्यैश्च सूत्रीकृतः, विधिवत् समनुगम्यो विज्ञेयः। कः पुनर्विधिः? सूत्रग्रहणविधिस्तावत् कालयोगादिः, अर्थग्रहणविधिरनुयोगप्रस्थापनादिः। साधूनामाचारः साध्वाचारः—अहोरात्राभ्यन्तरेऽनुष्ठेयः क्रियाकलाप इति ॥ ११३ ॥

अर्थ—जिन भगवान्‌ने सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्यरूपसे आचारके पाँच भेद कहे हैं। साधुओंके इस आचारको विधिवत् जानना चाहिए।

भावार्थ—तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यक्त्वाचार है। सम्यक्त्वाचारसे युक्त पाँच ज्ञान ज्ञानाचार हैं। आठ प्रकारके कर्मोंको नष्ट करनेवाला चारित्राचार है। अनशन वगैरहके भेदसे बारह प्रकारका तप तपाचार है। आत्माकी शक्ति वीर्याचार है। इस प्रकार तीर्थङ्करदेवने आचाराङ्गमें पाँच आचारोंका अर्थरूपसे कथन किया है। उनके शिष्य गणधरदेवोंने उसे सूत्ररूपमें निबद्ध किया है। साधुओंके उस आचारको दिन-रातमें की जानेवाली क्रियाओंको विधिपूर्वक जानना चाहिए।

विभक्तस्याप्याचारस्य पञ्चधा प्रथमाङ्गस्याचारस्याध्ययनार्थाधिकारद्वारेण पुनर्भेदोपदेशोऽर्थनाय्यते समासेन—

इस प्रकार आचाराङ्गके आधारपर आचारके सामान्यसे पाँच भेद कहे हैं। उस आचाराङ्गके प्रथम श्रुतस्कन्धमें नौ अध्ययन हैं। अतः अब उनके आधारपर आचारके नौ भेद संक्षेपसे कहते हैं—

षड्जीवकाययतनालौकिकसन्तानगौरवत्यागः ।
शीतोष्णादिपरीषहविजयः सम्यक्त्वमविकम्प्यम् ॥ ११४ ॥

संसाराद् उद्वेगः क्षपणोपायश्च कर्मणां निपुणः ।
वैयावृत्त्योद्योगः तपोविधिर्योषितां त्यागः ॥ ११५ ॥

टीका—शस्त्रपरिज्ञायां षड् जीवनिकायाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाख्याः। तत्रादौ जीवास्तित्वप्रतिपादनं सामान्येन ततः पृथिव्यादिकायस्वरूपव्यावर्णनम्। तद्यथा, संसारोत्

१—वाक्य वा-फ., च । २—कस्याख्यान-फ., च ।

कमबन्धः। सद्गमविरतिश्च मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिपरिहाररूप इति। षट्सु जीवनिकायेषु यतना। प्रयत्नस्तद्रक्षणे ज्ञानपूर्वको व्यापार इति ॥ लोकविजये लौकिकसन्तानगौरवत्यागः-लौकिकसन्तानो मातृपितृभ्रातृभगिन्यः तेषां च स्वजनसम्बन्धिनः पत्नी-पुत्रादयः, तेषु गौरवम् आदरः स्नेहासक्तिः, तत्त्यागः। तथा क्रोधमानमायालोभकषायविजयो विधेयो बलवता क्षमादिना बलेन ॥ शीतोष्णीयाध्ययने शीतोष्णादिपरीषहविजयः-क्षुत्पिपासादिपरीषहद्वाविंशतेर्विजयः-अभिभवः। तत्र स्त्रीसत्कारपरीषहौ भावतः शीतौ शिष्टास्तूष्णाः शेषाः। सम्यक्त्वाध्ययने कुतीर्थिकदर्शनैः तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनमविकम्प्यं दृढं निश्चितं वर्ण्यते ॥ ११४ ॥

लोकसाराध्ययने- लोकसार इति धर्मश्रवणनाम आदिपदेनाभिहितिरिति। तत्र संसारादुद्वेगः हिंसादिप्रवृत्तो न मुनिः तद्विरतो मुनिरकिञ्चनः कामभोगेष्वप्रतिबद्धोऽनेकदोषदर्शनात्। धर्मलाभे संयमनियमाख्यं लोकसारमवेक्ष्यमाणः संसारयो मार्गमेवापरित्यजन् सारमेवासादयति लोकस्येति। धूताध्ययने स्वजनमित्रकलत्रपुत्रादिभिरपेक्षता तद्विधूननं तत्परित्यागः कर्मणां च ज्ञानावरणादीनां विधूननोपायः, श्रुतज्ञानानुसारिक्रियानुष्ठानं शरीरोपकरणत्यागश्चेति। महापरिज्ञायां मूलोत्तरगुणान् परिज्ञाय यथावदासेव्य सम्यगभ्यासयोगतिलब्धिर्मुपजीवनम्। प्रत्याख्यानपरिज्ञायाञ्च प्रत्याख्यातकर्तव्यानि व्यावृत्तेन सदा ज्ञानदर्शनचारित्रेषूद्युक्तेन भवितव्यमिति तदाह, वैयावृत्त्योद्योगः। विमोक्षयतनाध्ययने श्रावकाणां देशविमोक्षः साधूनां सर्वविमोक्षः क्षीणकर्मणां मुक्तानामात्मनोऽपि स्वधर्मिभिरेव कर्मभिर्बद्धस्य सकलकर्मणां वियोगो मोक्षः समयश्चो भक्तप्रत्याख्यानेङ्गिनीपादपोपगमनमरणैः यत्र वर्ण्यते। तपोविधिः आचाम्लादि गृहीतः। उपधानश्रुते

भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना स्वानुष्ठिततपोव्यावर्णनं योषित्त्यागो ब्रह्मचर्यस्थितरूपं कृतम्। एवमाचारे नवाध्यायनामकोऽयतो विमुक्तः ॥ ११५ ॥

अर्थ—छह जीवकायोंकी रक्षा करना, कुटुम्बी जनोंमें ममत्वका त्याग, शीत-उष्ण और परीषहोंको जीतना, निश्चल सम्यक्त्व, संसारसे घबराहट, कर्मोंके नाश करनेका कुशल उपाय, वैयावृत्यमें तत्परता, तपकी विधि और स्त्रियोंका त्याग—ये आचारके नौ भेद हैं।

भावार्थ—शस्त्रपरिज्ञा नामके पहले अध्ययनमें प्रारम्भमें सामान्यसे जीवके अस्तित्वका कथन किया है। उसके बादमें पृथिवीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकायका वर्णन किया है। उनका वध करनेसे संसारका कारण-कर्मबन्ध होता है। अतः मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे उनके वधका त्याग करके सबकी रक्षाका प्रयत्न करना चाहिए। लोकविजय नामके दूसरे अध्ययनमें माता-पिता-भाई-बहिन और पत्नी-पुत्र वगैरहमें आसक्तिके त्यागका कथन है। तथा

१—षट्जीवकायाः-प०। २—स्वजन सम्बन्धिनः-मु०। ३—अतिदृढम्-मु०। ४—नैक-फ० ब०। ५—प्रकर्षे-प०। ६—मोक्षमार्ग-मु०। ७—मूल परिज्ञायां मु०। —मैत्रीभावमित्यर्थ फ० ब०। ८—स्वभावात्-फ० ब०। ९—नास्ति पुस्तके-फ०, ब०। १०—जायते-फ० ब०। ११—कृतान् वशीकृत्य-मु०, -ब्रह्मचर्ये-ब०। १२—निर्वर्तस्व, फ०, ब०।

अथवा वनेचरके द्वारा क्रोध, मान, माया और लोभ कषायको जीतनेका विधान है। शीतोष्ण नामके तीसरे अध्ययनमें भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी आदि बाईस परीषहोंके जीतनेका कथन है। सम्यक्त्व नामके चौथे अध्ययनमें शंका आदि दोषोंसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धानरूप निश्चल सम्यग्दर्शनका वर्णन है। लोकसार नामक पाँचवें अध्ययनमें संसारसे उद्वेगका कथन है। क्योंकि जो हिंसा आदिमें लगा हुआ है, वह मुनि नहीं है। किन्तु जो हिंसा आदिमें अनेक दोष देखकर उनसे विरत हो जाता है तथा काम भोगसे विरक्त और अपरिग्रही होता है, वह मुनि है। लोकसारको जाननेवाला मुनि कुमार्ग छोड़कर लोकके सारको ग्रहण करता है। धूत नामके छठे अध्ययनमें कुटुम्बी मित्र आदि, पुत्र आदिसे निरपेक्ष रहनेका, उनके परित्यागका, ज्ञानावरणादिक कर्मोंके क्षय करनेके उपायका, सूत्रज्ञानके अनुसार आचरण करनेका और शरीर तथा उपकरणोंके त्यागनेका वर्णन है। महापरिज्ञा नामके सातवें अध्ययनमें मूल और उत्तरगुणोंको अच्छी तरह जानकर मन्त्र तन्त्र तथा आकाशगामी आदिके प्रयोग न करनेका विधान है। और प्रत्याख्यानपरिज्ञामें त्यागने योग्य वस्तुओंका त्याग करके विरक्त होकर ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें सदा तत्पर रहनेका विधान है। इसे ही वैराग्यसूत्रमें तत्पर कहा गया है। विमोक्षयतना नामके आठवें अध्ययनमें आत्माओंके एकदेश मोक्षका और साधुओंके सर्वदेश मोक्षका वर्णन है। अर्थात् आत्माओंके एकदेशसे कर्मोंका क्षय होता है। अतः उसका एकदेशसे मोक्ष कहा जाता है, और मुनियोंके समस्त कर्म छूट जाते हैं। अतः उनका सर्वदेशसे मोक्ष कहा जाता है। कर्मोंसे मुक्त होने ही का नाम मोक्ष है। भक्तप्रत्याख्यान इंगिनी और पादपोपगमन नामके द्वारा मोक्षका विस्तारसे वर्णन किया गया है। प्रधान होनेसे तपोनिधिका ग्रहण किया है। उपधानश्रुत नामक नौवें अध्ययनमें भगवान् वर्धमानस्वामीके तपका वर्णन है और शिष्योंके त्यागरूप आचरणका विधान है। इस प्रकार नौ अध्ययनोंके आधारपर आचारके भी भेद किये गये हैं।

सम्प्रति आचारोक्तेषु अध्ययनस्थानेषु विस्तरविशेषाधिकारं वर्ण्यन्ते—

अब आचाराङ्गके नौ अध्ययनोंसे लेकर विस्तारपूर्वक रचे गये द्वितीय श्रुतस्कन्धकी प्रथम चूलिकाके अधिकारोंका वर्णन है—

विधिना भैक्ष्यग्रहणं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्या ।
ईर्याभाषाम्बरभाजनैषणावग्रहाः शुद्धाः ॥ ११६ ॥

टीका—पिण्डैषणाध्ययने उद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जितो भिक्षाग्रहणो ग्राह्यः। शय्याध्ययने तत्र स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते स्थाने स्थातव्यम्, मूलोत्तरगुणशुद्धा शय्या ग्राह्या। ईर्याध्ययने भिक्षार्थमन्यादिक्रियाप्रवृत्तः ईर्यां याति पुरस्तात् युगमात्रनिरूपितदृष्टिः स्थावराणि जङ्गमानि च सत्त्वानि परिहरन् व्रजतीति। भाषाजाताध्ययने वाक्यमात्मपराविरोध्याश्रित्य

१—अप्रमादी मुनियोंको ध्यानमें तत्पर रहना भी ज्ञान और चारित्रमें ही तत्पर रहना है क्योंकि ये ध्यानादिके साधन हैं। २—पौरा मु०। ३—प्रमादे—प०। ४—भिक्षार्थ म—प। ५—शय्या—प। ६—अप्री—मु—फ० ब।

ध्ययनमिति । वस्त्रैषणाध्ययने मूलोत्तरगुणशुद्धं लक्षणयुक्तं वासः समादेयमल्पपरिकर्मादि । पात्रैषणायामपि षोडशादिदोषविशुद्धपात्रग्रहणमलोभादि यथोक्तमादेयम् । अवग्रहप्रतिमाध्ययनेऽवग्रहो देवेन्द्रराजगृहपतिशय्यातरसाधर्मिकाणां पञ्चधा । सर्वथा सर्वतः परिमितोऽवग्रहो याच्यो यत्र भाजनक्षालन प्रश्रवणपुरीषोत्सर्गस्वाध्यायस्थानयुक्तोऽवग्रहो योग्यः । इति प्रथमचूला समाध्ययनपरिमाणेयम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—विधिपूर्वक भिक्षाग्रहण, स्त्री, पशु और पण्डक (नपुंसक) से रहित शय्या, ईर्याशुद्धि, भाषाशुद्धि, वस्त्र, पात्र शुद्धि, और अवग्रहशुद्धि, ये प्रथम चूलिकाके सात अध्ययनोंके नाम हैं।

भावार्थ—पिण्डैषणा नामके अध्ययनमें उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे रहित भिक्षा ग्रहण करनेका विधान है। दूसरे शय्यैषणा नामक अध्ययनमें स्त्री, पशु और पण्डक (नपुंसक) से रहित स्थानमें ठहरनेका विधान है। ईर्याध्ययनमें कहा है कि जब साधु भिक्षा लेने वगैरहके लिए गमन करता है तो आगे एक युगप्रमाण (चार हाथ) पृथिवीको देखकर त्रस और स्थावर जीवोंकी रक्षा करता हुआ धीरे-धीरे गमन करता है। भाषा अध्ययनमें अपने और दूसरोंके अविरुद्ध सोचकर बोलनेका विधान है। वस्त्रैषणा नामके अध्ययनमें मूलगुण और उत्तरगुणोंकी शुद्धताके अनुरूप ऐसे वस्त्र लेनेका विधान है, जिसमें कम आरम्भ हो। पात्रैषणा नामके अध्ययनमें भी उद्गमादि दोषोंसे रहित पात्र लेनेका कथन है। अवग्रह मिल्कियतको कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं, लोकके मध्यमें सुमेरु पर्वतके नीचे स्थित आठ मध्य प्रदेशोंसे लेकर आधा दक्षिण भाग देवेन्द्रकी मिल्कियत है। भरत वगैरह क्षेत्र चक्रवर्ती राजाकी मिल्कियत है। गाँव, क्षेत्र (खेत), उद्यान, पहाड़ गुफा वगैरह उस स्थानके मालिक जागीरदारकी मिल्कियत है। जिस गृहस्थके घरमें ठहरना हो उस गृहस्थके घर वगैरह उस गृहस्थकी मिल्कियत है। और जिस स्थानमें समानधर्मी अन्य साधु वगैरह ठहरे हों, वह स्थान उन साधुओंकी मिल्कियत है। इन मालिकोंसे ठहरनेके लिए परिमित स्थानकी याचना करना चाहिए। वह स्थान इतना हो कि उसमें बर्तन धोने, मल-मूत्र त्यागने और स्वाध्याय वगैरह करने की सुविधायें हों।

सम्प्रति द्वितीयचूलासप्ताध्ययनानि सप्तकमभिधानानि, तान्यभिधत्ते—

अब सात सप्तकी द्वितीय चूलिकाके अधिकारोंको कहते हैं—

स्थाननिषद्याव्युत्सर्गशब्दरूपक्रिया परान्योन्या ।
पञ्चमहाव्रतदार्ढ्यं विमुक्तता सर्वसङ्गेभ्यः ॥ ११७ ॥

टीका—प्रथमाध्ययने स्थानं कायोत्सर्गाख्यं वर्ण्यते। द्वितीयाध्ययने निषद्यास्थानं निर्विघ्नस्वाध्यायमाख्यायते। तृतीयाध्ययने उच्चारप्रस्रवणत्यागयोग्यप्रदेशप्ररूपणं व्युत्सर्गस्थानमुक्तम्। चतुर्थाध्ययने शब्दाकारपरिणतद्रव्यग्रहणे सति रागद्वेषत्यागः। पञ्चमाध्ययने

१–मनकुरि प०। २–या वर्तेत प०। ३–भवन–प०। ४–प्रभव मु०। ५–[illegible] ॥ ११६ ॥ आचा., २ श्रु० १ चू०। ६–नाधिक–प०। ७–निषेध–प०।

नानाविधरूपदर्शनेन रागद्वेषपरित्यागः कार्यः। सप्तैककाध्ययनेनाभिसम्बन्धः— 'स्थानक्रिया निषद्याक्रिया' इत्यादि। षष्ठे परक्रियानिषेधः—प्रयत्नवतस्तपसि प्रवृत्तस्य निष्प्रतिकर्मशरीरस्य परो यदुपकरोति संस्करोति तदयुक्तम्। सप्तमाध्ययनेऽन्योन्यक्रिया परस्परक्रिया साऽपि निष्प्रतिकर्मवपुषो न युज्यत इति। तृतीयचूडा भावना। तत्राप्रशस्तभावनां विहाय प्रशस्तभावनाः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवैराग्यादिका भाव्याः एकैकमहाव्रतभावनाश्च यत्र' पञ्चमहाव्रतदाढ्यमिति। 'विमुक्ता सप्तकेभ्यः' इति चतुर्थचूलिकायां विमुक्त्यध्ययने कर्मणो विमुक्तिरशेषतो देशतो वापि चिन्त्यते—यावन्तः केचित् सम्बन्धास्तेभ्यो विमुक्तिरिति। निशीथाध्ययनं पञ्चमी चूडा चतसृषु चूडासु योऽतिचारस्तद्विशुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तदानं वदतीति ॥ ११७ ॥

अर्थ—स्थानक्रिया, निषद्याक्रिया, व्युत्सर्गक्रिया, शब्दक्रिया, रूपक्रिया, परक्रिया पाँच महाव्रतोंमें दृढ़ता और समस्त परिग्रहका त्याग—ये नौ अध्ययनोंके नाम हैं।

भावार्थ—पहले अध्ययनमें कायोत्सर्गके योग्य स्थानका वर्णन है। दूसरे अध्ययनमें स्वाध्याय करनेके योग्य स्थानका वर्णन है। तीसरे अध्ययनमें मल-मूत्रके त्यागनेके योग्य स्थानका वर्णन है। चौथे अध्ययनमें सुनाई पड़नेवाले शब्दोंमें राग और द्वेषके त्यागनेका वर्णन है। पाँचवें अध्ययनमें दिखाई पड़नेवाले अनेक प्रकारके रूपोंमें राग और द्वेषके त्यागनेका वर्णन है। छट्ठे अध्ययनमें परक्रियाका निषेध किया है। अर्थात् तपस्यामें लगे हुए साधुको गृहस्थ वगैरहके द्वारा की गई सेवा-शुश्रूषाकी इच्छा करना युक्त नहीं है। सातवें अध्ययनमें साधुओंके लिए परस्परमें एक दूसरेकी परिचर्या करनेको अयुक्त कहा है। द्वितीय चूलिकामें ये सात अध्ययन हैं। तीसरी चूलिकाका नाम भावना है। साधुको अशुभ भावनाओंको छोड़कर दर्शन ज्ञान चारित्र तप वगैरहकी शुभ भावनाएँ भानी चाहिए। एक एक महाव्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ होती हैं। उनके भानेसे पाँच महाव्रत दृढ़ होते हैं। चौथी चूलिका विमुक्त्यध्ययनमें एकदेश अथवा सर्वदेशसे कर्मोंसे मुक्त होनेका विचार किया गया है। अर्थात् जो कुछ परिग्रह है, उससे मुक्त होनेका उसमें वर्णन है। पाँचवीं चूलिकाका नाम निशीथाध्ययन है। उसमें चार चूलिकाओंमें जो अतीचार लग जाते हैं उनकी विशुद्धिके लिए प्रायश्चित्त देनेका वर्णन है।

साध्वाचारः खल्वयमष्टादशपदसहस्रपरिपठितः ।
सम्यगनुपाल्यमानो रागादीन् मूलतो हन्ति ॥ ११८ ॥

टीका—एवमेषः साधूनामाचारः—अनुष्ठानमाचारोऽस्मिन्नभिधीयत इत्यस्मिन् सुप्रतिष्ठितपदगमनयाऽष्टादशपदसहस्रात्मकः परिपठितः। पदं चार्थोपलब्धिस्तत्पदमिति। सम्यग्-यथोक्तेन विधिना ग्रहणधारणानुष्ठानाभ्यासाभिरनुपाल्यमानः—अभ्यस्यमानो रागद्वेषमोहान् समूलकाषं कषतीति। अथचापरो गुणः प्राप्यते॥ ११८॥

१—नानाविध प०। २—स्थानि—क व०। ३—वैयावृत्यादि—प। ४—वन प। ५—मने व—फ व। ६—देशसे अथवा सम्पूर्ण रूपसे कर्मयुक्त कहलाते हैं। विपरीतसे वर्ते कर्मयुक्त हैं। ७—[illegible] ८—[illegible] प। ९—[illegible]—प।

अर्थ—इस प्रकार अठारह हजार पदोंके द्वारा कहे गये साधुओंके आचारके विधिपूर्वक पालन करनेसे रागादिकका मूलसे नाश हो जाता है।

भावार्थ—जो साधु शीलके अठारह हजार भेदोंका विधिवत् पालन करता है और इनमें तनिक भी दोष नहीं लगने देता, उसका राग जड़से नष्ट हो जाता है।

आचाराध्ययनोक्तार्थभावनाचरणगुप्तहृदयस्य ।
न तदस्ति कालविवर यत्र क्वचनाभिभवन स्यात् ॥ ११९ ॥

टीका—आचाराध्ययनम्-आचाराङ्गम्, तत्रोक्तो योऽर्थस्तस्य भावना वासनाभ्यासः षड्जीवनिकाययतनादिका तदाचरणेन च गुप्तहृदयस्य मूलोत्तरगुणैर्गुप्तमनस्कस्य तदनुष्ठानव्यग्रस्य किं भवति' इत्याह—न तदस्ति कालविवरं कालछिद्रं क्वचन कश्चित्। यत्र छिद्रेऽभिभूयते कषायप्रमादविकथादिभिरनाचारैरिति ॥ ११९ ॥

अर्थ—आचाराङ्गके अध्ययनोंमें जो आचार कहा गया है, उसके भावनापूर्वक आचरणसे जिसका हृदय सुरक्षित है, कालका ऐसा एक भी क्षण नहीं है, जिसमें रागादिक उसे दबा सकें।

भावार्थ—जो आचाराङ्गमें कहे गये आचारोंका हृदयसे पालन करता है, वह कभी भी रागादिकके वशीभूत नहीं होता।

'तथा आचारार्थव्यग्रस्य न कोऽपि विभ्रमो मुक्तिपरिपन्थिनी साधोर्भवति' इत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि जिसका मन आचारमें रम जाता है, उस साधुको कभी भी मुक्तिकी बाधक कुबुद्धि उत्पन्न नहीं होती—

पैशाचिकमाख्यान श्रुत्वा गोपायन च कुलवध्वा ।
सयमयोगैरात्मा निरन्तर व्यापृत कार्यः ॥ १२० ॥

टीका—केनचिद् वणिजा मन्त्रबलेन पिशाचको वशीकृतः। पिशाचकेनोक्तम्-ममाहारदानमनवरतं कार्यम्। यदा त्वाहारं न लभे तदाऽहं भवन्तं विनाशयामि' इति। प्रतिपन्नश्च वणिजा, आज्ञा च दत्ता। गृहकरणधनधान्यानयनकनकरजतादिविभूतिरिष्टा यथाभ्यर्थं वणिजा सम्पादिता पिशाचकेन। पुनराज्ञा मार्गिता। वणिजाऽभिहितम्- 'दीर्घतमं वंशमानीय गृहाङ्गणे निखाय आरोहणमवरोहणञ्च कुर्वीयास्तावद्यावदन्यस्याज्ञादानस्यावकाशो भवति' इति। न चास्ति छिद्रं किञ्चिद् वणिजो यत्राभिभवः स्यादिति। साधोरप्याहाराभ्यन्तराद्युपयासु क्रियासु वर्तमानस्य नास्ति छिद्रं विस्रोतसागमनमिति।

अपरा कुलवधूः रूपलावण्यवती केनचिद् विटेन दृष्ट्वा प्रार्थिता परिभोगम्, प्रतिपन्नञ्च तया।

१–च गु–प। २–स्तदह–फ० ब०। ३–छिद्र कालछिद्रं–प। ४–ई यत्र–फ० ब०। ५–मूलत–फ ब। ६–च यान–फ, ब। ७–करादि–फ, ब। ८–नेन फ ब। ९–विक्षेप।

भक्ष्यो भवता वणिजाय तदभिप्रायं सततं गृहव्यापारे नियुक्ता । प्रातरेव गृहमार्जनगोपुच्छ-करणभाण्डप्रक्षालनादिभिर्भवपरम्परापरिवेषणभाजनमार्जनोपलेपनकण्डनघट्टनपाकप्रक्षालनाद्य-नेकव्यापारसमग्रा कृच्छ्रेण निद्रामासादयति । तस्याः सुदूरमेव विटप्रार्थना कथा व्यपेता । साधोरप्याचार-व्यग्रस्य विस्मरत्येवान्या विषयादिकथेति । अतः संयमयोगैरात्मा निरन्तरं व्यापृतः कार्यः—संयमः सप्तदशभेदः, तद्विषया योगव्यापाराः, तैरात्मा व्यापृतो व्यग्रः कार्य इति ॥ १२० ॥

अर्थ—पिशाचकी कथा और कुल-वधूके रक्षणको सुनकर आत्माको सर्वदा संयमके पालन करनेमें लगाये रहना चाहिए ।

भावार्थ—किसी वणिकने मन्त्र-बलसे एक पिशाचको वशमें कर लिया । पिशाचने कहा—मुझे सदा कोई न कोई काम करनेकी आज्ञा देते रहना चाहिए । जभी मुझे आज्ञा नहीं मिलेगी, तभी मैं आपको मार डालूँगा । वणियेने यह बात मान ली और उसे घर तैयार करने, उसमें धन-धान्य लाकर रखने तथा सोना चाँदी वगैरहसे भरपूर करनेकी आज्ञा दी । पिशाचने उसका पालन किया और फिर आज्ञा माँगी । वणिये ने कहा—एक बड़ा लम्बा बाँस लाकर उसे घरके आँगनमें गाड़ दो और जबतक मैं दूसरी आज्ञा न दूँ तबतक उसपर चढ़ो और उतरो । ऐसा करनेसे पिशाचको कोई ऐसा अवसर नहीं मिल सका, कि वह वणियेके प्राण ले सके । इसी प्रकार जो साधु दिन-रातके अन्दर आचरण करनेके योग्य क्रियाओंके पालनमें तत्पर रहता है, वह कभी भी प्रमाद वगैरहके वशीभूत नहीं होता ।

दूसरी कथा एक कुल-वधूकी है । किसी दुराचारीकी दृष्टि एक लावण्यवती सुन्दरीपर पड़ी । उसने उससे संभोगकी प्रार्थना की । वधूने उसे स्वीकार कर लिया । उसकी सासको जब यह बात मालूम हुई तो उसने बहूको घरके काम-धाममें लगा दिया । बेचारी बहू सुबह उठते ही घरमें झाड़ देती थी, उसके बाद गायोंको सानी करती थी उसके बाद बर्तन मलती-धोती थी, फिर रसोई बनाती थी, जब घरके सब लोग भोजन कर लेते थे तो फिर बर्तन मलती थी । घर लीपती थी धान्य वगैरह कूटती थी, हाथ-पैर धोती थी सासको तेल लगाती थी । इत्यादि अनेक कामोंमें दिन-रात लगी रहती थी । उसको सोनेका समय भी कठिनतासे मिल पाता था । इस प्रकार घरके काममें फँस जानेके कारण वह उस दुराचारी मनुष्यकी बात ही भूल गई । इसी प्रकार जो साधु अपने आचारके पालनमें दिन-रात लगा रहता है, उसे विषय वगैरहकी कथा भूल ही जाती है । अतः आत्माको सदैव संयमके व्यापारमें लगाये रखना चाहिए ।

अथ विहितक्रियानुष्ठानव्यग्र ऐहिकेषु भोगकारणेषु भावयेदनित्यताम् इत्याह—

इस प्रकार जो साधु शास्त्रविहित क्रियाओंके पालनमें तत्पर रहता है, उसे इस लोक सम्बन्धी भोगके कारणोंमें अनित्यताका विचार करना चाहिए, यह कहते हैं —

१-संपर्कै-प । २-वैरुव पा-मु । ३-त्या व्या-फ ब । ४-व्याहृयो-प० ।

क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदयाः सर्वे ।
सर्वे च शोकजनकाः संयोगा विप्रयोगान्ताः ॥ १२१ ॥

टीका—क्षणेन विपरिणामधर्माः । क्षिप्रमेव कुत्सायाम् । कुत्सितः परिणामो धर्मः—स्वभावः प्रीतिकारिणः सन्तोऽप्रीतिकारिणः परिणतिविशेषमापन्नाः स्वल्पेनैव कालेनान्यस्वभावा भवन्ति । मरणधर्माणो मर्त्याः तेषामृद्धिसमुदयाः विभूतिसमुदया धनधान्यहिरण्यसुवर्णादयः सर्वे दक्षिणोत्तरमधुरापुरनिवासिवणिग्द्वयविभूतिसमुदयवत् अन्यथाभावं प्रतिपन्नाः शोकहेतवो नियमेन स्युः । संयोगाः पुत्रपत्नीप्रभृतयो विप्रयोगान्ता एव भवन्ति । न खलु कश्चित्संयोगोऽस्त्यात्यन्तिकः । इति भावयतोऽभिलाषस्तेषु न भवतीति ॥ १२१ ॥

अर्थ—मनुष्योंकी सभी सम्पदा क्षणभरमें नष्ट होनेवाली है। और सभी संयोग अन्तमें वियोग वाले होनेके कारण शोकको पैदा करते हैं।

भावार्थ—मनुष्य स्वभावसे ही मृत्युका ग्रास है। उसकी धन धान्य सम्पदा भी क्षणभरमें ही नष्ट हो जाती है। जो वस्तुएँ उसे आज प्यारी लगती हैं, वे ही कल बुरी लगने लगती हैं। पत्नी, पुत्र वगैरहका सम्बन्ध भी अन्तमें वियोगके लिए ही होता है। कोई सम्बन्ध सर्वदा नहीं रहता। अतः उससे रंज ही होता है। ऐसा विचार करते रहनेसे उनमें अभिलाषा नहीं होती है।

तस्मान्न किञ्चिद् विषयसुखाभिलाषेण इति दर्शयन्नाह—
अतः विषय-सुखकी अभिलाषा करना व्यर्थ है, यह बतलाते हैं —

भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः ।
नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम् ॥ १२२ ॥

टीका—भुज्यन्त इति भोगाः शब्दादयः तज्जनितानि सुखानि भोगसुखानि । तानि चोक्तेन न्यायेनानित्यानि । किम् इति क्षेपे । न किञ्चित्तैरित्यभिप्रायः । भयबहुलानि चौरदायादाग्निभूपतिभ्यो नित्यमेवाशङ्कते । भोगसुखकारणेषु ऋद्धिसमुदयेषु भयबहुलेषु प्रभूतभयेषु । कांक्षितैः इति—अभिलषितैः । परायत्तैः इति—शब्दादिविषयायत्तैः । मनोहारिषु शब्दादिषु सत्सु सुखमुपजायते भोगवतामिति । तस्मात्तेषु अभिलाषमपहाय नित्यम्—आत्यन्तिकम्, अभयम्—अविद्यमानभीतिकम्, आत्मस्थम्—आत्मायत्तं न परायत्तं प्रशमसुखं सम्यक्त्वस्यारब्धविशुद्धस्योपशान्तकषायस्य यत्सुखं तद्विधम् । तत्रैव प्रयत्नः कार्य इति ॥ १२२ ॥

अर्थ—अनित्य, भयसे परिपूर्ण, और पराधीन भोगोंके सुखोंकी चाहसे क्या लाभ ? समता-रूपी सुख नित्य है, भयसे रहित है और अपनी आत्माके अधीन है। अतः उसीमें ही प्रयत्न करना चाहिए।

१–क्षरि–प०। २–नाम्ना वर्तः फ०। ३–मैदरः–ब। ४–भैः समानामी–प। ४–ब भा–ब०। ५–शब्द–फ०। ६–नानि–प०। ७–नव दक्षिणोत्तरमथुरावासके मथ–फ०, ब। ८–वृद्धि–फ० ब०। ८–भूहेतु–फ, ब०।

भावार्थ—भोगोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख अनित्य होता है, रात-दिन चोरोंका, कुटुम्बियोंका, आगका और राजाका भय लगा रहता है। तथा शब्दादिक विषयोंके प्राप्त होनेपर सुख होता है, अन्यथा नहीं होता। अतः उसकी चाह न करके राग और द्वेषके नाशसे उत्पन्न होनेवाले समतारूपी सुखको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह सुख नित्य है। इसमें किसी प्रकारका भय नहीं है और न यह परके अधीन है।

तच्च सुलभमेव इति दर्शयति—

यह सुख सुलभ है, यह बतलाते हैं—

यावत्स्वविषयलिप्सोरक्षसमूहस्य चेष्यते तुष्टौ।
तावत्तस्यैव जये वरतरमशठं कृतो यत्नः ॥ १२३ ॥

टीका—अक्षसमूहस्य-इन्द्रियग्रामस्य स्वविषयलिप्सोः शब्दादिविषयाभिलाषिणः शब्दादीन् स्वविषयान् लब्धुमिच्छतः, तुष्टौ निमित्ते कर्तव्ये यावानुपचेष्यते प्रयासः क्रियते। तावत्तस्यैव जये-अक्षसमूहस्याभिभवे निग्रहे नियमने वरतरं शोभनतरं, बहुगुणमशठं मायापरिहरणशुद्धेन चित्तेन यत्नः कृतः। 'वरतरमशठम्' इति क्रियाविशेषणम्। यत्र तत् क्रियते तत् वरतरमशठमिति। इत्थं प्रशमसुखं सुलभम् ॥ १२३ ॥

अर्थ—अपने विषयोंकी इच्छुक इन्द्रियोंकी सन्तुष्टिके लिए जितना प्रयत्न किया जाता है, उनके जीतनेमें छल-कपट रहित उतना ही प्रयत्न करना श्रेष्ठ है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ सदा ही अपने विषयोंको चाहती हैं। उन्हें संतुष्ट करनेके लिए मनुष्य जितना प्रयत्न करता है, उतना प्रयत्न यदि सरल चित्तसे इन्द्रियोंका दमन करनेमें किया जावे तो उससे प्रशम सुखकी प्राप्ति सहज ही में हो सकती है।

तथा—

यत्सर्वविषयकाङ्क्षोद्भवं सुखं प्राप्यते सरागेण।
तदनन्तकोटिगुणितं मुधैव लभते विगतरागः ॥ १२४ ॥

टीका—यत्सुखं सकलविषयसामग्र्यामाकाङ्क्षायाम् उद्भवम्-उत्पन्नम् सरागेण रागवता भूयासायासेन प्राप्यते। ततः सुखमनन्ताभिः कोटिभिर्गुणितम् अभ्यस्तं मुधैव विना मूल्येन विना आयासेन विगतरागः प्रशमसुखमवाप्नोतीति ॥ १२४ ॥

अर्थ—रागी मनुष्य सब विषयोंकी प्राप्तिसे उत्पन्न हुए जिस सुखको प्राप्त करता है, वीतरागी मनुष्य उससे अनन्त कोटिगुने सुखको सहज ही में प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—रागी मनुष्यको सांसारिक सुख पानेके लिए दुनियाभरके विषयोंकी इच्छा रहती है। उनकी प्राप्तिके लिए दिन-रात परिश्रम करता है तब कहीं थोड़ासा सुख मिलता है, किन्तु वीतरागी

मनुष्य समस्त चिन्ताओंसे मुक्त होनेके कारण उससे अनन्तगुणे सुखको बिना परिश्रम किये ही प्राप्त कर लेता है। क्योंकि आत्मिक-सुखके लिए किसी पर-पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती है।

और भी —

इष्टवियोगाप्रियसंप्रयोगकाङ्क्षासमुद्भवं दुःखम् ।
प्राप्नोति यत्सरागो न संस्पृशति तद्विगतरागः ॥ १२५ ॥

टीका—इष्टस्य वल्लभस्य पुत्रादेर्वा हिरण्यसुवर्णादेर्वा वियोगे, अनिष्टस्य चाप्रियस्य वा संयोगे इष्टे तावदविप्रयोगाकाङ्क्षा अनिष्टे च विप्रयोगाकाङ्क्षा तस्याः काङ्क्षायाः समुद्भूतम्-उत्पन्नं यद्दुःखं सरागो विषयसुखाभिलाषी यत् प्राप्नोति तद्दुःखं विगतरागो न संस्पृशति-नासादयति। विगतरागेण मध्यस्थेन तन्न प्राप्यते इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

अर्थ—इष्टका वियोग, अनिष्टका संयोग इष्टके वियोग न होनेकी इच्छा, और अनिष्टके संयोग न होनेकी इच्छासे होनेवाला जो दुःख सरागीको उठाना पड़ता है, वीतरागीको वह दुःख छूता भी नहीं है।

भावार्थ—इष्ट पुत्र वगैरहका वियोग हो जानेपर तथा अनिष्ट-अप्रिय वस्तुका संयोग हो जानेपर सरागीको बड़ा दुःख होता है तथा रात-दिन वह यही चाहता रहता है, किसी इष्ट वस्तुका उसके वियोग न हो और अनिष्टका संयोग न हो। किन्तु वीतरागी इष्ट और अनिष्टमें समबुद्धि होता है। अतः उसे इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगसे होनेवाला दुःख कभी नहीं होता।

प्रशमितवेदकषायस्य हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य ।
भयकुत्सानिरभिभवस्य यत्सुखं तत्कुतोऽन्येषाम् ॥ १२६ ॥

टीका—प्रशमिता प्रशमं नीता वेदकषाया येन। वेदाः स्त्री पुंनपुंसकाख्याः। कषायाः क्रोधादयः। वेदोदयात्पुमानभिलषति स्त्रियम्, स्त्री च पुमांसम्, तदुभयं नपुंसकः। तदुभयस्य [तदुभयस्य चाप्राप्तौ] अप्राप्तौ दुःखम्। प्रशमितवेदस्य तन्न भवति। क्रोधाद्यभ्यासदीपितोऽपि दुःखभागेव जायते। शमितकषायस्य तु तदभावः। हास्यं हसनं प्रकृतिः रतिः प्रीतिर्विषयेषु सक्तिः। अरतिरुद्वेगः। शोको मानसं दुःखमिष्टवियोगादौ। एतेषु हास्यादिषु मोहभेदेषु निभृतः स्वस्थः। सत्यपि हास्यकारणे नास्ति हास्यं न रतिनारतिः। सत्स्वपि तत्कारणेषु अनित्यता भावना ततश्च शोकोऽपि नास्त्येव। भयमिहलोकादि सप्तविधम्। कुत्सा जुगुप्सा निन्दा। साप्य-नित्यताभावनात एवाभिजिता। भयमपि सावष्टम्भमेव भयकारणापगमाद्वा विजयते। एवं भय-कुत्साभ्यामनभिभूतस्य यत्सुखं प्रशान्तचेतसः तत्कुतोऽन्येषां रागिणामिति ॥ १२६ ॥

१-निभृतस्य-फ०। २-पुंस्त्वामि-फ, ब०। ३-तदुभयाप्त-प०। ४-काराभावि-प० ब।
५- भय इत्यपि पुस्तकप्रतिष्वस्ति। ६-भयकुत्साभ्याम्-फ, प०। -भ्यामभिभूतस्य निर्भयस्य मु०।

अर्थ—जिसने वेद और कषायोंको शान्त कर दिया है, हास्य रति, अरति और शोकमें जो स्वस्थ रहता है, तथा भय और निन्दासे जो पराभूत नहीं होता, उसे जो सुख होता है, वह सुख दूसरोंको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

भावार्थ—वेदके उदयसे पुरुष स्त्रीकी अभिलाषा करता है, स्त्री पुरुषकी अभिलाषा करती है और नपुंसक दोनोंकी अभिलाषा करता है। उनके न मिलनेपर दुःखी होता है। किन्तु जिसका वेद शान्त हो जाता है, उसे वह दुःख नहीं होता। इसी प्रकार क्रोधरूपी आगमें जलता हुआ प्राणी भी दुःखी ही होता है। किन्तु जिसकी कषाय शान्त हो जाती है, उसे वह दुःख नहीं होता। इसी तरह हास्य वगैरहको भी दुःखका कारण जानना चाहिए। हँसीके कारण उपस्थित होनेपर भी जो हास्य नहीं करता, प्रीतिके कारण उपस्थित होनेपर भी किसीसे प्रीति नहीं करता, वियोगके कारण उपस्थित होनेपर भी उद्विग्न नहीं होता और शोकके कारण उपस्थित होनेपर भी शोक नहीं करता। जिसे न किसी प्रकारका भय सताता है और न जो निन्दाके वशमें होता है, उस समदर्शी मनुष्यको जो सुख होता है वह सुख दूसरे जनोंको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

पुनः प्रशमसुखस्यैवोत्कर्षं विषयसुखाद्दर्शयन्नाह—

फिर भी विषय-सुखसे प्रशमजन्य सुखको उत्कृष्ट बतलाते हैं —

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी ध्यानतपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
तं लभते न गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ॥ १२७ ॥

टीका—शङ्कादिदोषरहितः सम्यग्दर्शनसम्पन्नः यथार्थसमर्थं च मत्यादिविज्ञानेन युक्तः शुभध्यानबलेन च युक्तोऽपि केवलमनुपशान्तः—अप्रशमितक्रोधादिकषायोऽनुपशान्तः—तं गुणं न लभते न प्राप्नोति प्रशमगुणमुपाश्रितो यं गुणं लभते ज्ञानचारित्रोपचयलक्षणं निरतिशयसुखस्वरूपं च। न चानुपशान्तः तं गुणमवाप्नोतीति। तस्मात् प्रशमगुण एव यतितव्यमिति ॥ १२७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और ध्यान तथा तपोबलसे युक्त साधु भी यदि उपशान्त न हो तो उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता, जो गुण प्रशम गुणसे युक्त साधुको प्राप्त होता है।

भावार्थ—कोई साधु शङ्का आदि दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन, यथायोग्य मति वगैरह ज्ञान, और ध्यानसे युक्त हो और बड़ा भारी तपस्वी भी हो, किन्तु यदि उसके कषाय क्रोधादिक शान्त नहीं हुए हैं तो उसे उत्तम ज्ञान, उत्कृष्ट चारित्र वगैरह उन गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती, जो गुण, क्रोधादिकके जीतनेवाले साधुको सहज हीमें प्राप्त हो जाते हैं। अतः प्रशम गुणकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

भूयोऽपि प्रशमगुणोत्कर्षं व्यापयन्नाह—

फिर भी प्रशम गुणकी उत्कृष्टता बतलाते हैं —

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य ।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥ १२८ ॥

टीका—राजराजः—चक्रवर्ती वासुदेवादिर्वा । पूर्वः सकलभरतक्षेत्राधिपतिः, उत्तरोऽर्धभरताधिपतिः । मनुष्यजन्मसुखस्य प्रकर्षवर्तिनावेतौ । चक्रवर्त्यर्धचक्रवर्तिनोरपि नास्ति तादृशं सुखं यादृशं प्रशमस्थितस्येति । यदि चक्रवर्त्यादिसुखं शब्दादिविषयसमुत्थितम्, तस्य चानित्यत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । न चैकान्तेन सुखहेतुत्वं शब्दादीनां विपरिणतिधर्मत्वात् । देवेन्द्रस्य सुखं प्रकृष्टं स्यादिति तदपि नोपरितनेन्द्रसुखसमृद्धिदर्शनात्तदाकाङ्क्षिणः च्युतिचिन्तनाच्च दुःखयति क्षीणमेव । अथवा देवराजः सर्वदेवोत्तमत्वादनुत्तरविमानवासी तस्यापि यत्सुखं तदपि स्थितिक्षयं मनुष्योऽपि दुःखगर्भवासमनुचिन्तयतस्तस्यापि न तादृक् सुखमस्ति दुःखलेशाकलङ्कितं यदिहैव सुखं साधोर्मनुष्यजन्मनि प्रशमस्थितस्य विनिवृत्तसकलौत्सुक्यस्यात्महितगवेषिणो विशिष्टज्ञानसमन्वितस्य लोकव्यापाररहितस्य । लोकव्यापारः कृष्यादिर्वाणिज्यभोगसाधनोपादित्सा । एवंविधेन व्यापारेण रहितस्य प्रशमसुखं एव व्यवस्थापितचेतोवृत्तेर्यत्सुखं न तद् राजराजे न देवराजे इति ॥ १२८ ॥

अर्थ—सांसारिक झंझटोंसे रहित साधुको इसी जन्ममें जो सुख मिलता है, वह सुख न तो चक्रवर्ती और अर्धचक्रीको ही सुलभ है और न देवराज इन्द्रको ही सुलभ है।

भावार्थ—चक्रवर्ती अथवा वासुदेव अथवा अर्धचक्री राजाओंके राजा कहे जाते हैं। चक्रवर्ती समस्त भरतक्षेत्रका स्वामी होता है। ये दोनों ही पद मनुष्य पर्यायमें सबसे ऊँचे होते हैं। किन्तु इन्हें भी वह सुख नहीं होता जो विरक्त साधुको होता है। क्योंकि चक्रवर्ती वगैरहका सुख सांसारिक विषयों और वैभवसे उत्पन्न होता है, अतः वह अनित्य है। यह बात पहले बतला आये हैं कि विषय सर्वथा सुखके देनेवाले नहीं हैं, क्यों वे स्थायी नहीं होते हैं।

देव-पर्यायमें इन्द्रका पद सबसे उत्कृष्ट है, किन्तु इन्द्रको भी अपनेसे ऊपरके इन्द्रोंको देखकर उसकी लालसा सताती रहती है और मरणकाल समीप आजानेपर वहाँसे च्युत होनेकी चिन्ता सताने लगती है। अतः उनका सुख उत्कृष्ट होनेपर भी दुःखसे मिला हुआ है। अथवा सर्व देवोंमें उत्तम होनेके कारण अनुत्तरवासी देवोंको देवराज कह सकते हैं। देवायुके विनाश और मनुष्य योनिमें पुनः जन्म लेनेके दुःखके विचार करनेपर उनका सुख भी दुःखसे मिला हुआ ही प्रतीत हो जाता है। अतः वैराग्यमें मग्न समस्त इच्छाओंसे रहित आत्म-हितको खोजनेवाले विशिष्ट ज्ञानी और सांसारिक प्रवृत्तियोंसे दूर रहनेवाले साधुको इसी जन्ममें जो सुख है, वह सुख न तो राजाओंके राजाको प्राप्त है और न इन्द्रोंके राजाको प्राप्त है।

१–चक्रवर्तिनोऽपि–फ०, ब०। वासुदेवचक्रवर्तिनोऽपि–मु०। २–प्रक–फ० ब०।

प्रथमसूत्रमेव पुनः स्पष्टयति—

प्रथम सूत्रको पुनः खुलासा करते हैं —

संत्यज्य लोकचिन्तामात्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरतः ।
जितरोषलोभमदनः सुखमास्ते निर्ज्वरः साधुः ॥ १२९ ॥

टीका—लोकः स्वजनः परिजनश्च, तद्विषया चिन्ता दारिद्र्यदौर्भाग्यादिलक्षणा, अकृतपुण्यानाम् परलोके दुर्गतिप्राप्तिलक्षणा, तां परित्यज्य विहाय आत्मनः परिज्ञानम्—अनादौ संसारेऽयमात्मा शारीराणि मानसानि दुःखान्यनुभवन् अतृप्तः कामभोगसुखेषु कथमपि मनुष्यजन्मासादितवान् बोधिञ्च तदधुना यथा संसारे भूयो दुःसंकटे न भ्रमति तथा प्रयत्नः कार्यो मया इति आत्मपरिज्ञानचिन्तनं तत्राभिरतः तत्परः तत्परिणतः। जिताः परिभूता रोषलोभमदना येन। रोषग्रहणात् द्वेषः, लोभग्रहणाद्रागः, मदनग्रहणात् पुरुषवेदादिः। एवंप्रकारः सुखमास्ते—स्वस्थस्तिष्ठत्सुखप्रवर्तितः। ज्वरो रोगविशेषः, तेन ग्रस्तः परितापपीडितशरीरत्वेन कथमपि न सुखमास्ते। स एवंविधो निर्गतोऽपगतो ज्वरो यस्मात् स निर्ज्वरः। ज्वर इव ज्वरो रोषलोभमदननामकः। मोक्षसाधनाभ्युद्यतः साधुरिति ॥ १२९ ॥

अर्थ—स्वजन और परजनकी चिन्ताको छोड़कर आत्माके ज्ञानके चिन्तनमें तल्लीन हुआ और राग द्वेष और कामको जीतनेवाला अत्यन्त नीरोग हुआ साधु आनन्दपूर्वक रहता है।

भावार्थ—अपने कुटुम्बियों और दूसरे लोगोंको लोक कहते हैं। उनकी दरिद्रता, अभागापना, पुण्य न करनेपर परलोकमें दुर्गतिकी प्राप्ति, इत्यादि बातोंका विचार करना लोक-चिन्ता है। साधु इस चिन्तासे दूर रहता है। तथा सर्वदा यह विचार करता रहता है कि— इस संसारमें शारीरिक और मानसिक दुःखोंको भोगते हुए और काम भोगसे कभी तृप्त न होते हुए इस आत्माने किसी तरह यह मनुष्य-जन्म और ज्ञान प्राप्त किया है। अतः अब मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे दुःखोंसे भरे हुए इस संसारमें पुनः भ्रमण न करना पड़े। तथा राग-द्वेष और कामको जीत लेनेके कारण वह साधु रोग-रहित हो जाता है, क्योंकि रागादिक ज्वरादिक रोगोंके समान ही दुःखदायी हैं। अतः संसारके लोगोंकी चिन्ता छोड़कर आत्माका चिन्तन करनेवाला वीतरागी साधु सुखपूर्वक निश्चिन्त रहता है।

संत्यज्य लोकचिन्ताम् इत्युक्तम्। तत्कथं परित्यक्तलोकचिन्तस्य भरणपोषणादिविधिरात्मनः स्यात्[१] इत्याह—

ऊपर लोककी चिन्ता छोड़नेका निर्देश किया है। अतः लोककी चिन्ता छोड़कर साधु अपना भरण-पोषण कैसे करेगा? इसका समाधान करते हैं।

या चेह लोकवार्ता शरीरवार्ता तपस्विनां या च ।
सद्धर्मचरणवार्तानिमित्तकं तद्द्वयमपीष्टम् ॥ १३० ॥

१–निर्मे० प० फ ।

टीका—वर्तनं वृत्तिः भरणपोषणादिका वृत्तिरेवम्प्रकारा यस्यां विद्यते सा वार्ता कृषिपशुपाल्यवाणिज्यादिः लोकस्य वार्ता, तस्यां चिन्तनमेतावदेव लोकवार्तायामुपस्थिते भिक्षाकाले स्वार्थमेवोपसाधितेऽशनादिषु हिण्डमानोऽकृताकारितानुमतमशनादि यल्लभ्यते लोकवार्ता। यतस्तच्छरीरवार्तायाः कारणं भवति, साधूनां शरीरवृत्तेः शरीरस्थितेर्निमित्तं भवति तपस्विनाम्, तत्र पेयं लोकवार्ता या च तपस्विनां शरीरसंधारणवार्ता एतद्वार्ताद्वयमपि सद्धर्मचरणवार्तानिमित्तकमिष्टम्। सद्धर्मो दशलक्षणकः क्षमादिः। चरणं मूलोत्तरगुणकलापः। सद्धर्मचरणवृत्तिः सद्धर्मचरणवार्ता। सद्धर्मचरणवृत्तेरनन्तरं कारणं शरीरसंधारणम्, शरीरसंधारणवृत्तेश्च लोकवार्ताकारणम्। पारम्पर्येण सद्धर्मचरणवार्ताया लोकवार्ता कारणमिति ॥ १३१ ॥

अर्थ—जो लोक-वार्ता और शरीर-वार्ता साधुओंके समीचीन धर्म और चारित्रकी प्रवृत्तिमें कारण है, वे दोनों इष्ट हैं।

भावार्थ—'वार्ता' शब्दके दो अर्थ होते हैं—एक जीविका और दूसरा बात। खेती पशु-पालन व्यापार वगैरह लोक-वार्ता कहे जाते हैं। भिक्षाके योग्य कालमें शरीरकी स्थितिके लिए भोजन वगैरहके निमित्त भ्रमण करता हुआ साधु कृत, कारित, और अनुमोदनासे रहित भोजन वगैरह प्राप्त करता है, वह लोक-वार्ता है। यह लोक-वार्ता साधुओंके शरीरकी स्थितिका कारण होती है। और ये दोनों ही वार्ताएँ उत्तम क्षमादिरूप धर्म और मूलगुण तथा उत्तरगुणरूप चारित्रकी प्रवृत्तिमें कारण होती हैं, क्योंकि भोजनके बिना शरीर नहीं रह सकता और शरीरकी स्थितिके बिना धर्माचरण नहीं रह सकता। अतः धर्माचरणमें शरीर-स्थिति कारण है और शरीरकी स्थितिका कारण लोक-वार्ता है। अतः परम्परासे लोक-वार्ता भी धर्माचरणकी प्रवृत्तिमें कारण है। इसलिए ये दोनों ही इष्ट हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि शरीरकी चिन्ता उतनी ही पर्याप्त है जितनी धर्माचरणके लिए आवश्यक हो और भोजनकी चर्चा भी उतनी ही पर्याप्त है, जितनी शरीरको बनाये रखनेके लिए आवश्यक हो।

अपि च लोकवार्तान्वेषणे प्रयोजनमिदमपरम्—

लोक-वार्ताको रखनेमें एक दूसरा कारण भी बतलाते हैं —

लोकः खल्वाधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात्।
तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥ १३२ ॥

टीका—लोको जनपदः। खलु शब्दोऽवधारणे। लोक एवाधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात्—ब्रह्म संयमः सप्तदशभेदः तद्योगाद् यतयस्तेषां सर्वेषामिति गच्छवासिनां गच्छनिर्गतानां च। तस्माद् लोके यद्विरुद्धं जातमृतकसूतकनिराकृतादिगृहेषु भिक्षादिग्रहणमभोज्येषु च परिहार्यम्। तथा चार्यैरप्युक्तम्—

१–रेवंविधा एवं प्रकारा–फ० ब०। २–शुचिते–फ० ब०। ३–धात्मके–प०। ४–रथाद–फ। रथाधार–फ०। ५–सर्वे चा–प।

जे वर्हि दुर्गुंछियो खलु पव्वावणवसहि भत्तपाणेसु ।
जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेज्ज सदा पयत्तेण ॥ १ ॥'

यच्च लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं मधुमांसलशुनपीतानन्तकायादि धर्मसाधनविरुद्धमनर्थकं तदपि परिहार्यमिति ॥ १३१ ॥

अर्थ—यतः लोक सभी सधर्मियोंका आधार है। अतः लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध कार्योंको छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—सभी सधर्मी लोकमें ही निवास करते हैं। अतः जो काम लोकविरुद्ध हैं, जैसे—जन्म मरणके सूतकवाले और जाति बहिष्कृत वगैरह घरोंमें भिक्षा लेना, न करना चाहिए। तथा जो कर्म धर्मविरुद्ध हैं, जैसे मदिरा, मांस लहसुन और अनन्तकाय वनस्पतिका भक्षण वगैरह, उन्हें भी न करना चाहिए।

इतश्च लोकवार्तामेषणीयमेवेत्याह इति दर्शयति—
अब लोक-वार्ताको कल्याणकारी बतलाते हैं—

देहो नासाधनको लोकाधीनानि साधनान्यस्य ।
सद्धर्मानुपरोधात्तस्माल्लोकोऽभिगमनीय ॥ १३२ ॥

टीका—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। तस्य च देहस्याहारोपधिशय्यादि साधनम् साधनरहितस्य देहस्याक्षमत्व एव। तानि चास्य साधनानि लोकाधीनानि लोकायत्तानि भवन्ति। अतः किम्? सद्धर्मानुपरोधात्—सद्धर्मस्य क्षमादेरविरोधात् लोकोऽभिगमनीयः— लोकवार्तानुविधानमेवमव करणीयम् इति ॥ १३२ ॥

अर्थ—साधनके बिना शरीर नहीं रह सकता। और उसके साधन लोकके आधीन हैं। अतः समीचीन धर्मके अविरुद्ध लोकका अनुसरण करना चाहिए।

भावार्थ—धर्म-साधनका प्रधान शरीर है। और शरीरके साधन भोजन वगैरहके बिना शरीरका टिकना असंभव ही है। किन्तु ये सभी साधन लोकके आधीन हैं। अतः लोक-वार्ता करनी चाहिए, किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि वह लोक-वार्ता धर्मके विरुद्ध न हो।

पर एवोपदेष्टा भवति गुणदोषयोः इत्याह—
दोष और गुणकी शिक्षा लोकसे ही लेनी चाहिए, यह बतलाते हैं—

दोषेणानुपकारी भवति परो येन येन विद्वेष्टि ।
स्वयमपि तद्दोषपदं सदा प्रयत्नेन परिहार्यम् ॥ १३३ ॥

१–विवर्जय—फ ब । २–धर्मसाधन ध प । ३–लो विरु–फ ब । ४–विद्विषः–प फ ब ।

टीका—येन येनाभ्यस्यमानेन कर्मणा परो लोको विद्वेष्टि–कुप्यति, भवति चानुपकारी, प्रत्युतापकारे प्रवर्तते। स्वयमपि आत्मनापि तद्दोषपदं परिहार्यमप्रमत्तेन सदा अन्यः कुप्यन् परस्य दशः किञ्चिदप्रियकारणम् तदप्यस्य स्वयमपि तद्दोषस्थानं परिहार्यम् अनेनास्याप्रियं भवति इति सकलप्रमादरहितेन परित्यजनीयमिति ॥ १३३ ॥

अर्थ—जिस जिस दोषसे दूसरे लोग अनुपकारी हो जाते हैं, द्वेष करने लगते हैं, उस दोष स्थानको स्वयं भी सदा प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—जिन कामोंके करनेसे दूसरे लोग क्रोधित हो जाते हैं और अपकार तक करनेपर उतारू हो जाते हैं, बिना किसी प्रमादके उन कामोंको तुरन्त छोड़ देना चाहिए। अर्थात् साधुने यदि किसी आदमीको कोई ऐसा अप्रिय कार्य करते देखा जिससे लोग उसके दुश्मन हो गये तो उस कार्य-को दुःखका घर जानकर साधुको उससे बचना चाहिए।

यथैतत्परिहरणीयं तथैतदपि ' इत्याह—

तथा—

पिण्डैषणानिरुक्तः कल्प्याकल्प्यस्य यो विधिः सूत्रे ।
ग्रहणोपभोगनियतस्य तेन नैवामयभयं स्यात् ॥ १३४ ॥

टीका—पिण्डैषणाध्ययने निरुक्तः–निश्चयेनाभिहितः उद्गमोत्पादनैषणादोषपरिहृतो यो विधिः कल्पनीयाकल्पनीयः–ग्राह्यत्याज्यलक्षणः, सूत्रे–पारमर्षे आगमे। ग्रहणे नियतः परिमितो ग्रासो यथाग्रहणीयदोषो न भवति, उपभोगे च नियतः द्वात्रिंशत्कवलानां न्यूनानामेवाभ्यवहारः अयः। तथा चार्षेऽप्युक्तम्—

अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए।
वाउपवियारणट्ठा छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥ १ ॥

इत्थम्भूतस्य ग्रहणोपभोगनियतस्य कल्पनीयस्य तेन विधिनाऽभ्यवह्रियमाणस्य न जातुचिद् आमयभयम्–अजीर्णजनितव्याधिभयं भवेत्। एवं च मान्द्यादि-दोषाधिकरणपरिहारः धर्म्यासु च क्रियासु प्रवृत्तेरपरिहाणिः। तस्मात्कल्प्यपरिहारेणापरिमितानियत भोगत्यागेन च भुञ्जानस्य न किञ्चिद्दुष्यतीति ॥ १३४ ॥

अर्थ—परमागममें पिण्डैषणा नामके अध्ययनमें ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य रूप जो विधि बतलाई है, उसी विधिसे जो साधु परिमितका ग्रहण और परिमितका उपभोग करता है, उसे कभी रोगका भय नहीं रहता।

१–यदीत–फ० ब० । २–तद्दोष–फ०, ब–। तद्दोषस्थ–मु० । ३–मैत्रमपि–प० । ४–कल्पाकल्पस्य–फ० ब० । कल्पाकल्प्यस्य–प० । कल्प्याकल्प्यस्य मु० । ५–नियमः–फ० ब० । ६–अनायासो–प० ।

भावार्थ—परमागमके एक अध्ययनमें भिक्षाकी विधि बतलाई है। इसी में एक अध्ययन—पिण्डैषणा अध्ययन है। उसमें बतलाया है कि साधुके ग्रहण करने योग्य क्या है ? और छोड़ने योग्य क्या है ? उसके अनुसार यदि साधु परिमित भोजनको ही ग्रहण करे, जिससे उसे जूठन छोड़नेका पाप न उठाना पड़े तथा परिमित अर्थात् बत्तीस ग्राससे कम ही भोजन करे, तो उसे अजीर्ण मन्दाग्नि वगैरह रोग नहीं हो सकते और धार्मिक क्रियाओंमें हानि होनेकी सम्भावना नहीं रहती। अतः ऊपरी मिलकर त्याग करके भोजन करनेवाले साधुको कोई दोष नहीं लगता।

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

इसीको स्पष्ट करते हैं —

व्रणलेपाक्षोपाङ्गवदसङ्गयोगभरमात्रयात्रार्थम् ।
पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारं पुत्रपलवच्च ॥ १३५ ॥

टीका— व्रणलेपवत् अक्षोपाङ्गवत् इति दृष्टान्तद्वयम्। व्रणलेपस्तावानेव देयो यावता पूयादिभिर्निर्गच्छद्भिः संरोहणं भवति। अतोऽतिमात्रयाऽतिस्तोकतया लेपदानम्। अक्षस्य उपाङ्ग-मभ्यञ्जनम् तत्र नवनीतादि तावन्मात्रमेव दीयते यावता शकटं भारमुद्वहति अनायासेन। न चास्तीति कृत्वा प्रभूतं नवनीतादेरभ्यञ्जनस्य दानम् निष्फलत्वात्। एवं साधुनाऽपि व्रणलेप-संरोहणमात्रमक्षलेपमात्रमसङ्गयोगभरमात्रयात्रार्थम् आहार्यम्। सङ्गः स्नेहः, योगाः मनोवाक्कायाः। योगेषु शरीरादिषु छायान्यमनाभावात्पथिपिपासोऽसङ्गः। अतोऽसङ्गयोगः—योगेष्वसंगः इत्यर्थः। योगानां भरः—क्रियासमूहः। यावता क्रियासमूहं शरीरादि भवति तावन्मात्रमेवाभ्यवहरणीयं नातिरिक्तम्। यात्रा वसतिपात्रकम्बलसमाचारिस्वाध्यायभिक्षाचंक्रमणादिका च यात्रा, तदर्थम्। यथाह—

तं पि न रूवरसत्थं भुंजंताणं न चेव दप्पत्थं ।
अक्खमुवंगब्भूयं भरवहणोपगो न वत्तव्वं ॥ १ ॥

भोजनैषणामभिधित्स्याह— पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारम्। सर्पो हि भक्ष्यमभिलष्य न चर्वणमाचरति प्रस्तुत एवं गिलत्येव तथा साधुरपि भुञ्जानो न चर्वणं करोति। तथा चागमसूत्र-

मो वामाउ हणुयाउ दाहिणं हणुयं संकामेज्जा दाहिणाउ वामं इत्यादि।

पुत्रपलवच्च—पलं मांसम् पुत्रमांसम् इत्यर्थः। पुत्रपलाशोऽपत्यवधमः। चिन्तितपुत्र-व्यापादितपुत्रमांसास्वादनवदिति। अपगममिमाय—पितृभ्रातृणा भक्षपलस्तम्मांसं न तमास्ति रसगार्ध्यम् शरीररक्षणार्थमेव केवलं ताभ्यामास्वादितं न रसार्थं दर्पार्थं वा मांसोपयोगः कृतः। तथा साधुनाऽपि रसेष्वरागेण दर्पादिवर्जितेन यथालब्ध-मेषणीयम्-भोक्तव्यमिति ॥ १३५ ॥

१-वर्णे-प । २-नाधिगम-प । ३-व्यादेयो-प । ४-पुत्रपलं मांस-फ, ब । ५-यावत्-प० ।

अर्थ—शरीरादिकमें निःस्पृहता, संयमका निर्वाह और यात्राके लिए घावके लेपकी तरह, गाड़ीके पहियेके औंगनकी तरह, और पुत्रके मांसकी तरह साँपकी नाईं भोजन करना चाहिए।

भावार्थ—घावपर उतना ही लेप लगाना चाहिए, जिसमेंसे उसका मवाद दूर हो सके और घाव भर सके। उससे अधिक लेप लगाना बेकार है। पहियेको औंगते समय उतना ही तेल देना चाहिए जिसमेंसे गाड़ी सरलताके साथ बोझा ढो सके। अधिक तेल देना बेकार है। इसी प्रकार साधु भी मुक्तिरूपी यात्राको पूर्ण करनेके लिए आहाररूपी लेपको उतना ही लेता है, जितनेसे शरीरादिकमें आलस्य और सुस्ती वगैरहका भाव उत्पन्न न हो और शरीरादिक नित्य-क्रियाओंके करनेमें—स्वाध्याय भिक्षाटन वगैरह तथा गमना-गमन करनेमें समर्थ बना रहे।

तथा साँप जैसे अपने आहारको झट निगल जाता है—चबा चबा कर नहीं खाता, वैसे ही साधु भी चबा-चबा कर नहीं खाता। तथा—

जिस प्रकार चिलाती पुत्रके द्वारा मारी गई पुत्रीका माँस उसके पिता वगैरहने केवल अपने शरीरकी रक्षाके लिए ही खाया था उस माँसके स्वादमें उनकी कोई आसक्ति नहीं थी, वैसे ही साधुको भी स्वादमें आसक्त न होकर रूखा-सूखा-जैसा मिल जाये, खा लेना चाहिए।

पुनरभ्यवहारमेव विशिनष्टि—

फिर भी भोजनके ही बारेमें कहते हैं —

गुणवदमूर्च्छितमनसा तद्विपरीतमपि चाप्रदुष्टेन ।
दारूपमधृतिना भवति कल्प्यमास्वाद्यमास्वाद्यम् ॥ १३६ ॥

टीका—गुणवत् मृष्टरसगन्धम्। मूर्छितं ग्रथितं रागयुतं चेतो यस्य स मूर्छितमनाः। न मूर्छितमना अमूर्छितमनाः, तेन अमूर्छितमनसा भक्ष्यमास्वाद्य भोज्यमिति। तद्विपरीतमिति अमनोज्ञमविरसगन्धम्। तदपि अप्रदुष्टेन अद्विष्टेन द्वेषरहितेन इत्यर्थः। यात्रासाधनमात्रमालम्बनीकृत्य प्रतिकूलविशेषणीयमरक्तद्विष्टेन चित्तेनाभ्यवहरेत्। दारूपमा धृतिरस्याविकारिणी। काष्ठं हि वास्यादिभिस्तक्ष्यमाणं न द्वेषं भजते नापि चन्दनपुष्पादिभिः पूज्यमानं रागमुद्वहति। यथा तद्वत्तत्र रागद्वेषपरिहृतं तद्वत्साधु नापि सत्यपि यतनारम्भ इष्टानिष्टाऽन्नपानलाभे सति भोक्तव्यम् अरक्तद्विष्टेन कल्पनीयमास्वाद्यभक्षणीयम्। पुनः 'आस्वाद्यम्' इति 'भोक्तव्यम्' इत्यर्थः ॥ १३६ ॥

अर्थ—लकड़ीके समान धैर्यशाली साधु ग्रहण करनेके योग्य स्वादिष्ट भोजनको राग रहित मनसे और स्वाद रहित भोजनको भी द्वेष रहित मनसे यदि खाता है तो वह भोजनके योग्य भोजन होता है।

१-मि भ-फ ब०। २-यात्रा०-फ, ब। ३-द्युतं च मनो यस्य मु०। ४-ऽद्विष्टेनेद्वर्.- फ० ब। ५-पुष्पै-फ०,-ब०।

भावार्थ—लकड़ीको यदि वसूलासे छीले तो वह द्वेष नहीं करती, और यदि पुष्प चन्दन वगैरहसे उसकी पूजा करे तो वह राग नहीं करती। उसी प्रकार साधु सचेतन होनेपर भी इष्ट और अनिष्ट अन्न-पानमें राग-द्वेष नहीं करता। इस तरह राग और द्वेष रहित मनसे किया हुआ भोजन ही साधुका उपयुक्त भोजन होता है।

'तच्च भोजनं कालाद्यपेक्षमभ्यवह्रियमाणं नाजीर्णादिदोषकारि भवति' इति दर्शयन्ति—

कालादिक की अपेक्षासे ग्रहण किया हुआ भोजन, अजीर्ण वगैरह रोगोंको उत्पन्न नहीं करता, यह बतलाते हैं —

कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्यगुरुलाघवं स्वबलम् ।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य ॥ १३७ ॥

टीका—भोक्त्रा कालोऽपेक्षणीयः ग्रीष्मवर्षाशिशिरभेदः। ग्रीष्मे बहुपानकं पातव्यं मतः स्वल्पतरं भुङ्क्ते यतः भक्तं पानं नाऽजस्रमेव जीर्यते। तथा वर्षासु साधारणं भक्तं पानं च यथोदरपरिमाणं ऊनो भवति तथा भुङ्क्ते। शिशिरे प्रचुरमेव भुङ्क्ते स्वल्पतरमुदकमापिबति। तथा क्षेत्रं सापेक्ष्यम् रूक्षं स्निग्धं शिशिरं च भिन्नं क्षेत्रम्। तत्र रूक्षे सुराष्ट्रादौ बहुभक्तभोजी भवति। स्निग्धे जलबहुलविषये मात्रमात्राभ्यवहारं कुर्यात् यथा सुखं भवति। तथा शिशिरक्षेत्रे शीतबहुले काश्मीरादौ अन्नपरिपाकः सुखो भवति यथा तथाऽभ्यवहर्तव्यम्। मात्रा निजाग्निबलापेक्षा। प्रमाणयुक्तोऽभ्याहारः कस्यचित् क्षमते, अतः तादृशी मात्रा कर्तव्या या सुखाय भवति। स्वात्म्यं इति स्वभावः। कस्यचित्स्वभावस्निग्धः रूक्षाहारः सुखं परिणमते कस्यचित्सुखः कस्यचित्स्निग्धः। विरुद्धद्रव्यसम्पर्कोऽपि कस्यचित् सुखावहः कस्यचिदसुखकरः, स्वात्म्यस्यानेकप्रकारत्वात्। द्रव्यं माहिषं दधि क्षीरं वा गुरु, लघु तु गव्यं दधि पयो वा। एवमन्येषामपि द्रव्याणां गौरवं लाघवं च अवगम्यापरेषामपि [illegible] विज्ञाय स्वबलं च वातप्रकोपादि व्याधिदूषितमदूषितं च ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यमाहारं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य इति—न किञ्चिदौषधैस्तस्य प्रयोजनम्। अनवद्यभक्तानि हि तस्य भेषजानि द्रव्याणि ॥१३७॥

अर्थ—काल, क्षेत्र, मात्रा, स्वभाव, द्रव्यका भारीपना और हलकापना तथा अपनी शक्तिको जानकर जो भोजन करता है, उसे औषधिसे क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ—भोक्ताको गर्मी सर्दी और वर्षा-कालका ध्यान रखकर भोजन करना चाहिए। गर्मीमें पानी अधिक पीना चाहिए और भोजन कम होना चाहिए। जिससे भोजन सरलतासे हजम हो सके। वर्षा ऋतुमें साधारण खान-पान इतना करना चाहिए, जितनेसे पेटका छठा भाग खाली रह सके। सर्दीमें ठंड अधिक पड़ती है, अतः पानी कम पीना चाहिए। तथा भोक्ताको रूखे चिकने और ठंडे प्रदेशका ध्यान रखकर भोजन करना चाहिए। चिकने जलप्रधान प्रदेशमें परिमित भोजन करना चाहिए।

१—सापेक्षं—मू० प्र०। २—बहु भक्तं पानकं—म० । ३ बता—प्र०। ४—मधेषे मु—प्र०। ५—वह्नि—प्र०। ६—गौ वा गव्य—मू० प्र०।

सोरठ (काठियावाड़) वगैरह जैसे प्रदेशमें पेटका छठा भाग खाली रखकर भोजन करना चाहिए। शीतप्रधान काश्मीर वगैरहमें इतना भोजन करना चाहिए कि वह सुखपूर्वक हजम हो सके। तथा भोजनकी मात्राका भी ध्यान रखना जरूरी है, परिमित आहार भी किसी किसीको हजम नहीं होता। अतः आहारकी मात्रा इतनी होनी चाहिए, जिसका सरलतासे पाचन हो सके। तथा भोजन ग्रहण करते समय अपने स्वभावका भी ध्यान रखना चाहिए। किसीको अत्यन्त चिकना भोजन ही अनुकूल पड़ता है, और किसीको सूखा भोजन अनुकूल पड़ता है तथा किसीको न अधिक चिकना और न अधिक सूखा भोजन अनुकूल पड़ता है। विरुद्ध वस्तुओंका संयोग भी किसीको अनुकूल पड़ता है और किसीको प्रतिकूल पड़ता है। भैंस का घी-दूध भारी होता है और गौका घी-दूध हलका होता है। अतः भोजनके समय भोजनके भारीपन और हल्केपनका भी ध्यान रखना चाहिए तथा अपनी शक्ति वगैरहका भी ध्यान रखना चाहिए कि मुझे वात वगैरहकी कोई व्याधि तो नहीं है। उक्त सब बातोंका ध्यान रखकर जो भोजन करता है, उसे कभी औषधि करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वह कभी बीमार नहीं पड़ता।

ननु च पिण्डप्रतिश्रयवस्त्रपात्रादि परिगृह्णन् कथमकिञ्चनः स्यात्साधुरपरिग्रहो भवेत्? इत्याह—

शङ्का—भोजन, आश्रय, वस्त्र, पात्र वगैरह ग्रहण करनेवाला साधु अपरिग्रही कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान करते हैं—

पिण्डः शय्यावस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत् ।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥ १३८ ॥

टीका— पिण्डः' इति आहारश्चतुर्विधोऽशनीयादि। शय्या प्रतिश्रयः। वस्त्रं पात्रं च यथोक्तपट्टकमुखवस्त्रिकादि। आदिग्रहणात् वस्त्रग्रहणे यो विधिरुक्तः स सर्वः परिगृह्यते। पात्रग्रहणात् प्रतिग्रहकमात्रकग्रहणम्। शय्यादिग्रहणात् पात्रैषणादिषु यो विधिरुक्तः तस्यापि ग्रहणम्। यच्चान्यत् इति औपग्रहिकं दण्डकादि सर्वमेतत् कल्पनीयं तावद्गृह्णतः सद्धर्मरक्षानिमित्तोक्तम्। देहः शरीरम् सद्धर्मो दशलक्षणकः क्षमादिः। शरीररक्षणे सति सद्धर्मरक्षणं, सम्पूर्णत्वात्सद्धर्मानुष्ठानस्य। शरीरकं हि संयमानुपालनार्थं पोष्यते समाधेयमस्याहारस्तदिति। कल्पनीयस्य चालाभे चतुर्थरसोपासेवन प्राणधारणाकल्पग्रहणम्। एवं शय्यावस्त्रपात्रदण्डकादिष्वपि योज्यम्। सर्वं च विषयाः सापवादाः मैथुनवर्ज्यम्। एवं सद्धर्मरक्षार्थं देहरक्षणाय च सद्धर्मोक्तम्। न चासौ परिग्रहः तत्रामूर्च्छितत्वात्। मूर्च्छा परिग्रहः इति लक्षणादिति ॥१३८॥

अर्थ—आहार, शय्या, विधिपूर्वक वस्त्र और पात्र-एषणा तथा अन्य जो ग्रहण करने योग्य और ग्रहण न करने योग्यका विधान किया है, वह सब समीचीन धर्म और शरीरकी रक्षाके निमित्त कहा है।

१-यु रि कल० व० । २-शरि वि-फ० व० । ३-चनादि-फ० व । ४-च सर्वः प० फ, व० । ५-यात् यदं प्रतिक्रके प्र-प० । ६-कल-प । ७-हि म-प । ८-चैस्य रक्षणे च-फ० व० ।

भावार्थ— आदि पदसे वस्त्र और पात्र ग्रहण करनेमें जो विधि बतलाई गई है, उस विधिका ग्रहण किया गया है। 'पथ्यान्नम्' पदसे वस्त्रका ग्रहण किया है। इन सब वस्तुओंका ग्रहण धर्म और शरीरकी रक्षाके निमित्तसे किया जाता है। शरीरकी रक्षा होनेपर ही धर्मकी रक्षा हो सकती है, क्योंकि धर्मानुष्ठानका मूल शरीर है। संयमके पालन करनेके लिए ही शरीरका पोषण किया जाता है। इसी लिए यद्यपि उत्सर्गरूपसे ग्रहण करने योग्य वस्तुके ग्रहणका ही विधान है, तथापि यदि अपवादरूपसे ग्रहण करने योग्य वस्तुका लाभ न हो तो अल्पदोषसे युक्त वस्तुके ग्रहण करनेका विधान किया है। मैथुनके सिवाय अन्य सभी विषयोंमें अपवाद है। इस प्रकार धर्मकी रक्षाके लिए ही यह सब कहा है। किन्तु यह परिग्रह नहीं कहा जा सकता क्योंकि साधुको उनमें ममत्व नहीं रहता और ममत्वको ही परिग्रह कहते हैं।

एवमुक्ता निष्परिग्रहता, सैव च स्पष्टा पुनः क्रियते—

उसी निष्परिग्रहताको फिर भी स्पष्ट करते हैं —

कल्प्याकल्प्यविधिज्ञः संविग्नसहायको विनीतात्मा ।
दोषमलिनेऽपि लोके प्रविहरति मुनिर्निरुपलेपः ॥ १३९ ॥

टीका—कल्पनीयं कल्प्यम्–उद्गमादिशुद्धमाहारोपधिशय्यादि। उद्गमादिदुष्टमकल्पनीयम्। तस्य विधिः–विधानम्– कल्पनीयेन शरीरधारणं कुर्यात्, असति कल्पनीयेऽकल्पनीयेनापि सता कार्यं यतयता प्रवचनेन मार्गेण इत्येष विधिः। तं जानातीति कल्प्याकल्प्यविधिज्ञः। संविग्न सहायकः संविग्नाः संसारभीरवो ज्ञानक्रियायुक्ताः एवंविधाः सहाया यस्य संविग्नसहायकः। असहायः सुसहायो वा। विनीतात्मेति—विशेषेण नीत आत्मा ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारविनयवश्यतां स विनीतात्मा। एवंविधः साधुः दोषमलिनेऽपि लोके मूर्च्छामलिनेऽपि मनुष्यलोके। रागद्वेषौ वा दोषौ, ताभ्यामयं मलिनो दूषितः सर्वो लोकः। एवंविधलोकमध्यवर्त्यपि प्रकर्षेण विविधमनेकप्रकारं रतो हरति प्रविहरति मुनिः निरुपलेपः–रागद्वेषाभ्यामस्पृष्टः सर्वधनविनाशकारिणा वा लोभेन मूर्च्छालक्षणेनास्पृष्टो निरुपलेप इति। कर्माभावात् पूर्वबद्धमोक्षणाय प्रवर्तत इति ॥ १३९ ॥

अर्थ—जो कल्पनीय और अकल्पनीयकी विधिको जानता है, संसारसे भयभीत संयमी जन जिसके सहायक हैं, और जिसने अपनी आत्माको ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार विनयसे युक्त कर लिया है, वह साधु राग-द्वेषसे दूषित लोकमें भी राग द्वेषसे अछूता रह कर विहार करता है।

भावार्थ—उद्गमादिसे शुद्ध आहारादिकको कल्प्य कहते हैं। और उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहारादिकको अकल्पनीय कहते हैं। कल्पनीय वस्तुओंसे शरीरकी रक्षा करनी चाहिए। यदि कल्पनीय न मिले तो अकल्पनीयसे भी रक्षण किया जा सकता है, इत्यादि विधि है। जो साधु इस विधिको जानता है, संसारभीरु संयमी लोगोंकी गोष्ठीमें रहता है तथा विनयी है, वह दोषोंसे भरे हुए इस लोकमें भी दोष-

१–मूर्च्छास्थाने नि–प० । २. च पुनः रागद्विषौ प । ३–द्विविध –प । ४–[illegible] प ।

रहित होकर विचरता है। उसके नवीन कर्म-बन्ध नहीं होता तथा पहले बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होती है, क्योंकि वह निरुपलेप है और प्रवृत्ति करनेकी विधिको जानता है।

कथं पुनर्दोषवल्लोकान्तःपाती तत्कृतसंसर्गो दोषैर्न लिप्यते ?' इत्याह—

दोषोंसे भरे हुए लोकमें रहकर और उसके साथ सम्बन्ध रखकर भी साधु दोषोंसे लिप्त क्यों नहीं होता ? इसका समाधान करते हैं :—

यद्वत्पङ्काधारमपि पङ्कजं नोपलिप्यते तेन ।
धर्मोपकरणधृतवपुरपि साधुरलेपकस्तद्वत् ॥ १४० ॥

टीका— यद्वत् इति दृष्टान्तोपन्यासे। यथा पङ्काधारं पङ्कमध्यादुत्पन्नं पङ्कमध्ये स्थितं वा पङ्कजं नलिनं। नोपलिप्यते न स्पृश्यते कर्दमेन। धर्मोपकरणधृतवपुरपि साधुरलेपकः— धर्मार्थमुपकरणं धर्मोपकरणं रजोहरणमुखवस्त्रिका चोलपट्टककल्पादि तेन धृतवपुरपि कृतशरीर संरक्षोऽपि स्वव्यतिरिक्तजीवकायरक्षणस्य साधुरलेपक एव लोकदोषेण न स्पृश्यते शुद्धाध्यवसायत्वात् अमूर्छितत्वात्' इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कीचड़से उत्पन्न होनेपर तथा कीचड़के मध्यमें रहनेपर भी कमल कीचड़से लिप्त नहीं होता वैसे ही धर्मके उपकरणोंसे शरीरको धारण करनेवाला साधु भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता।

भावार्थ—कमलको पङ्कज कहते हैं; क्योंकि वह पङ्क-कीचड़से उत्पन्न होता है। परन्तु जिस प्रकार कीचड़में पैदा होनेपर कमलको कीचड़ नहीं छूता, उसी प्रकार वस्त्र-पात्र वगैरहसे शरीरका रक्षण करते हुए भी साधुको सांसारिक दोष नहीं छूता; क्योंकि उसका आशय निर्दोष है। उसे किसी भी वस्तुसे ममत्व नहीं है।

तथाऽपरोऽपि दृष्टान्तः—

दूसरा दृष्टान्त देते हैं —

यद्वत्तुरगः सत्स्वप्याभरणविभूषणेष्वनभिसक्तः ।
तद्वदुपग्रहवानपि न सङ्गमुपयाति निर्ग्रन्थः ॥ १४१ ॥

टीका—यथा तुरगः सत्स्वपि विभूषणेषु वाल्यव्यजनादिष्वथमण्डनकेषु वाऽनभिसक्तः— अमूर्च्छितः अकृतगार्ध्यः, न मम परिग्रहेणार्थो परिग्रहवान। तद्वदिति-दृष्टान्तेन समीकरोति दार्ष्टान्तिकमयम्। तद्वदुपग्रहवानपि—धर्मार्थोपकरणमुपग्रहः तद्वानपि धर्मोपकरणयुक्तोऽपि इत्यर्थः। न संगं स्नेहं मूर्च्छामुपयाति। अत एव च बाह्यग्रन्थाभावादभ्यन्तरग्रन्थाभावाच्च निर्ग्रन्थ इति। निर्गतो ग्रन्थो निर्ग्रन्थः ॥ १४१ ॥

१-ए, ह-व । २- तदर्थी-फ ब । ३-१ प-फक ब ।

अर्थ—जैसे योद्धा अपने योग्य गहनोंसे विभूषित होनेपर भी उनसे मोह नहीं करता। उसी प्रकार निर्ग्रन्थ परिग्रहसे युक्त होनेपर भी उससे मोह नहीं करता।

भावार्थ—यद्यपि निर्ग्रन्थ साधु धार्मिक उपकरणोंको रखते हैं फिर भी उनमें ममत्व न होनेसे उन्हें परिग्रही नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार योद्धेको भाँति भाँतिके अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करनेपर भी वह उनसे मोह नहीं करता है, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ साधु भी धर्मोपकरणोंसे मोह नहीं रखता है। इसलिए यह परिग्रह उसके संसार बन्धका कारण नहीं है।

कः पुनरयं ग्रन्थः ? इत्याह—
निर्ग्रन्थका स्वरूप बतलाते हैं —

ग्रन्थः कर्माष्टविधं मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च ।
तज्जयहेतोरशठं संयतते यः स निर्ग्रन्थः ॥ १४२ ॥

टीका—ग्रथ्यते वेष्ट्यते बध्यते येन स ग्रन्थः। तच्च अष्टप्रकारं कर्म ज्ञानावरणाद्यन्तरायपर्यवसानम्। मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। अविरतिः अनिवृत्तिः प्राणातिपातादिभ्यः। दुष्टयोगा मनोवाक्कायाः। मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकारविधस्य कर्मणो हेतव इति ग्रन्थसंज्ञाख्याः। तेषां कर्ममिथ्यात्वादीनां जयेऽभिभवे निराकरणे यतते मायारहितस्तज्जयहेतोः तान् जेष्यामि इति अशठं सम्यगागमोक्तेन विधिना स निर्ग्रन्थ इति। एतेन मूलसंघातिनिर्ग्रन्थाः प्रत्युक्ताः ॥ १४२ ॥

अर्थ—आठ प्रकारके कर्म मिथ्यात्व अविरति और अशुभ योग ये सब ग्रन्थ हैं। उन्हें जीतनेके लिए जो कपट रहित होकर विधिपूर्वक प्रयत्न करता है, वही निर्ग्रन्थ है।

भावार्थ—जिसके द्वारा प्राणी बाँधा जाता है, उसे ग्रन्थ कहते हैं। इसी लिए ज्ञानावरणादिक कर्म तथा उनके कारण मिथ्यात्व वगैरहको ग्रन्थ कहते हैं। जिसने बाह्य परिग्रहका त्याग कर दिया है और इन अन्तरङ्गपरिग्रहोंको जीतनेके लिए जो प्रयत्नशील है, वही निर्ग्रन्थ है।

किं पुनः कल्प्यमकल्प्यञ्च ? इत्याह—
कल्प्य और अकल्प्यका स्वरूप बतलाते हैं—

यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम् ।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम् ॥ १४३ ॥

टीका— यत् इति यस्मात् ज्ञानं श्रुतमागमः, शीलं मूलोत्तरगुणाः, तपोऽनशनादि द्वादशभेदम् उपग्रहम्—उपाष्टम्भनं संवर्धनम् निग्रहं च दोषाणाम्—दोषाः क्षुत्पिपासादयः शीतोष्णादयो वा रागद्वेषादयो वा तेषां निग्रहं निवारणं करोति। कल्पयति समर्थमुपग्रहनिग्रह

१–ज्ञानावरण ... २–... ३ ... ४ ...

योर्भवति । यद्वस्तु आहारोपधिशय्यादि । निश्चये व्यवहारे वा । उत्सर्गो निश्चयो विधिः, अपवादो व्यवहारो विधिः । तत्कल्प्यम् । यस्मान्निश्चये व्यवहारे ज्ञानादीनामुपग्रहकारि दोषाणां च निग्रहकारि यद्वस्तु तत् कल्पनीयमवशिष्टमिति ॥ १४३ ॥

अर्थ—यतः जो वस्तु ज्ञान शील और तपको बढ़ाती है और दोषोंको दूर करती है वह निश्चयसे कल्प्य है और बाकी सब अकल्प्य है।

भावार्थ—व्यवहारमें जो आहारादि वस्तु ज्ञान मूलगुण उत्तरगुण और तपको बढ़ाती हो, मूल-प्यास अथवा राग-द्वेष वगैरह दोषोंको दूर करती हो, वही साधुके ग्रहण करने योग्य है। किन्तु जिसके सेवनसे धर्माराधनमें प्रमाद हो और काम-क्रोधादिक विकार उत्पन्न होते हों वह अग्राह्य है।

एतमेवार्थं स्पष्टयति—

इसी बातको ही स्पष्ट करते हैं—

यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम् ।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च ॥ १४४ ॥

टीका—उपघातो विनाशः, तं करोति यद्वस्तु आहारादि प्रभुज्यमानं प्रस्तुतोपहन्ति सम्यग्दर्शनम् सम्यग्ज्ञानमागमाख्यम्, शीलं मूलगुणा उत्तरगुणाश्च, योगा मनोवाक्कायाख्याः अहर्निशाभ्यन्तरानुष्ठेया वा व्यापारा योगाः । तदुपघातकारित्वात् कल्प्यमपि तदकल्प्यमेव दृश्यम् । प्रवचनकुत्साकरं यच्च—यच्च प्रवचनकुत्साकरं कुत्सां निन्दां गर्हां करोति यत्तत्तथ अकल्पनीयं मांसमद्यादि अभोज्यादि कुलेषु भक्तपानादिग्रहणं सर्वमेव प्रवचनकुत्साकारि भवत्यकल्प्यमिति ॥ १४४ ॥

अर्थ—जो वस्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और दिन-रातमें की जानेवाली क्रियाओंको नष्ट करती है, तथा जिससे जिन शासनकी निन्दा होती है, वह वस्तु कल्प्य होनेपर भी अकल्प्य है।

भावार्थ—जिस वस्तुसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रमें बाधा उपस्थित होती है दैनिक समीचीन क्रियाओंको क्षति पहुँचती है और जिसके उपयोगसे जैनेन्द्र शासन कलङ्कित होता है, वह वस्तु अकल्प्य ही मानी जानी चाहिए।

किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात्स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् ।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥ १४५ ॥

१–एतमे–प । २–गुणोत्तर–फ० प० । ३–कं निन्दां गर्हां वां करोति यत्तत्–फ ।

टीका—किञ्चिदाहारादि उद्गमादिविशुद्धमपि कल्प्यमकल्प्यमेव स्यात्, घृतक्षीरदधिगुडादि विकारहेतुत्वान्नवर्णापरोः परिहार्यम्। तथा अकल्प्यमपि कल्प्यम्—तदेव क्षीरघृतादि वातविकारिणां कल्प्यं जायते। पिण्ड इति आहारश्चतुर्विधः। शय्या प्रतिश्रयः, वस्त्रं पात्रं च लेपमात्रं च। औषधमपि व्याध्यार्तानां मिश्रं सचेतनं वा कल्पनीयमेव नीरोगवपुषस्त्वकल्प्यमिति ॥१४५॥

अर्थ—भोजन शय्या वस्त्र पात्र अथवा औषध वगैरह कोई वस्तु शुद्ध अतएव कल्प्य होने पर भी अकल्प्य हो जाती है और अकल्प्य होनेपर भी कल्प्य हो जाती है।

भावार्थ—आहार वगैरह उद्गमादि दोषोंसे शुद्ध होनेपर भी अकल्प्य हो जाते हैं। जैसे घी, दूध, दही गुड़ वगैरह विकारको उत्पन्न करते हैं। अतः कल्प्य होनेपर भी त्यागने योग्य हैं। तथा अकल्प्य भी कल्प्य हो जाता है। जैसे वही घी दूध वगैरह वातविकारी मनुष्योंके लिए कल्प्य होते हैं। इसी प्रकार औषध भी रोगियोंके लिए कल्प्य भी है। और स्वस्थ मनुष्योंके लिए अकल्प्य है।

कदा कल्प्यं कदा वाऽकल्प्यम् इति विभजते—
उक्त वस्तुएँ कब कल्प्य होती हैं और कब अकल्प्य होती हैं, यह बतलाते हैं —

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान् ।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ॥ १४६ ॥

टीका—देशं प्राप्य किञ्चिदकल्प्यमपि कल्प्यं भवति। कालो दुर्भिक्षादि तमाप्येवम्। पुरुषो राजादिः, प्रव्रजितः, तदपेक्षमकल्प्यमपि कल्प्यम्। अवस्था मांद्यादिका, तयापि वैद्योपदेशादकल्प्यमपि कल्प्यम्। उपघातः संसक्तदोषः, तत्र सक्त्वादि-संसक्तमग्राह्यमकल्प्यम्, तदेव चाम्लकाले पक्वात् प्रत्यवेक्ष्य ग्राह्यं कल्प्यमिति। शुद्धपरिणामामिति-शुद्धपरिणामे चेतसः। तत्र शुद्धो गृह्णतोऽकल्प्यमपि कल्प्यं भवतीति। एतदेव दर्शयति पश्चार्धेन—

प्रसमीक्ष्य सम्यगालोच्य कल्पनीयं गृह्णतो नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यमिति—न खलु एकान्तेनैव कल्प्यते जायते कल्प्यम्। अथवा नैकान्तेनैव कल्प्यतेऽकल्प्यम्, अकल्प्यमेकान्तेनैव न कल्प्यते। न कल्पनीयमकल्प्यमिति। यस्मात् देशकालाद्यपेक्षया कल्प्यमकल्प्यं भवति, अकल्प्यमपि कल्पनीयमिति।

अर्थ—देश काल, क्षेत्र पुरुष, अवस्था उपघात और शुद्ध परिणामोंका विचार करके वस्तु कल्प्य होती है। कोई वस्तु सर्वथा कल्प्य नहीं होती।

भावार्थ—किसी देशमें अकल्प्य वस्तु भी कल्प्य होती है। जिस प्रकार जिस देशके लोग साधुजनोंके आहारादिककी विधिसे परिचित नहीं हैं वहाँ अकल्प्य आहार भी कल्प्य है। दुर्भिक्ष

१–किञ्चि–प०। २–ना–फ० ब। ३–चेतनं–प। ४–इत्यादि विभजते–फ० ब। ५–के देशे पु–ब। ६–पुरुषापेक्ष–फ० ब। ७–मार्गे–प। ८–सक्त्वादि–प फ। सक्त्वादि–ब म। ९ अन्यथोत्स्थं ना–प। १०–मामिति–प। ११–मामयेन–फ। १२–किंचा पश्यते–ब०, मु०।

आदिके समयमें भी अकल्प्य कल्प्य हो जाता है। राजपदने वगैरहके किसी बड़े पुरुषने दीक्षा ली हो तो उसके लिए अकल्प्य भी कल्प्य होता है। बीमारी आदिमें वैद्यके कहनेसे अकल्प्य भी कल्प्य होता जीवसे संयुक्त वस्तु, अकल्प्य है किन्तु यदि दूसरी वस्तु न मिले तो अच्छी तरह देख-भालकर वही कल्प्य हो जाती है। तथा धुव मार्गोंके होनेपर भी अकल्प्य कल्प्य हो जाता है। अतः कोई वस्तु न सर्वथा कल्प्य ही होती है और न सर्वथा अकल्प्य ही। देश, काल वगैरहकी अपेक्षासे कल्प्य अकल्प्य हो जाता है और अकल्प्य भी कल्प्य हो जाता है।

एवमनैकान्तिकं कल्प्याकल्प्यविधिं निरूप्य योगत्रयनियममाचाह संक्षेपतः—

इस प्रकार अनेकान्तवादके अनुसार कल्प्य और अकल्प्यकी विधिको बतलाकर मन, वचन और काय योगको वशमें करनेके लिए संक्षेपमें कथन करते हैं—

तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना।
नात्मपरोभयबाधकमिह यत्परतश्च सर्वाद्धम् ॥ १४७ ॥

टीका—मनसा तदेव चिन्त्यम्—आर्तरौद्रध्यानद्वयपरिहारेण यन्नात्मनः परस्योभयस्य बाधकं भवति। वाचाऽपि तदेव भाष्यं भाषणीयं यन्नात्मादीनां बाधकं भवति सर्वथा। यतिना कायेनापि धावनवल्गनादिक्रियात्यागेन तदेव कार्यं कर्तव्यं यन्नात्मादीनां बाधकं भवति। सर्वाद्धमिति—अद्धा कालः, सर्वकालम् इत्यर्थः। वर्तमानेऽनागते च। तत्रापि वर्तमाना व्यावहारिकः परिग्राह्यः, अनागतश्च सर्व एव। अतो मनोवाक्कायैः सम्यग्व्यापारा कार्यास्तथा यथा स्वल्पोऽपि कर्मबन्धो न जायते इति ॥ १४७ ॥

अर्थ—मुनिको सब प्रकारसे वही विचारना चाहिए, वही बोलना चाहिए और वही करना चाहिए, जो इस लोक और परलोकमें सर्वदा न अपनेको दुखदायी हो, न दूसरोंको दुखदायी हो और न उभय को दुखदायी हो।

भावार्थ—आर्तध्यान और रौद्रध्यानको छोड़कर मनसे वही विचारना चाहिए जो अपनेको, दूसरोंको, और दोनोंको कभी भी बाधक न हो। वाणीसे भी ऐसी ही बात बोलनी चाहिए जो अपनेको और दूसरोंको कभी भी कष्ट देनेवाली न हो। तथा शरीरसे भी वही चेष्टा करनी चाहिए जो अपनेको और दूसरोंको कभी भी कष्ट देनेवाली न हो। सारांश यह है कि मन, वचन और कायसे इस रीतिसे काम लेना चाहिए कि उससे थोड़ासा भी कर्म-बन्ध न हो।

सम्प्रति इन्द्रियनियममाचष्टे—

अब इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिए कहते हैं—

सर्वार्थेष्विन्द्रियसंगतेषु वैराग्यमार्गविघ्नेषु।
परिसंख्यानं कार्यं कार्यं परमिच्छता नियतम् ॥ १४८ ॥

१—सर्वार्थेष-प फ, ब

टीका—सर्वे च तेऽर्थाश्च शब्दरूपगन्धरसस्पर्शाः । इन्द्रियाः संगताः—इन्द्रियाणां गोचरतां गतास्तेषु । वैराग्यमार्गविघ्नेषु—वैराग्यमार्गाः सम्यग्ज्ञानक्रियाः, तद्विघ्नेषु—तदन्तरायकारिषु । शब्दादिविषयेषु । परिसंख्यानं कार्यम्—इत्वरानेतान् शब्दादीन् विज्ञाय निस्सारानायतावहितान् परिसंख्याय प्रत्याख्याय गोचरवर्तिनोऽपि रागद्वेषवर्जनद्वारेण ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां परिसंख्यानं कार्यमित्यर्थः । कस्मात्पुनः संयम्यन्ते गोचरमागता विषयाः शब्दादयः ? इत्याह—कार्यं परमिच्छता नियतम् । कार्यं सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः । प्रकृष्टं परम् । धर्मार्थकाममोक्षाणां मोक्षाख्यमेव कार्यं परं कार्यम् । कामस्य दुःखात्मकत्वात् दुःखहेतुत्वात् तस्यायतपरम्परितत्वात् । अर्थस्यार्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादिदोषदुष्टत्वात् अनर्थानुबन्धित्वाच्च सुरेश्वराणां क्षयातिशयकृतत्वात् । अभ्युदयलक्षणस्य धर्मस्यार्थकामफलत्वात् दुष्टता । सर्वथा चात्यन्तिकैकान्तिकसुखस्वभावत्वात् परं कार्यं मोक्षः । तमिच्छता । नियतं शाश्वतम् इत्यर्थः । तमिच्छता परं कार्यं विषयसुखेषु निस्पृहेण भवितव्यम् ॥ १४८ ॥

अथ—उत्कृष्ट कार्य मोक्षके अभिलाषी मुनिको वैराग्यके मार्गमें विघ्न करनेवाले इन्द्रिय सम्बन्धी समस्त विषयोंमें सर्वदा नियम करना चाहिए।

भावार्थ—शब्द रूप गन्ध, रस और स्पर्श ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय हैं। ये सभी विषय वैराग्यके मार्ग—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें बाधा डालते हैं। अतः इनको विनाशी, साररहित और उत्तरकालमें अहितकारक जानकर त्यागना चाहिए। धर्म, अर्थ काम और मोक्षमेंसे मोक्ष ही उत्कृष्ट पुरुषार्थ है; क्योंकि काम पुरुषार्थ तो दुःखका कारण होनेसे दुःख रूप ही है। अर्थ पुरुषार्थमें अर्थके कमाने रक्षा करने और नाश होने वगैरहमें अनेक दोष पाये जाते हैं। वह अनर्थका कारण है। मनुष्य तथा देवोंका भी ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है। अतः क्लेशका कारण है। पुण्यानुबन्धी धर्म पुरुषार्थका फल अर्थ और काम है। अतः सर्वथा अविनाशी और सुख स्वरूप होनेके कारण मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। जो मुनि उस परम पुरुषार्थको प्राप्त करना चाहता है, उसे उक्त विषय-सुखमें निःस्पृह वाञ्छारहित होना चाहिए।

निस्पृहता चानित्यत्वादिभावनायत्ता इत्याह—

निःस्पृहता, अनित्यादि बारह भावनाओंके अधीन है। अतः ग्रन्थकार बारह भावनाओंके चिन्तन करनेका उपदेश देते हैं—

भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे ।
अशुचित्वं संसारः कर्माश्रवसंवरविधिश्च ॥ १४९ ॥

१—तदन्तरि-ब । -यता मा-फ । -स्पर्शि मा-मु ।

निर्जरणलोकविस्तरधर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च ।
बोधेः सुदुर्लभत्वं च भावना द्वादश विशुद्धाः ॥ १५० ॥

टीका—भावयितव्यम्—अहर्निशं चिन्तनीयमभ्यसनीयम्। किं तत्? अनित्यत्वम्—सर्वस्थानान्यशाश्वतानि संसारे नास्ति किञ्चिन्नित्यमिति। तथाऽशरणत्वम्—जन्मजरामरणाभिभूतस्य नास्ति क्वचिदपि शरणम्। तथा एकत्वभावना— एक एवाहम् इत्यादिका। तथाऽन्यत्वभावना-अन्य एवाहं स्वजनेभ्यो धनधान्यहिरण्यसुवर्णादेः शरीराच्चेति। तथाऽशुचित्वभावना—आद्युत्तरकारणाशुचित्वादिका। तथा संसारभावना— माता भूत्वा दुहिता भार्या स्वामी दासो शत्रुर्भवति इत्यादिका। तथा कर्माश्रवभावना—आश्रवद्वाराणि विवृतानि कर्माश्रवन्तीति भावयत्तस्मात् स्थगनीयानीति। तथा संवरविधिः—आश्रवद्वारनिरोधः स्थगनम्। निरुद्धेष्वाश्रवद्वारेषु कर्मागमनिरोधः कृतो भवति। तथा निर्जरभावना निरुद्धेष्वाश्रवद्वारेषु पूर्वोपात्तस्य कर्मणः तपसा क्षयो भवतीति तथा लोकविस्तरभावनाम् 'ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकेषु भ्रान्तमनादौ संसारे सर्वत्र विस्मृतं जातश्च इति चिन्तयेत्। स्वाख्यातधर्मचिन्तनं क्षमादिदशलक्षणको धर्मः शोभनं आख्यातो निर्वापः भव्यसत्त्वानुग्रहाय इति भावयेत्। बोधेश्च दुर्लभता भावनीया—मनुष्यजन्मकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्पतायुरुपलब्धौ सत्यामपि सम्यक्त्वज्ञानाचरणानि बोधिः, तस्य दुर्लभत्वमहर्निशं भावयेत्। एवमेता द्वादश भावनाः सततमनुप्रेक्ष्याः॥ १४९-१५० ॥

अर्थ—अनित्यत्व, अशरणत्व, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, संसार, कर्मोंके आस्रवकी विधि, संवरकी विधि, निर्जरा, लोकविस्तार, अच्छी तरहसे कहा गया धर्म और बोधकी दुर्लभता ये बारह भावनाएँ हैं। इनका चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, संसारमें कुछ भी नित्य नहीं है। इस प्रकारके चिन्तन करनेको अनित्यभावना कहते हैं। जन्म जरा और मृत्युसे घिरे हुए प्राणीको कहीं भी शरण नहीं है, ऐसा चिन्तन करनेको अशरणभावना कहते हैं। मैं अकेला ही हूँ इत्यादि विचारनेको एकत्वभावना कहते हैं। अपने कुटुम्बियों धन-धान्य सोना-चाँदी वगैरह तथा शरीर आदिसे मैं भिन्न हूँ—ऐसा विचारनेको अन्यत्वभावना कहते हैं। शरीरके आदि कारण रज-वीर्य तथा उत्तर कारण धमादि धातुएँ अपवित्र हैं। अतः शरीर भी अपवित्रताका घर है—ऐसा चिन्तन करनेको अशुचित्वभावना कहते हैं। संसारमें माता कभी कन्या और पत्नी हो जाती है और पत्नी माता तथा बहिन हो जाती है। और स्वामी दास तथा शत्रु बन जाता है, इस प्रकार संसार-स्वरूपके चिन्तनको संसारभावना कहते हैं। आस्रवके द्वारोंके खुले रहनेपर कर्म आते हैं। अतः उन्हें बन्द करना चाहिए—ऐसा विचार करनेको कर्मास्रव भावना कहते हैं। तथा आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं। आस्रवके द्वारोंके बन्द हो जानेपर कर्मोंका आना रुक जाता है, ऐसा विचारनेको संवरभावना कहते हैं। आस्रवके द्वारोंके बन्द हो जानेपर तपके

१—नास्त्यपि। २—ऊर्ध्वाधस्ति फ०, ब०। ३—पंचदश-प०। ४—स्वभावपर्ये ब०, प०।

द्वारा पहले बँधे हुए कर्मोंका क्षय होता है, ऐसा चिन्तन करनेको निर्जराभावना कहते हैं। यह जीव अनादिकालसे ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोकमें भ्रमण करता है, इत्यादि लोकके स्वरूपके विचारनेको लोकविस्तारभावना कहते हैं। भव्य जीवोंके कल्याणके लिए उत्तम क्षमादि दसलक्षणरूप धर्म अच्छा कहा है, ऐसा चिन्तन करना धर्म-स्वाख्याततभावना है। मनुष्य जन्म कर्मभूमि, आर्यदेश, कुल नीरोगता और आयुके पानेपर भी सम्यग्ज्ञानका पाना दुर्लभ है, ऐसा विचारनेको बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं। इस प्रकार इन बारह भावनाओंका रात-दिन चिन्तन करना चाहिए।

साम्प्रतं प्रत्येकमेकया कारिकया भावनामेकैकां कथयति। तत्र प्रथमो भावनाऽनित्यताख्या, तदर्थमेवाह—

अब एक एक कारिकासे एक एक भावनाको कहते हैं। उनमेंसे पहले अनित्यभावनाको कहते हैं —

इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदस्तथारोग्यम् ।
देहश्च यौवनं जीवितञ्च सर्वाण्यनित्यानि ॥ १५१ ॥

टीका—इष्टेन जनेन सह संयोगोऽनित्यः। ऋद्धिविषयसुखसम्पदः—ऋद्धिः सम्पद् विभूतिः साप्यनित्या। विषयाः शब्दादयः, तज्जनिता सुखसम्पदनित्या। आरोग्यं नीरोगता, तदप्यनित्यम्, देहः शरीरम् आहारस्नानपानाच्छादनाद्युपचरितम् एतदप्यनित्यम्। यौवनमपि कतिपयदिवसरमणीयम्, जीवितमप्यकाण्डभङ्गुरम्। 'एवम् एतत्सर्वमनित्यम्' इति भावयतो न क्वचित् स्नेहः समुपजायते। निःस्नेहश्च मोक्षचिन्तायामेव व्याप्रियत इति ॥ १५१ ॥

अर्थ—इष्ट जनका संयोग ऋद्धि विषय-सुख सम्पदा, आरोग्य शरीर यौवन और जीवन—ये सभी अनित्य हैं।

भावार्थ—प्रिय जनोंका सम्बन्ध अनित्य है। धन-सम्पदा भी अनित्य है। विषय और उनसे होनेवाला सुख भी अनित्य है। नीरोगता भी अनित्य है। खान-पान स्नान और वस्त्रसे रक्षित शरीर भी अनित्य है। जवानी भी चार दिनकी चाँदनी है। जीवन भी असमयमें ही नष्ट हो जानेवाला है। इस प्रकार इन सबकी अनित्यताका विचार करते रहनेसे किसीसे राग उत्पन्न नहीं होता। अतः रागरहित प्राणी मोक्षकी चिन्तामें ही लगा रहता है।

अशरणभावनामधिकृत्याह—

अशरणभावनाको कहते हैं —

जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते ।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ १५२ ॥

१—म भ—प । २—संयोगो-प । ३—एतच्च—प ।

टीका—जन्म-उत्पत्तिः, जरा वयोहानिः, मरणं प्राणपरित्यागः, एभ्यो भयानि तैः। अभिद्रुते—अभिभूते। व्याधयो ज्वरातीसारकुष्ठरोगादयः, वेदनाः शरीरजा मनोभवाश्च। व्याधिवेदनाग्रस्ते व्याधिवेदनाभिगृहीते, लोके प्राणिसमूहे। जिनवरा जिनप्रधाना तीर्थकराः इत्यर्थः। तेषां वचनं वाग्योगस्तत्प्रतिपादितोऽर्थः। तमाश्रित्य क्षायोपशमिकभाववर्तिभिर्गणधरैरब्धं द्वादशाङ्गं प्रवचनम्। तन्मुक्त्वा अन्यत्र नास्ति शरणं[1] त्राणमिति ॥ १५२ ॥

अर्थ—जन्म, जरा और मरणके भयसे व्याप्त तथा रोग और कष्टोंसे भरे हुए इस संसारमें भगवान् जिनेन्द्रदेवके वचनोंके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

भावार्थ—संसारके सभी प्राणियोंके ऊपर जीवन-मरण और बुढ़ापेका भय सवार है। सभीके पीछे रोग और कष्ट लगे हुए हैं। अतः जिनभगवान्के दिव्य उपदेशको सुनकर गणधरदेवोंने जो द्वादशाङ्ग श्रुतकी रचना की है, उस श्रुतके सिवाय अन्य कुछ भी यहाँ शरण नहीं है।

एकत्वभावनामधिकृत्याह—

एकत्वभावनाको कहते हैं —

एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते।
तस्मादाकालिकहितमेकेनेवात्मना कार्यम् ॥ १५३ ॥

टीका—एकस्य[2] इति असहायस्य जन्म च मरणञ्च। न जातस्य जायमानस्य म्रियमाणस्य वा कश्चित् सहायोऽस्ति। गतयो नारकाद्याः। नरकोत्तरकालं नरकादिगतिषु स्वकृतकर्मफलमनुभवतो नास्ति कश्चित्परः। शुभा देवमनुष्यतिर्यग्योनयः, नरकगतिरशुभा। भवो जन्म स एव आवर्तः संसारार्णवः। यत्र प्रदेशे भ्राम्यदास्ते जलं तदेव च स आवर्तः। जीवस्यापि तत्र तत्र जन्ममरणे समनुभवतो भवावर्तः। तस्मात् आकालिकम्-अकालहीनम्। हितमेकेनैवात्मना कार्यम्—हितं तपमानुष्ठानं तत्प्राप्यो वा मोक्षोऽत्यन्तहितम्, एकेन असहायेनात्मना कर्तव्यमिति ॥ १५३ ॥

अर्थ—संसाररूपी भँवरमें पड़ा हुआ यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है। और अकेला ही शुभ और अशुभ गतियोंमें जाता है। अतः अकेले ही मुझे अपना स्थायी हित करना चाहिए।

भावार्थ—समुद्रमें जिस जिस स्थानपर चक्कर खाकर पानी नीचेको जाता है, उसे आवर्त-भँवर कहते हैं। संसार-समुद्रमें भी जीव जहाँ जहाँ जन्म लेता या मरता है, वह भव-आवर्त कहा जाता है। उस भवरूपी आवर्तमें जीव अकेला ही जन्म लेता है, और अकेला ही मरता है। जन्म लेते और मरते समय उसका कोई भी सहायी नहीं है। मरनेके बाद नरकादि गतियोंमें अपने किये हुए कर्मोंके

१—जराप्रभ—प० । २—°भे परित्या—प । ३—सर्वे—प० ब० । ४—°भवस्तावज्ज—प० ब ।

फलको भी अकेला ही भोगता है। जीवका हित सम्यक्त्व पालन करना अथवा उसके द्वारा प्राप्त होनेवाला मोक्ष ही है, जो कभी भी नाशको प्राप्त नहीं होता। अतः जब यह जीव अकेला ही सब भोगता है तो उसे अकेले ही अपना हित-साधन भी करना चाहिए।

अन्यत्वभावनामधिकृत्याह—

अन्यत्वभावनाको कहते हैं—

अन्योऽहं स्वजनात्परिजनाच्च विभवाच्छरीरकाच्चेति ।
यस्य नियता मतिरियं न बाधते तं हि शोककलिः ॥१५४॥

टीका—स्वोजना स्वजनो मातापित्रादिः पत्नीपुत्रादिश्च। तस्मादहमन्यो विभिन्नः पृथक्कर्मा। परिजनो दासदासीभृत्यादिः। तस्माच्च परिजनादन्य एवाहम्। विभवो धनधान्यादिः कनकरजतवस्त्रादिर्वा। तस्मादन्योऽहम्। शरीरकमुपभोगाधिष्ठानम् तस्मादप्यन्यत्वमिव एवाहम्। इत्थं यस्यैषं बुद्धिर्नियता भक्त्यभिमानोऽपि च न बाधते तं न पीडयति। हि शब्दो यस्मादर्थे। यतदोर्नित्याभिसम्बन्धात्। यस्मादेवं भावयन् बाध्यते शोककलिना तस्मादन्यत्वं (इत्यन्यत्व) भावना कार्या ॥ १५४ ॥

अर्थ—मैं अपने कुटुम्बियों नौकर-चाकरों, धन-धान्य सम्पदा और शरीरसे भिन्न हूँ। जिसकी इस प्रकारकी निश्चित मति है उसे शोकरूपी कलिकाल कष्ट नहीं देता।

भावार्थ—जिसकी बुद्धिमें रात-दिन यही विचार बना रहता है कि मैं माता, पिता, पत्नी, पुत्र वगैरह कुटुम्बियोंसे भिन्न हूँ, दासी-दास वगैरह परिजनोंसे भिन्न हूँ, धन-धान्य, सोना-चाँदी, वस्त्र वगैरह विभवसे भिन्न हूँ भोग-उपभोगके आश्रय इस शरीरसे भी भिन्न हूँ, उसे कभी भी शोक नहीं सताता। अतः अन्यत्वभावना करनी चाहिए।

अशुचित्वभावनामधिकृत्याह—

अशुचित्वभावनाको कहते हैं—

अशुचिकरणसामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च ।
देहस्याशुचिभावः स्थाने स्थाने भवति चिन्त्यः ॥ १५५ ॥

टीका—शुचिनोऽपि द्रव्यस्याशुचित्वकरणमस्ति सामर्थ्यं शरीरस्य देहस्य। कर्पूरचन्दनागरुकुङ्कुमादि द्रव्यं देहसंपर्कादशुच्येव जायते। तस्मादशुचिकरणसामर्थ्याद्देहस्याशुचित्वमनुचिन्तनीयम्। यथाह—

" एतावदेतदशुचि नान्यत् किञ्चिच्च विद्यते ।
यथा पापं कलेवरं यथा तेनच दूषितम् ॥ "

१—स्वजने-ब । २—अशुचित्व भावना कार्या—फ ब० । ३—अगरकर्पूर—फ० । ४—कारण—फ ब ।

मातुत्तरकारणाशुचित्वाच्च । आदिकारणं शुक्रशोणितम् । उत्तरकारणं अनन्याभ्यवहृतस्य (स्वयंहृतस्य) आहारस्य रसहरण्योपनीतस्य रसस्यास्वादमनस्यन्ताशुचि । एवमाद्युत्तरकारणयोरशुचित्वादशुचिर्देह इति प्रतिक्षणमनुचिन्तनीयम् । स्थाने स्थाने इति शिरःकपालाद्यवयवेषु चरणान्तेषु त्वगाच्छादितासृग्मांसमेदोमज्जास्थिस्नायुजालसन्तानबन्धेषु न कश्चिच्छुचिगन्धोऽस्तीत्यशुचिगन्ध एव विजृम्भते इति ॥ १५५ ॥

अर्थ—इस शरीरमें पवित्र पदार्थोंको भी अपवित्र कर देनेकी शक्ति है, इसके आदिकारण तथा उत्तरकारण भी अपवित्र हैं। अतः प्रत्येक स्थानपर उसकी अपवित्रताका विचार करना चाहिए।

भावार्थ—कपूर, चन्दन, अगुरु, केसर वगैरह सुगन्धित द्रव्य शरीरमें लगानेसे दुर्गन्धित हो जाते हैं। तथा शरीरका आदिकारण रज और वीर्य है, क्योंकि प्रारंभमें उन्हींके मिलनसे शरीर बनना शुरू होता है। बादको माता जो भोजन करती है, उस भोजनका जो रस हरेमोंमें आता है उससे शरीर बनता है। अतः शरीरका आरम्भिक कारण भी गन्दा है, और उत्तरकारण भी गन्दा है। और उनके गन्दे होनेसे शरीर भी गन्दा है। इन कारणोंसे सिरसे लेकर पैरतक शरीरके प्रत्येक अङ्गमें अशुचित्व—गन्दगीका विचार करना चाहिए। अर्थात् यह सोचना चाहिए कि यह शरीर चामसे मढ़ा हुआ है। इसके अन्दर खून माँस, चर्बी, मज्जा और हड्डियाँ भरी हुई हैं, जो नसोंके जालसे वेष्टित हैं। इसमें कहीं भी शुचिपना नहीं है। अतः अशुचिपना ही बढ़ता रहता है।

संसारभावनामधिकृत्याह—

संसारभावनाको कहते हैं—

माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे ।
व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥ १५६ ॥

टीका—संसारे परिभ्रमतां सत्त्वानां माता भूत्वा भूत्वा सैव च दुहिता भवति, सैव च पुनर्भार्या । सैव च संसृती परिवर्तमाना भगिन्यपि भवति । तथा पुत्रो भूत्वा पिता भवति । स एव सुतः पुनर्भ्रातृत्वमायाति । स एव च पुनः सपत्नो भवतीत्येवमादर्यवीमादे प्राये संसारे सर्वसत्त्वाः पितृत्वेन मातृत्वेन पुत्रत्वेन शत्रुत्वेन चेत्यादिना सम्बन्धेन कृतसम्बन्धा बभूवुरिति ॥ १५६ ॥

अर्थ—संसारमें जीव माता होकर पुत्री, बहिन और पत्नी हो जाता है, तथा पुत्र होकर पिता भ्राता और शत्रु तक हो जाता है।

भावार्थ—संसारमें परिभ्रमण करता हुआ जीव माता होकर पुत्री हो जाता है, पुत्री होकर बहिन हो जाता है और बहिन होकर पुत्री हो जाता है। तथा पुत्री होकर पिता हो जाता है पिता होकर

१—एक ही भवमें अठारह नातोंकी कथा प्रसिद्ध है जो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीकामें दी गई है। वह ग्रंथ श्रीशुभचन्द्रकृत संस्कृतटीका और नई हिन्दीटीका सहित इसी ग्रन्थमालामें छप रहा है।

मित्र हो जाता है और मित्र होकर शत्रु हो जाता है। इस प्रकार इस संसारमें सभी प्राणी माता, पिता, पुत्र, शत्रु इत्यादि हो चुके हैं। अतः एकसे राग और दूसरेसे द्वेष करना व्यर्थ है।

अथास्रवभावनामभिधित्सुराह—

आस्रवभावनाको कहते हैं—

मिथ्यादृष्टिरविरतः प्रमादवान् यः कषायदण्डरुचिः ।
तस्य तथास्रवकर्मणि यतेत तन्निग्रहे तस्मात् ॥ १५७ ॥

टीका—मिथ्यादर्शनाद्यैः कर्मणः आस्रवः। तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणो मिथ्यादृष्टिः। मिथ्यात्वकर्मोदयात् कर्मबन्धः। अविरतः सम्यग्दृष्टिरपि यो न विरतः कुतश्चिदपि प्राणातिपातादेः दोषात् तस्यापि कर्मास्रवेषु वर्तते। सम्यग्दृष्टिर्विरतोऽपि यः सोऽपि कर्माश्रवत्यास्रवे। प्रमादश्च निद्राविषयकषायविकटविकथाख्यः पञ्चधा। अनेन प्रमादेन युक्तः कर्म बध्नाति। कषायप्रमादो गरीयानिति भेदेनोपादानम्। दण्डस्त्रिधा मनोवाक्कायाख्यः। मनसार्तरौद्राध्यवसायं कर्मास्रवति। वाचाऽपि हिंसकपरुषादितया कर्म बध्नाति। कायेनापि धावनवल्गनास्फालनादिरूपेण कर्मादीयते। दण्डयन्तीति दण्डाः। मन एव दण्डयत्यात्मानम्। एवमितरयोरपि। तस्यास्रवेभ्यो कर्मणि क्रियायां यतेत यत्नं कुर्वीत। तेषामास्रवाणां निग्रहो निरासस्तस्मादास्रवा-दिति। निरुद्धाश्रवद्वाराणि यथा न समायान्ति तथा यतेत ॥ १५७ ॥

अर्थ—जो प्राणी मिथ्यादृष्टि अविरत और प्रमादी है तथा कषाय और योगमें रुचि रखता है, उसके कर्मोंका आस्रव होता है। अतः उनके रोकनेका प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन वगैरह कर्मोंके आस्रवमें कारण हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्वकर्मका उदय होता है अतः उसके कर्मबन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि होकर भी जो हिंसा वगैरह पापोंसे विरत नहीं होता है उसके भी कर्मोंका आस्रव होता है। सम्यग्दृष्टि और विरत होकर भी जो प्रमादी है, उसके भी कर्मोंका आस्रव होता है। प्रमादके पाँच भेद हैं—निद्रा विषय कषाय, विकट और विकथा। जो इन प्रमादोंसे युक्त होता है, उसके कर्मबन्ध होता है। यद्यपि प्रमादमें ही कषायका अन्तर्भाव हो जाता है तथापि कषाय बलवान् है अतः उसका अलगसे ग्रहण किया है।

दण्डके तीन भेद हैं—मन वचन और काय। आर्त और रौद्र परिणामवाला जीव मनसे कर्मबन्ध करता है। हिंसक और कठोर वाणी बोलकर वचनसे कर्मबन्ध करता है और दौड़ उछल-कूद वगैरह करके कायसे कर्मबन्ध करता है। जो दण्ड देते हैं उन्हें दण्ड कहते हैं। मन आत्माको दण्ड देता है, अतः वह मनोदण्ड कहा जाता है। इसी प्रकार वचन और काय-दण्डमें भी समझ लेना चाहिए। ये सब आस्रवके द्वार कहे जाते हैं क्योंकि इनके द्वारा कर्म आते हैं। अतः आस्रवके द्वार मुक्त न रहें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

संवरभावनामभिधित्सुराह—

संवरभावनाको कहते हैं—

या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्तिः ।
सुसमाहितो हितः संवरो वरददेशितश्चिन्त्यः ॥ १५८ ॥

टीका—पुण्यं कर्म सातादि । पापं ज्ञानावरणादि । तयोः पुण्यपापयोरग्रहणेऽनुपादाने[1] । वाक्कायमानसी वृत्तिर्या व्यापार इत्यर्थः । अग्रहणं च संवृतास्रवद्वारस्य भवति न पुनः पुण्यमादत्ते न पापम् । सुसमाहितः सुष्ठु समाहितः आत्मन्यारोपितः, हितश्च आयत्यां तदात्वे च संवरः आस्रवनिरोधलक्षणः । वरदास्तीर्थकृतः । ईप्सितार्थप्रदानाद्वरदाः । मोक्षाय देशितः । स चिन्तनीयो भावनीय इत्यर्थः ॥ १५८ ॥

अर्थ—मन वचन और कायके जिस व्यापारसे न तो पुण्यकर्मका आस्रव होता है और न पाप कर्मका आस्रव होता है, आत्मामें अच्छी तरहसे धारण किये गये उस व्यापारको तीर्थंकर भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट हितकारक संवर कहते हैं । उसका चिन्तन करना चाहिए ।

भावार्थ—कर्मोंके आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं । यह संवर ही जीवका सदा हितकारी है । इच्छित वरको देनेवाले तीर्थंकरोंने उसका उपदेश दिया है । उसकी भावना करनी चाहिए ।

निर्जराभावनामधिकृत्याह—
निर्जराभावनाको कहते हैं:—

यद्वद्विशोषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोषः ।
तद्वत्कर्मोपचितं निर्जरयति संवृतस्तपसा ॥ १५९ ॥

टीका—कथं पुनः संवृतात्मनः कर्मनिर्जरणमिति दर्शयति—निरुद्धेष्वास्रवद्वारेषु संवृतात्मनोऽपूर्वकर्मप्रवेशो नास्ति पूर्वोपात्तस्य च कर्मणः प्रतिक्षणं क्षयस्तपस्यतो भवति । यथोपचितस्याजीर्णस्य आमविदग्धविष्टब्धरसदोषलक्षणस्य आहारनिरोधे सति विशोषणात्[2] प्रतिदिवसं क्षयो भवति प्रयत्नेन दोषाणामामादीनाम्[3] तद्वत्कर्मापि ज्ञानावरणादि चितं संसृतौ भ्रमता चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशादिभिस्तपोविशेषैर्नीरसीकरोति । नीरसीकृतं च निरनुभाव्यं निष्पीडितकुसुम्भवत् परिशटत्यात्मप्रदेशेभ्य इति ॥ १५९ ॥

अर्थ—जैसे बढ़ा हुआ भी विकार प्रयत्न करनेसे लंघनसे नष्ट होजाता है वैसे ही संवरसे युक्त मनुष्य इकट्ठे हुए कर्मोंको तपस्यासे क्षीण कर डालता है ।

भावार्थ—संवरसे युक्त मनुष्य किस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करता है यह बतलाते हैं । आस्रवके द्वारोंके बन्द होजानेपर नये कर्मोंका तो प्रवेश ही नहीं होता । और पहलेके बाँधे हुए कर्म तपस्यासे प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं । जिस प्रकार बढ़ा हुआ भी अजीर्ण आहार बन्द करके लंघन करनेसे प्रतिदिन क्षय होता है, उसी प्रकार संसारमें भ्रमण करते हुए जीवने जो ज्ञानावरणादि कर्म बाँध रखे हैं चतुर्थक,

१—पादानेन—फ० ब० २ विशोषणात—फ० ब० । ३ दोषप्रभावो नाम—फ० ब० ।

अष्टम, दशम, द्वादश आदि तपोंके द्वारा वे नीरस होजाते हैं। और नीरस होजानेसे बिना फल दिये ही वे कर्म मसले गये कुसुम्भके फूलकी तरह आत्मासे झड़ जाते हैं।

लोकभावनामभिधित्सुराह—

लोकभावनाको कहते हैं—

लोकस्याधस्तिर्यक्त्वं चिन्तयेदूर्ध्वमपि च बाहल्यम् ।
सर्वत्र जन्ममरणे रूपिद्रव्योपयोगांश्च ॥ १६० ॥

टीका—जीवाजीवाधारक्षेत्रं लोकः, तस्याधस्तिर्यगूर्ध्वञ्च चिन्तयेत्। बाहल्यं विस्तारम्। अधः सप्तरज्जुप्रमाणो विस्तीर्णस्तथा लोकः। तिर्यग् रज्जुप्रमाणः। ऊर्ध्वं ब्रह्मलोके पञ्च रज्जुप्रमाणः। पर्यन्ते रज्जुप्रमाण इति। अधः (च) तस्मादूर्ध्वं चतुर्दशरज्जुप्रमाणः। सर्वत्र लोके जन्ममरणे समनुभूते व्यापकमधिकरणम्। नास्ति किञ्चित्परमाणुप्रमितोऽपि लोकाकाशप्रदेशो यत्र न जातः न मृतो वा मयेति। रूपिद्रव्योपयोगांश्चेति रूपीणि यानि द्रव्याणि परमाणुप्रभृतीन्यनन्तानन्तस्कन्धपर्यवसानानि तेषां च उपयोगः परिभोगो मनोवाक्काय-द्वारोच्छ्वासनिःश्वासादिरूपेण सर्वेषां कृतोऽनादौ संसारे तथा, चास्मि न तृप्त इत्यनुक्षणमनुचिन्तयेदिति ॥ १६० ॥

अर्थ—नीचे, तिरछे और ऊपर लोकके विस्तारका विचार करना चाहिए तथा यह भी विचार करना चाहिए कि लोकमें सर्वत्र ही मैं जन्मा और मरा हूँ और सभी रूपी द्रव्योंका मैंने उपभोग किया है।

भावार्थ—जीवों और अजीवोंके आधारभूत क्षेत्रको लोक कहते हैं। उसके तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक या तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोकका विस्तार सात राजू है। तिर्यग्लोकका एक राजू है और ऊर्ध्वलोकका विस्तार ब्रह्मलोकके समीपमें पाँच राजू है और अन्तमें एक राजू है। य [illegible] अधोलोकसे लेकर ऊर्ध्वलोक तक सम्पूर्ण लोककी ऊँचाई चौदह राजू है। सभी लोकमें मैंने जन्म तथा मरणका अनुभव किया है। लोकाकाशमें तिल बराबर भी कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ मैंने जन्म न लिया हो और मैं मरा न होऊँ। परमाणुसे लेकर अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जितने पुद्गल द्रव्य हैं, अनादिसे भ्रमण करते हुए मैंने मन वचन काय, आहार और श्वास उच्छ्वास वगैरहके द्वारा उन सभीको भोग डाला है, तो भी मेरी तृप्ति नहीं हुई है। इस प्रकार प्रतिसमय विचार करते रहना चाहिए।

स्वाख्यातधर्मभावनामभिधित्सुराह—

स्वाख्यातधर्मभावनाको कहते हैं —

धर्मोऽयं स्वाख्यातो जगद्धितार्थं जिनैर्जितारिगणैः ।
येऽत्र रतास्ते संसारसागरं लीलयोत्तीर्णाः ॥ १६१ ॥

१—[illegible]—पु०

टीका—एतद्धर्मचारित्रधर्मस्य सुष्ठु निर्दोषमाख्यातः। किमर्थमाख्यात इत्याह—जगद्धितार्थम्। जगच्छब्देन प्राणिनोऽभिधित्सिता जगद्भ्यः प्राणिभ्यो हितमेतदिति। प्रति विशिष्टं प्रयोजनमुद्दिश्याख्यातः। जिनैस्तीर्थकृद्भिः। अरयः क्रोधादिपरीषहकर्माख्याः। जितोऽभिभूतो निराकृतोऽरिगणो यैस्ते जितारिगणाः। इत्थंलक्षणे च धर्मे आगमरूपे क्षमादिलक्षणे च। ये रताः सक्तास्ते संसारसागरं लीलया अनायासेन सुखपरम्परया। उत्तीर्णाः परं पारमुपगताः। मोक्षं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ १६१ ॥

अर्थ—कर्मरूपी शत्रुओंके जेता तीर्थंकरोंने संसारके कल्याणके लिए इस आगमरूप और उत्तम क्षमादि लक्षण धर्मका निर्दोष कथन किया है। इसमें जो अनुरक्त हुए, उन्होंने संसाररूपी समुद्रको अनायास ही पार कर लिया।

भावार्थ—धर्मके मार्ग-पर चलनेसे ही मनुष्य आत्म-कल्याण कर सकता है। जबतक वह धर्मके रास्ते पर नहीं चलता, उसका अनादि संसार परिभ्रमणके चक्रसे छुटकारा नहीं हो सकता। कर्म शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्ने इस धर्मके दो रूप बतलाये हैं। पहला आगमरूप है और दूसरा उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप है। आगमरूप धर्मसे मनुष्य स्व और परका बोध करता है और अपनी अविराम साधनासे संसार चक्रसे मुक्ति-लाभ करता है। उत्तम क्षमादिरूप धर्मका काम भी प्राणियोंको इसी प्रकार संसार-सागरसे पार उतारता है।

दुर्लभबोधित्वभावनामधिकृत्याह—

दुर्लभबोधिभावनाको कहते हैं —

मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्यतायुरुपलब्धौ ।
श्रद्धाकथकश्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधिः ॥ १६२ ॥

टीका—प्राक् तावन्मानुषजन्मैव दुर्लभं चोल्लकादिदृष्टान्तदशकेन विभावनीयम्। सति च मानुषजन्मनि कर्मभूमिः सुदुर्लभा। कर्मभूमिरपि यत्र तीर्थकृत उत्पद्यन्ते सद्धर्मदेशना-प्रवणाः परिनिर्वाणं प्राप्नुवन्ति भव्याः, पञ्च भरतानि, पञ्चैरावतानि विदेहाश्च पञ्चैव। मानुषत्वे कर्मभूमौ च सत्याम् आर्यो देशो मगधो वङ्गकलिङ्गादिको दुर्लभः। सत्स्वेतेषु त्रिषु, कुलमन्वय-विशुद्धिर्दुर्लभा। इक्ष्वाकुहरिवंशादि कुलम्। एतेष्वपि कुलपर्यन्तेषु कल्यता नीरोगता दुर्लभा। एतेषु च कल्यतान्तेषु अवाप्तेषु दीर्घमायुर्दुर्लभम्। आयुष्कान्तेषु च समासादितेषु श्रद्धाधर्म जिज्ञासा दुर्लभा। सत्यामपि जिज्ञासायां कथकः सद्धर्मव्याख्याता दुर्लभः। सत्यपि कथके श्रवणमाकर्णनं प्रस्तावाभावाद् दुर्लभम्, अनेकप्रयोजनव्यग्रत्वाद् आलस्यमोहावज्ञामदप्रमाद-कृपणत्वभयशोकाज्ञानव्याक्षेपकुतूहलादिभिश्च श्रवणं प्रति न प्रवृत्तिर्भवति। सत्स्वप्येतेषु श्रवणपर्यन्तेषु

१—अवस्था—फ० ब०। २—कल्पनान्तेषु,—फ० ब०।

प्राप्तेष्वपि सुदुर्लभा बोधिर्भवति । बोधिः सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानलाभः । तत्सम्यक्त्व माहात्म्यविशल्यरहितं सुदुर्लभं भवतीत्यर्थः ॥ १६२ ॥

अर्थ—मनुष्य जन्म कर्मभूमि आर्यदेश कुल नीरोगता और आयुके प्राप्त होनेपर तथा श्रद्धा सद्गुरु और शास्त्र-श्रवणके होनेपर भी सम्यग्ज्ञानका प्राप्त होना बड़ा कठिन है ।

भावार्थ—सबसे पहले मनुष्य जन्मका पाना ही दुर्लभ है। यदि मनुष्य जन्म मिल भी गया तो कर्मभूमिका मनुष्य होना दुर्लभ है। पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह ये पन्द्रह कर्म भूमियाँ हैं। इनमें ही तीर्थंकर जन्म लेते हैं और सत्य धर्मका उपदेश करते हैं तथा यहींसे भव्यजीव मोक्ष प्राप्त करते हैं। मनुष्य जन्म और कर्मभूमिके प्राप्त होनेपर भी मगध, (बिहार) वंग (बंगाल) कलिंग (उड़ीसा) वगैरह आर्य देशोंका मिलना दुर्लभ है। इन तीनोंके मिलनेपर भी इक्ष्वाकु–हरिवंश जैसे शुद्ध कुलोंका मिलना दुर्लभ है। इन सबके मिलनेपर भी नीरोग शरीरका पाना दुर्लभ है। नीरोगताके पानेपर भी दीर्घ आयुका पाना दुर्लभ है। दीर्घ आयु पर्यन्त सब बातोंके मिल जानेपर भी धर्मको जाननेकी इच्छाका होना दुर्लभ है। धर्मको जाननेकी इच्छाके होनेपर भी सत्य धर्मका उपदेश मिलना दुर्लभ है। उपदेशके मिलनेपर भी उसका उपदेश सुनना दुर्लभ है। क्योंकि घरके काम-धन्धोंमें व्यग्र रहनेके कारण तथा आलस्य, मोह अनादर मद प्रमाद, कंजूसी डर, रंज, अज्ञान और शोक वगैरहके कारण धर्म-श्रवणकी ओर रुचि ही नहीं होती। मनुष्य जन्मसे लेकर श्रवणपर्यन्त सब बातोंके प्राप्त होनेपर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है।

तां दुर्लभां भवशतैर्लब्ध्वाप्यतिदुर्लभा पुनर्विरतिः ।

मोहाद्रागात्कापथविलोकनाद्गौरववशाच्च ॥ १६३ ॥

टीका—तां दुर्लभां सम्यग्दर्शनादिकां बोधिमवाप्य । भूयोऽपि दुर्लभा विरतिः सर्व-विरतिर्देशविरतिश्च । किं पुनः कारणं सम्यक्त्वलाभे सति विरतिर्दुर्लभेत्याह—मोहोऽज्ञानम् । मोहं मदं कृत्वा अद्य यावत्तुष्ठाय ततः प्रव्रजिष्यामीति आपत्कल्पं वा प्रतिपत्स्ये न सकलामेव कर्तुं शक्नोमीत्येतदज्ञानम् । अवश्यगन्तव्यस्य कारणमायुरिदं जीवितं सहसैव ध्वंसते मम प्रस्तावं प्रतीक्षत इति । रागाद्वा न लभते विरतिम् । पत्नीपुत्रादिषु अनुरक्तहृदयो न शक्नोति त्यक्तुं गृहवासरतिम् । कुत्सिताः पन्थानः कापथाः, तैर्विलोकनं चित्तभ्रमः । क्व पुनरयं पन्थाः संसारदुःखात्त्राणे क्षम इति कापथजनितभ्रान्तिदर्शनादपि अंशमवाप्नोति । दूरतर एव चारित्र-लाभः । गौरववशाच्चेति गौरवमादरः । ऋद्धिः रसः सातेषु । ऋद्धिर्विभूतिर्महती द्रव्यसम्पत् तां हातुं न शक्नोति लोभकषायानुगतचेताः । रससम्पत्तिषु स्निग्धादिषु शक्तिरादरो गौरवं तं भजति हातुं रसनेन्द्रियवशीकृतत्वात् । सुखगौरवं यथाद्रव्यापेक्षं प्रवातनिवातसाधारण सम्पत्सु शयनाहारमिष्टान्नपानादिविधिविलेपन गन्धधूपमाल्यादिसेवनमिष्टस्त्रीपरिभोगश्च तद्गतस्य परित्यक्तुम् । अतो बोधिलाभे सत्यपि सर्वविरतिर्दुर्लभेत्युक्तम् ॥ १६३ ॥

१-मदीय–पा० ।

अर्थ—सैकड़ों भवोंमें उस दुर्लभ सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करके भी अज्ञानसे, रागसे, कुमार्गके देख लेनेसे और सांसारिक सुखके अधीन होनेसे चारित्रका प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है।

भावार्थ—सैकड़ों भव धारण करनेके बाद यदि किसी तरह सम्यग्ज्ञानका लाभ हो भी गया तो देशचारित्र और सकलचारित्रका पाना बड़ा कठिन है क्योंकि मनुष्यके पीछे मोह वगैरह लगे हुए हैं। मोहके वशीभूत हुआ मनुष्य सोचता है कि अमुक अमुक काम करके दीक्षा लूँगा। अथवा श्रावकके व्रत लूँगा। क्योंकि मैं सकल त्याग नहीं कर सकता हूँ। मोहके उदयसे वह यह नहीं जानता है कि यह जीवन क्षणभंगुर है, यह अचानक ही नष्ट होजाता है और यह किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता है। तथा रागके कारण भी चारित्र धारण नहीं कर पाता क्योंकि पत्नी-पुत्र वगैरहमें अनुरक्त होनेके कारण वह घर नहीं छोड़ सकता। इसके सिवाय अनेक कुमार्गोंके मोहजालमें पड़कर भी वह सुमार्गको ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए भी चारित्रका लाभ उसे नहीं हो पाता। तथा लोभ कषायके वशमें होकर वह धन सम्पदाको छोड़नेमें हिचकता है। रसना इन्द्रियके वशमें होनेके कारण इष्ट रसोंको नहीं छोड़ सकता। सुखमें आसक्त होनेके कारण ऋतुके अनुकूल आहार-विहार शय्या, चन्दन वगैरहका लेप, धूप माला, स्त्री वगैरहको छोड़नेमें असमर्थ होता है। अतः सम्यग्ज्ञानका लाभ होनेपर भी सकलचारित्रका पाना दुर्लभ है।

तत्प्राप्य विरतिरत्नं विरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः ।
इन्द्रियकषायगौरवपरीषहसपत्नविधुरेण ॥ १६४ ॥

टीका—सकलं विरतिरत्नं प्राप्य यदुक्तं पूर्वं दुर्लभं तत्प्राप्य सर्वविरतिरत्नम्। विरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः। विरागस्य मार्गो रागप्रहाणमार्गः यथोक्तलक्षणः, शास्त्रे "हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्" "दुःखमेव वा" इत्यादि। एवंलक्षणकस्य विरागमार्गस्य विजयः परिचयोऽभ्यसनम्। अधिगम्यते प्राप्यतेऽधिगम्यः दुःखेनाधिगम्यो दुष्प्राप्य इत्यर्थः। कस्मात् पुनर्दुःखेनाधिगम्यत इत्याह—इन्द्रियाणि परिपन्थीनि विरागमार्गस्य विघ्नकारीणि। कषायाः क्रोधादयः सपत्नाः शत्रवः परिपन्थिनः। गौरवमुक्तलक्षणं त्रिधा-ऋद्धिरससातात्मकम्। क्षुत्पिपासादयः परीषहाः, ते चान्यतुल्याः सपत्नाः। एभिरिन्द्रियादिभिः सपत्नैर्विधुरो विसंस्थुल आकुलीकृतः न वैराग्यमार्गमभ्यसितुं समर्थो भवति। इन्द्रियादिसपत्नविधुरेण न शक्यते विरागमार्गविजयः कर्तुमिति ॥ १६४ ॥

अर्थ—उस सकलचारित्ररूप रत्नको प्राप्त करके, इन्द्रिय, कषाय, विषय-सुखमें आदरभाव और परीषहरूप शत्रुओंके द्वारा व्याकुल हुए मनुष्यके लिए वैराग्य-मार्गको जीतना अत्यन्त कठिन है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ, क्रोधादि कषाय, धन-सम्पदा, रस और सुखमें आदरभाव और भूख-प्यास की बाधा, ये सभी वैराग्य मार्गके शत्रु हैं। सकलचारित्र धारण करके भी जो इन्हें नहीं जीत सका, वह वैराग्य-मार्गका अभ्यास नहीं कर सकता। अतः वैराग्यका मार्ग सकलचारित्रसे भी दुष्कर है।

१-समय-ब० । २ चापायानि-क प० ।

तस्मात्परीषहेन्द्रियगौरवगणनायकान् कषायरिपून् ।
क्षान्तिबलमार्दवार्जवसन्तोषैः साधयेद्धीरः ॥१६५॥

टीका—यस्मादेते रिपवो बलिनः कषायमल्लनायकाः । तस्मात् कषायानेव पूर्वं नायकानिन्द्रियादीनां विजयेत । जितेषु च नायकेषु हतं सैन्यमनायकमिन्द्रियादीनि । गणशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते इन्द्रियगणस्य परीषहगणस्य गौरवगणस्य च नायकाः प्रवर्तकाः नेतारः । तान् कषायान् वैरिणः क्षान्तिबलमार्दवार्जवसन्तोषैर्यथासंख्यं साधयेद्धीरः । बलशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते क्षान्तिबलेन मार्दवबलेन आर्जवबलेन सन्तोषबलेन चतुरङ्गेनानेन बलेन साधयेत् उत्थितान् विरागमार्गाद्धीरः सात्त्विक इत्यर्थः । यथासंख्यं क्रोधादयो रिपवः क्षान्त्यादिभिर्बलैः साध्या भवन्ति ॥ १६५ ॥

अर्थ—अतः धीर मनुष्यको परीषह, इन्द्रिय और गौरव (विषय सुखमें आदर भाव)के समूहके नायक कषायरूपी शत्रुओंको क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोषरूपी बलके द्वारा जीतना चाहिए ।

भावार्थ—चूंकि ये शत्रु बलवान् हैं और उनका प्रधान नेता कषाय है, अतः पहले कषायोंको ही जीतना चाहिए । क्योंकि सेनापतिके पराजित होनेपर बिना नायककी सेना स्वयं ही पराजित हो जाती है । गण शब्दको प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए । अर्थात् इन्द्रियगण परीषहगण, और गौरवगणके नेता कषायरूपी शत्रुओंको क्रमशः क्षमाबल मार्दवबल आर्जवबल और सन्तोषरूपी चतुरङ्ग सेनासे वशमें करना चाहिए । अर्थात् क्रोध कषायको क्षमाबलसे, मान कषायको मार्दवबलसे, माया कषायको आर्जवबलसे और लोभ कषायको संतोषबलसे जीतना चाहिए ।

सचिन्त्य कषायाणामुदयनिमित्तमुपशान्तिहेतुं च ।
त्रिकरणशुद्धमपि तयो परिहारासेवने कार्ये ॥ १६६ ॥

टीका—कषायाणामुदयनिमित्तमालोच्य क्रोधादीनामनेकनिमित्तेन अयं क्रोधादिः कषायो जायते इति उपशान्तिहेतुं च संचिन्त्य अनेन क्रियमाणेनायमुपशाम्यति कषायः प्रशमं गच्छति । अतस्तयोरुदयनिमित्तप्रशमहेत्वोर्यथासंख्यं परिहार आसेवनं च कार्यम् । परिहारोऽपि अयं कायवाङ्मनोभिः कृतकारितानुमतिभिश्चोदय—निमित्तस्य उपशान्तिहेतोः । तमपि कृतकारितानुमतिभिः कषायादिभिर्निमित्तासेवनं त्रिकरणशुद्धं कार्यमिति रागद्वेषमोहानां निवारणार्थम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—कषायोंके उदयके निमित्तको और उपशमके निमित्तको अच्छी तरहसे विचारकर मन, वचन और कायकी शुद्धिसे उन दोनोंका क्रमसे त्याग और सेवन करना चाहिए ।

भावार्थ—यह विचारना चाहिए कि किस निमित्तसे क्रोध वगैरह उत्पन्न होते हैं और किस निमित्तसे उनकी शान्ति होती है । दोनोंका विचार करके मन, वचन काय और कृत, कारित, अनुमो-

१—परिहारो सेवने कार्यः च । २—महो — रागद्वेषमोहानां फ. ।

दनासे उत्पत्तिके निमित्तोंको त्यागना चाहिए और शान्तिके निमित्तोंका पालन करना चाहिए। अर्थात् जिन जिन कारणोंसे कषाय उत्पन्न होती हो, उन उन कारणोंसे दूर रहना चाहिए और जिन जिन कारणोंसे कषाय शान्त होती हो, उन उन कारणोंका अभ्यास करना चाहिए।

सेव्य क्षान्तिर्मार्दवमार्जवशौचे च सयमत्यागौ ।
सत्यतपोब्रह्माकिंचन्यानीत्येष धर्मविधि ॥ १६७

टीका—सेव्योऽनुष्ठेयो दशविधो धर्मः। तान् दशभेदान् नामग्राहमाचष्टे। क्षान्तिः क्षमूष्' सहने क्षमितव्याः आक्रोशाः परापवय। मार्दवं मानविजयस्तद्दर्पापनोदः। आर्जव ऋजुता यथाचरिताख्यायिता। शुचिभावः शौचम्। अलोभता विगततृष्णत्वम्। संयमः पञ्चाश्रवादिविरमणं पृथिवीकायसयमादिर्वा सप्तदशभेदः। वधबन्धनादित्यागः प्रासुकैषणीयं वा साधुभ्यो भक्तपानवस्त्रपात्रादिदानं यतिरेव ददाति स च त्यागः। सत्य सद्भ्यो हित सत्यम्। तथापि संवादनादि चतुर्विधम्। तपो द्वादशभेदमनशनादिकम्। ब्रह्म अब्रह्मणो निवृत्तिर्मैथुननिवृत्तिरित्यर्थः। आकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्य निष्परिग्रहता। धर्मोपकरणादृते नान्यत् किञ्चन परिग्राह्यम्। एष धर्मस्य विधिर्भेद इत्यर्थः॥ १६७॥

अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सयम, त्याग, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, और आकिञ्चन्य—धर्मके ये दस भेद हैं। इनका सेवन करना चाहिए।

भावार्थ—धर्मके दस भेदोंका पालन करना चाहिए। उन दस भेदोंको बतलाते हैं। शान्तभावसे गाली-गलौज और मार वगैरहके सहनको क्षमा कहते हैं। मान कषायके जीतनेको मार्दव कहते हैं। सरलताको आर्जव कहते हैं, अर्थात् जैसा करना वैसा ही कहना आर्जव है। पवित्रताको शौच कहते हैं, अर्थात् लोभ न करना—तृष्णालु न होना-शौच है। आस्रवके कारण हिंसा वगैरह पाँच पापोंसे विरक्त होना अथवा पृथिवीकाय वगैरहमें संयम करना सयम है। वध, बन्धन वगैरहका त्यागना अथवा साधुओंको प्रासुक भिक्षा देना त्याग है। हितकर वचन बोलना सत्य है। अनशन आदिको तप कहते हैं। मैथुनसे निवृत्त होनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। परिग्रहके अभावको अर्थात् धर्मके उपकरणोंके सिवाय अन्य कुछ भी परिग्रहके न रखनेको आकिञ्चन्य कहते हैं।

क्षान्तेः प्राधान्यं प्रदर्शयन्नाह—

क्षमाधर्मकी प्रधानता बतलाते हैं—

धर्मस्य दया मूल न चाक्षमावान् दया समादत्ते ।
तस्माद्य क्षान्तिपर स साधयत्युत्तमं धर्मम् ॥ १६८ ॥

टीका—योऽयं दशप्रकारो धर्मस्तस्य धर्मस्य दया मूलम्। दया प्राणिनां रक्षाऽहिंसा-रूपा। सा मूलं प्रतिष्ठा, धर्मस्याहिंसादिलक्षणत्वात्। प्राणिप्राणरक्षणाय धर्मोपदेश

मतोपदेशः । न चाक्षमावान् दयां समाधत्ते । अविद्यमानक्षान्तिरक्षमः, नासौ दयां समाधत्ते, न संगृह्णातीति । क्रोधाविष्टो हि न कंचिदपेक्षते चेतनमचेतनं वा ऐहिकमामुष्मिकं वा प्रत्यपायम्, तस्माद्यः क्षमापरः क्षान्त्या वा प्रकृष्टः स साधयत्युत्तमं धर्मम् । दशलक्षणमुत्तमं धर्ममिति ॥ १६८ ॥

अर्थ—धर्मका मूल दया है। किन्तु जो क्षमाशील नहीं है वह दयाको धारण नहीं कर सकता । अतः जो क्षमा धर्ममें तत्पर है, वही उत्तम धर्मको साधन करता है ।

भावार्थ—धर्मके जो दस भेद बतलाये गये हैं, उनका मूल दया है। क्योंकि दया अहिंसाको कहते हैं और धर्मका लक्षण अहिंसा ही है। जितने व्रत बतलाये गये हैं वे सब प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिए ही बतलाये गये हैं। किन्तु जो क्षमाशील नहीं है, वह प्राणियों पर दया नहीं कर सकता क्योंकि क्रोधी मनुष्यको चेतन–अचेतन अथवा इसलोक—परलोकका कोई ध्यान नहीं रहता । अतः जो क्षमाधर्मके पालन करनेमें सदा तत्पर रहता है वही दशलक्षण धर्मका पालन कर सकता है ।

मार्दवमधिकृत्याह—

मार्दवधर्मको कहते हैं—

विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे विनयश्च मार्दवायत्तः ।
यस्मिन् मार्दवमखिलं स सर्वगुणभाक्त्वमाप्नोति ॥ १६९ ॥

टीका—विनयो ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारात्मकः । तदायत्ता गुणाः । स च विनयो मार्दवायत्तः । मार्दवं च मानविजयः । मानं निराकृत्य उपचारविनयोऽभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिकः शक्यः कर्तुम् । यत्र च पुंसि मार्दवमखिलं जात्यादिमदस्थाननिराकारि स सर्वगुणभाग् भवति । ज्ञानदर्शनचारित्रसाध्याः सर्वे गुणास्तत्र संभवन्तीति । तस्मान्मानं निराकृत्य मार्दवमासेवनीयम् ॥ १६९ ॥

अर्थ—सब गुण विनयके आधीन हैं और विनय मार्दवधर्मके आधीन है। जिसमें पूर्ण मार्दवधर्म है वह सब गुणोंको प्राप्त करता है ।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके प्रति मन, वचन और कायसे जो आदरभाव प्रगट किया जाता है, उसे विनय कहते हैं । सब गुणोंका मूल विनयगुण है । यह विनय गुण उसीको प्राप्त होता है, जो मानको जीत लेता है, क्योंकि गर्वसे दूर हो जानेपर ही दूसरोंके लिए उठकर खड़ा हो जाना, और हाथ जोड़ना वगैरह काम किये जा सकते हैं । और जिस मनुष्यमें आठों मदोंको दूर करनेवाला मार्दवधर्म वास करने लगता है वह मनुष्य सर्वगुण-सम्पन्न होता है—सभी गुण आकर उसमें बस जाते हैं । अतः मानको दूर करके मार्दवका सेवन करना चाहिए ।

१–मदादः न । २–गुणा [illegible] गुणोपपन्नाः न ।

मायामधिकृत्याह—
आर्जवधर्मको कहते हैं —

नानार्जवो विशुध्यति न धर्ममाराधयत्यशुद्धात्मा ।
धर्मादृते न मोक्षो मोक्षात्परं सुखं नान्यत् ॥ १७० ॥

टीका—माया शाठ्यं कौटिल्यम्, तत्प्रतिपक्षमार्जवं ऋजुता, यथाचेष्टितं तथाख्याति न किञ्चिदपह्नुते। यस्तु तथा न करोति, स सत्त्वनाशकः, तस्य च शुद्धिर्नास्ति। तस्माद्यथाख्यातापराधप्रतिपन्नप्रायश्चित्तस्य शुद्धिर्जायते। तद्विपरीतस्य न कदाचिच्छुद्धिः। न चाशुद्धात्मा धर्ममाराधयति समाधिकम्। न चार्ते धर्ममन्तरेण मोक्षावाप्तिः। न च मोक्षावाप्तिमन्तरेणैकान्तिकात्यन्तिकाबाधसुखलाभ इति। तस्मादृजुना भवितव्यमालोचनादाविति ॥ १७० ॥

अर्थ—आर्जवके बिना शुद्धि नहीं होती। अशुद्ध आत्मा धर्मका आराधन नहीं कर सकता। धर्मके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और मोक्षसे बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है।

भावार्थ—कुटिलताको माया कहते हैं। उसका प्रतिपक्षी आर्जव है। आर्जव सरलताको कहते हैं। अर्थात् जैसा किया वैसा कह देना और गुरुसे कुछ भी न छिपाना आर्जवधर्म है। जो ऐसा नहीं करता, उसकी शुद्धि नहीं होती। अतः जो अपने किये हुएको जैसाका तैसा गुरुसे कह देता है और गुरु जो प्रायश्चित्त देते हैं, उसका पालन करता है, उसकी शुद्धि होती है। किन्तु जो किये हुए अपराधको छिपा जाता है, उसकी शुद्धि कभी भी नहीं होती। ऐसा कपटी आत्मा क्षमा वगैरह धर्मका भी ठीक ठीक पालन नहीं कर सकता और उनके पालन किये बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तथा मोक्ष प्राप्त किये बिना अविनश्वर सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः साधुको आलोचना आदि करते समय सदा सरल रहना चाहिए।

शौचमधिकृत्याह—
शौचधर्मको कहते हैं —

यद्द्रव्योपकरणभक्तपानदेहाधिकारकं शौचम् ।
तद्भवति भावशौचानुपरोधाद्यत्नतः कार्यम् ॥ १७१ ॥

टीका—द्विविधं शौचं द्रव्यभावभेदात्। तत्र द्रव्यशौचं बाह्यद्रव्यम्। बाह्यद्रव्यं च सचेतनमचेतनं वा शैक्षादि, "अट्ठारस पुरिसेसु वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु। पव्वावणा अण-रिहा भणिया पुण इत्थिया चेव ॥" इत्यादि सदोषत्याज्यम्। उपकरणमुपकारि धर्मार्थिनाम्। तदुद्गमादिशुद्धं शुचि भवति, अन्यथाऽशुचीति। तथा भक्तपानमप्युद्गमादिदोषपरिहृतं शुचि, अन्यथाऽशुचीति। देहशौचं तु पुरीषाद्युत्सर्गपूर्वकं निर्लेपं निर्गन्धं चेति। एतानि प्रयोज-नान्यधिकृत्य यत्प्रवृत्तं तदधिकारकं तद्भवति तत्काय कर्तव्यं भवतीति। भावशौचस्यानु-

परोपघातसाधनात्। यत्नतः इति प्रयत्नतः परीक्ष्य सचेतनमितरच्च उपकरणादि भक्तपानादिष्वपि प्रवचनोक्तेन विधिनाऽनुष्ठेयम्। भावशौचं तु निर्लोभता। लोभकषायानुरञ्जितो दुष्करास्य शुद्धिः, तस्मात्सा च परमार्थतो भावशौचमिति ॥ १७१ ॥

अर्थ—द्रव्य उपकरण खान-पान और शरीरको लेकर जो शौच किया जाता है, उसे प्रयत्नसे इस प्रकार करना चाहिए कि उससे भाव-शौचमें बाधा न हो।

भावार्थ—शौच दो प्रकारका होता है—एक द्रव्यशौच और दूसरा भावशौच। द्रव्यशौच बाह्य द्रव्यको लेकर किया जाता है। जितना भी चेतन अथवा अचेतन बाह्य द्रव्य है, उसे सदोष बाह्य त्याग देना चाहिए। ज्ञानादिकमें जो सहायक हो उसे उपकरण कहते हैं। जो उपकरण उद्गम आदि दोषोंसे शुद्ध होता है वह पवित्र होता है। जो वैसा नहीं होता है वह अपवित्र है। खान-पान भी जो उद्गम आदि दोषोंसे रहित होता है वह पवित्र होता है और जो वैसा नहीं होता वह अपवित्र है। मल-मूत्रका त्याग करनेके बाद लेप और गन्धसे रहित देह पवित्र है। ये सब द्रव्य शौच हैं। इन सब द्रव्य शौचोंको इस प्रकार करना चाहिए कि भावशौचमें कोई बाधा न आवे। अर्थात् उपकरणको खूब देख-भाल करके ही लेना चाहिए और मल-शुद्धिमें भी शास्त्रमें उपदिष्ट विधिके अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। निर्लोभताको भावशौच कहते हैं। जिसका आत्मा लोभ कषायसे रंगा हुआ है, उसकी शुद्धि होना कठिन है। और लोभका त्याग ही यथार्थमें भावशौच है।

संयमस्वरूपमाह—

संयमधर्मको बतलाते हैं—

पञ्चास्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥ १७२ ॥

टीका—सम्यगुपरमः पापस्थानेभ्यः संयमः सप्तदश प्रकारः—पञ्चास्रवाः प्राणातिपातमृषाभाषणादत्तादानमैथुनपरिग्रहाः कर्मादानहेतवः—तेभ्यो विरमणं विरतिलक्षणं संयमः। पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि तेषां निग्रहो नियमनं निरोधः। शब्दादिषु गोचरप्राप्तेष्वरक्तद्विष्टता माध्यस्थ्यम्। कषः संसारः, कष्यन्ते यत्र जीवाः स्वकृतैः कर्मभिः कष्यन्ते पीड्यन्ते तस्यायाः प्राप्तिहेतवः क्रोधादयश्चत्वारस्तेषां जयोऽभिभवउदयनिरोधः, उदितानां वा विफलतापादनम्। दण्डा मनोवाक्कायाख्याः। अभिद्रोहाभिमानेर्ष्यादिलक्षणो मनोदण्डः। हिंस्रपरुषानृतादिलक्षणो वाग्दण्डः। धावनवल्गनप्लवनादि—कायः कायदण्डः। एभ्यो विरतिर्निवृत्तिः। एवमेष संयमः सप्तदशभेदो भवति। आर्षे त्वन्येन क्रमेणायमेवार्थो निबद्धः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियेषु संयमः। तथा पुस्तकादिपरिग्रहः अजीवकायसंयमः। प्रेक्ष्योपेक्ष्यप्रमार्जनापरिष्ठापनासंयमः मनोवाक्कायसंयम इति ॥ १७२ ॥

अर्थ—आस्रवके कारण पाँच पापोंसे विरक्त होना, पाँचों इन्द्रियोंका दमन करना, चार कषायोंको जीतना और मन, वचन, और कायकी प्रवृत्तिको रोकना—इस प्रकार संयमके सत्रह भेद है।

भावार्थ—हिंसा झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—ये पाँच पाप कर्मोंके आस्रवके कारण हैं। इनका त्याग करना चाहिए। स्पर्शन वगैरह पाँच इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिए। जो शब्द आदि कानमें पड़ें उन्हें सुनकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। जहाँपर जीव अपने द्वारा किये हुए कर्मोंसे सताया जाता है, उसे कष अर्थात् संसार कहते हैं। उस संसारकी प्राप्तिके कारण क्रोध वगैरह कषाय कहे जाते हैं। उन्हें जीतना चाहिए, अर्थात् उनके उदयको रोकना चाहिए। और जो उदयमें आ रहे हैं, उन्हें बेकार कर देना चाहिए।

दण्डके तीन भेद हैं—मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। अभिद्रोह अभिमान और ईर्षा वगैरहको मनोदण्ड कहते हैं। हिंसक, कठोर और असत्य वचनको वचनदण्ड कहते हैं। दौड़ना कूदना फाँदना वगैरहको कायदण्ड कहते हैं। इनको नहीं करना चाहिए। ये सब संयमके भेद हैं। आगममें इन्हें दूसरी तरहसे गिनाया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रियकी रक्षा करना संयम है। पुस्तक वगैरह न रखना अजीवकाय संयम है।

त्यागमभिधित्सयाह—
त्यागधर्मको कहते हैं—

बान्धवधनेन्द्रियसुखत्यागात्त्यक्तभयविग्रहः साधुः।
त्यक्तात्मा निर्ग्रन्थस्त्यक्ताहङ्कारममकारः ॥ १७३ ॥

टीका—बान्धवाः स्वजनकाः, धनं हिरण्यसुवर्णादि, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि तद्विषयं सुखम्। एषां त्यागादिन्द्रियसम्बन्धी सुखत्यागः। प्राप्तेषु विषयेषु स्पर्शादिषु माध्यस्थ्यम्। त्यक्तभयविग्रहः साधुः, भयमिहपरलोकादानादि सप्तविधम् विग्रहः शरीरं तस्य त्यागो निष्प्रतिकर्मशरीरता, कलहः दन्डादिर्वा विग्रहः। त्यक्तात्मा असंयमपरिणामलक्षण आत्मा। अष्टविधग्रन्थविषयप्रसक्तो निर्ग्रन्थः। त्यक्ताहंकारममकार इति स्पष्टमिदं इत्यर्थः ॥ १७३ ॥

अर्थ—कुटुम्ब, धन और इन्द्रिय सम्बन्धी सुखको त्याग देनेसे जिसने भय और कलहको त्याग दिया है तथा अहंकार और ममकारको त्याग दिया है उस त्यागमूर्ति साधुको निर्ग्रन्थ कहते हैं।

भावार्थ—कुटुम्ब धन, इन्द्रिय-सुख भय, कलह अथवा शरीर राग, द्वेष आदि परिग्रहके त्यागनेको त्याग कहते हैं।

सत्यमभिधित्सयाह—
सत्यको कहते हैं—

अविसंवादनयोगः कायमनोवागजिह्मता चैव ।
सत्यं चतुर्विधं तच्च जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र ॥ १७४ ॥

टीका—विसंवादनमन्यथाप्रतिपन्नस्यान्यथा भाषणम्, गामश्वम् अश्वं वा गामिति भाषते। पिशुनो वाऽन्यथा चान्यथा च मृदुभाषी प्रीतिच्छेदं करोतीति विसंवादयति। विसंवादनेन योगः सम्बन्धः, न विसंवादनयोगोऽविसंवादनयोगः। सत्यं यथा दृश्यमानवस्तु-भाषणम्। कायेनाजिह्मता जिह्मः कुटिलो मलीमसः कायेनान्यवेषधारितया प्रतारयति, न जिह्मोऽजिह्मः द्वितीयः सत्यभेदः। मनसा चाऽजिह्मता सत्यम्, मनसा ह्यालोच्य भाषते वा, प्रायो न तादृगालोचयति जिह्मेन येन परं प्रतारयेत् एष तृतीयो भेदः। वागजिह्मता च सत्यम्, जिह्मा वाक् सद्भूतनिह्नवः असद्भूतोद्भावनं कटुकपरुषसावद्यादि चेति चतुर्थो भेदः। एतच्च जैनेन्द्र एव मते, नान्यत्र सत्यमिति ॥ १७४ ॥

अर्थ—जैसा देखना वैसा कहना, काय, मन और वचनकी अकुटिलता ये सत्यके चार भेद हैं। यह सत्य धर्म जिनेन्द्रदेवके मतमें ही कहा गया है। अन्य मतोंमें नहीं कहा गया।

भावार्थ—अन्य वस्तुको अन्यरूपसे कहना, जैसे गायको घोड़ा कहना और घोड़ेको गाय कहना विसंवादन है। अथवा चुगलखोर आदमी झूठी बातें बनाकर किसीकी प्रीतिको नष्ट करता है, उसे भी विसंवादन कहते हैं। इस प्रकारके विसंवादनको न करना और जैसी बात हो वैसी कहना, यह सत्यका पहला भेद है। जिह्म कुटिलको कहते हैं, कुटिल आदमी झूठा वेष बनाकर शरीरसे दूसरोंको ठगता है। ऐसा न करना सत्यका दूसरा भेद है। मनमें कुटिलताका न होना भी सत्य है। सच्चा आदमी पहले मनमें विचार करता है। वह ऐसी बातें नहीं सोचता, जिससे दूसरोंको ठगा जा सके। यह सत्यका तीसरा भेद है। वचनमें कुटिलताका न होना भी सत्य है। सच्ची बातको छिपाना, झूठी बातको प्रकट करना, तथा कड़ुआ, कठोर और सावद्य वचन बोलना असत्य है। ऐसा न करना सत्य है। यह सत्यका चौथा भेद है। सत्यके ये चार भेद जिनशासनमें ही कहे गये हैं क्योंकि अन्य मतोंमें कठोर आदि वचनोंको असत्य नहीं कहा गया है।

तपः सम्प्रत्युच्यते—

तपको कहते हैं—

अनशनमूनोदरता वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥ १७५ ॥

टीका—अनशनं चतुर्थभक्तादि षण्मासान्तम्, तथाऽपरं भक्तप्रत्याख्यानम् इङ्गिनीमरणम् पादोपगमनमिति। ऊनोदरता द्वात्रिंशतः कवलेभ्यो यथाशक्ति न्यूनस्याहारं यावदष्टकवलाहार इति। वृत्तिर्वर्तनं भिक्षा तस्याः संक्षेपणं परिमितग्रहणं दत्तिभिर्भिक्षाभिश्च। रसत्यागः, रसाः क्षीरदधिनवनीतघृतगुडादिमधुतयो विकृतयस्तासां त्यागः। कायक्लेशः

कायोत्सर्गोत्कटुकासनातापनादिः । संलीन आगमोपदेशेन, तद्भावः संलीनता इन्द्रियनोइन्द्रियभेदात् द्विधा । इन्द्रियैः संलीनः संहृतेन्द्रियव्यापारः कूर्मवत् यथाऽङ्गानि स्वात्मन्युपसंहारयति कूर्मः तथेन्द्रियाणि आत्मन्याहृत्य तिष्ठति साधुः रागद्वेषहेतुभ्यः शब्दादिभ्यो निवृत्य व्यवस्थापितेन्द्रियः इन्द्रियसंलीनः । नोइन्द्रियं मनः क्रोधादयश्च । आर्तरौद्रध्यानरहित मनसि नोइन्द्रियसंलीनः । क्रोधादीनामुदयनिरोधः उदयप्राप्तानां च विफलत्वापादनं नोइन्द्रियसंलीनता । षोढा विभक्तं बाह्यं तपः परप्रत्यक्षत्वात् बाह्यमुच्यते ॥ १७५ ॥

अर्थ—अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप रसत्याग कायक्लेश और संलीनता—ये बाह्यतप कहे गये हैं।

भावार्थ—एक उपवास लेकर छह उपवासतक खान-पानका त्यागना अनशन है। तथा भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और पादपोपगमनमें जो जीवनपर्यन्त खान-पानका त्याग किया जाता है, वह भी अनशनतप है। बत्तीस कौरसे यथाशक्ति कम आहार करना ऊनोदर है। भिक्षाको परिमित करनेके लिए घर वगैरहका परिमाण करना कि आज मैं इतने घरोंसे भिक्षा ग्रहण करूँगा, वृत्तिसंक्षेप है। दूध, दही, घी गुड़ वगैरह रसोंके त्यागको रसत्याग कहते हैं। कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, आतापन वगैरहके द्वारा शरीरको क्लेश देनेको कायक्लेश कहते हैं। संलीनताके दो भेद हैं—इन्द्रियसंलीनता और नोइन्द्रियसंलीनता, जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको संकोच लेता है, उसी प्रकार साधु राग-द्वेषके कारण शब्द वगैरहसे अपनी इन्द्रियोंको संकोच लेता है। इसे इन्द्रियसंलीनता कहते हैं। आर्तध्यान रौद्रध्यानका न होना, क्रोध वगैरहको उत्पन्न न होने देना और यदि उत्पन्न हो जावे तो उसे विफल कर देना नोइन्द्रियसंलीनता है। बाह्यतपके ये छह भेद हैं। ये छहों तप दूसरोंके द्वारा देखे जाते हैं, इसलिए उन्हें बाह्यतप कहते हैं।

आभ्यन्तरतपोनिरूपणायाह—

आभ्यन्तरतपका निरूपण करते हैं—

प्रायश्चित्तध्याने वैयावृत्त्यविनयावथोत्सर्गः ।
स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमभ्यन्तरं भवति ॥ १७६ ॥

टीका—प्रायो बाहुल्येन चित्तविशोधनं प्रायश्चित्तमालोचनादि कृतातीचारमल-प्रक्षालनार्थम्। एकाग्रचित्तनिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्। तत्रार्तरौद्रे व्युदसनीये। आर्तं चतुर्विधम् अमनोज्ञविषयसंप्रयोगे तद्विप्रयोगाय चित्तनिरोधः । शिरोरोगादिवेदनायाश्च विप्रयोगार्थो मनोनिरोधः । मनोज्ञविषयसम्प्रयोगे तदविप्रयोगार्थो मनोनिरोधः। चन्दनोशीरादिजनितसुखवेदनायाश्चाविप्रयोगार्थश्चित्तनिरोधः आर्तध्यानम् । रौद्रं हिंसानुबन्धि, मृषानुबन्धि स्तेयानुबन्धि विषयसंरक्षं चेति । एतयोस्त्यागस्तपः। धर्म्यं शुक्लं च ध्यानमनुष्ठेयम्। प्रमादनपेतं धर्म्यं चतुर्विधम्-आज्ञाविचयमपायविचयं विपाकविचयं संस्थानविचयं चेति ।

शुक् शोकः शुचं वा शारीरं मानसं चेति तल्लुनाति विच्छेदयतीति शुक्लम्। पृषोदरादित्वाच्च संस्कारः। तच्चतुर्विधम्-पृथक्त्ववितर्कं सविचारम्, एकत्ववितर्कमविचारम्, सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति, व्युपरतक्रियमनिवर्तनम्। व्यापृतभावो वैयावृत्त्यम्, आचार्योपाध्यायादीनां भक्तपानवस्त्रपात्रादिना दशानामुपग्रहः शरीरशुश्रूषा चेति। विनीयते येनाष्टविधं कर्म स विनयः ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारभेदः। तत्रोपचारविनयो विनयार्हेषु अभ्युत्थानमासनदानमञ्जलिप्रग्रहः दण्डकग्रहणमनुगमनमासनमनुमतादि। व्युत्सर्गोऽतिरिक्तोपकरणसंसक्तभक्तपानादेरुज्झनम्। अभ्यन्तरस्य च मिथ्यादर्शनकषायादेरपाकरणम्। स्वाध्यायः पञ्चधा-वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा आम्नायः धर्मोपदेशश्च। तत्र वाचना आलापकदानम्, तथा तत्सम्बन्धे प्रश्नः पृच्छना, अनुप्रेक्षा मनसा परिवर्तनमागमस्य, आम्नाय आम्नायानुयोगकथनम्, धर्मोपदेश आक्षेपणी विक्षेपणी संवेदनी निर्वेदनी चेति कथा धर्मोपदेशः। एवमभ्यन्तरमपि षोढा तपः॥ १७६॥

अर्थ—प्रायश्चित्त, ध्यान, वैयावृत्त्य, विनय उत्सर्ग और स्वाध्याय इस प्रकार आभ्यन्तरतप छह प्रकारका होता है।

भावार्थ—किये हुए दोषोंको दूर करनेके लिए जो आलोचना आदि की जाती है। उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। अन्तर्मुहूर्तके लिए एक विषयमें मनके लगानेको ध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आर्तध्यानके भी चार भेद हैं—(१) अप्रिय वस्तुका सम्बन्ध होनेपर उसके वियोगके लिए चिन्ता करना, (२) सिरदर्द वगैरहकी पीडाको दूर करनेके लिए चिन्ता करना, (३) प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर उसके संयोगके लिए चिन्ता करना और (४) [illegible] भोगोंके मिलनेसे उत्पन्न हुए सुखका वियोग न होनेके लिए चिन्ता करना।

रौद्रध्यानके भी चार भेद हैं—(१) हिंसामें आनन्द अनुभव करना (२) झूठ बोलनेमें आनन्द अनुभव करना, (३) चोरी करनेमें आनन्द अनुभव करना और (४) परिग्रह-संचयमें आनन्द अनुभव करना। ये दोनों ही ध्यान छोड़नेके योग्य हैं और धर्म्य तथा शुक्लध्यान करनेके योग्य हैं।

धर्मयुक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं। उसके भी चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय।

जो ध्यान शारीरिक और मानसिक दुःखका छेदन करता है, उसे शुक्लध्यान कहते हैं, उसके भी चार भेद हैं—(१) पृथक्त्ववितर्कविचार (२) एकत्ववितर्कअविचार, (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, और (४) व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष गण, कुल, संघ, रोगी, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकारके साधुओंकी सेवा-शुश्रूषा करनेको वैयावृत्त्य कहते हैं। ज्ञान दर्शन, चारित्र और उपचारके भेदसे विनयके

१—तत्त्वार्थसूत्र आदिमें इसके स्थानपर निदान नामका भेद किया है। निदानका अर्थ होता है—आगामी सुख आदिके लिए चिन्ता करना।

चार भेद हैं। विनय करनेके योग्य आदरणीय पुरुषोंको देखकर उठना, उन्हें बैठनेके लिए आसन देना उनके आगे हाथ जोड़ना, उनके उपकरण लेना, पैर धोना, अङ्ग दबाना वगैरह उपचारविनय है। शेष तीनों स्पष्ट हैं। अधिक उपकरण, भक्त-पान वगैरहके त्यागनेको बाह्यव्युत्सर्ग कहते हैं। और मिथ्या दर्शन आदिके त्यागनेको आभ्यन्तरव्युत्सर्ग कहते हैं।

स्वाध्यायके पाँच भेद हैं—वाचना, पृच्छना अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। शब्द तथा अर्थके पाठको वाचना कहते हैं। सन्देह दूर करनेके लिए पूछनेको पृच्छना कहते हैं। आगमके अर्थका मनमें चिन्तन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। पाठके शुद्धतापूर्वक उच्चारण करनेको आम्नाय कहते हैं। आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनीकथाके करनेको धर्मोपदेश कहते हैं। इस प्रकार आभ्यन्तर तपके भी छह भेद होते हैं।

सम्प्रति ब्रह्मचर्यप्रतिपादनायाह—

अब ब्रह्मचर्यको कहते हैं—

दिव्यात्कामरतिसुखात्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।
औदारिकादपि तथा तद्ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥ १७७ ॥

टीका—दिव्यं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कविमानवासिदेवेभ्यः, तेभ्यो विरतिस्त्रिविधं त्रिविधेनेति। मनसा न करोति न कारयति, नानुमन्यते। एवं वाचा कायेन चेति ते नवभेदाः। औदारिकं मानुष्यतिर्यक्स्वपि। तत्र मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च विरतिरिति नवकम्। तदेतदष्टादशभेदं भवति ॥ १७७ ॥

अर्थ—देवता सम्बन्धी तथा औदारिकशरीर सम्बन्धी कामभोगसे नौ नौ प्रकारसे विरत होनेसे ब्रह्मचर्यके अठारह भेद होते हैं।

भावार्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवियोंके भोग-सुखसे मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनापूर्वक विरत होनेसे नौ भेद होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्यके अठारह भेद हैं।

आकिञ्चन्यमभिधित्सुराह—

आकिञ्चन्यधर्मको कहते हैं—

अध्यात्मविदो मूर्च्छां परिग्रहं वर्णयन्ति निश्चयतः।
तस्माद्वैराग्येप्सोराकिञ्चन्यं परो धर्मः ॥ १७८ ॥

टीका—अध्यात्मशब्देनात्मन्येव व्यापारः, "कथमयमात्मा बध्यते कथं वा मुच्यत इति" तदध्यात्मविदः। ते विदितपरमार्थाः परिग्रहं मूर्च्छालक्षणं वर्णयन्ति। मूर्च्छा गार्ध्यम्। निश्चयनयाभिप्रायेणात्मनः मतिविशिष्टः परिणामः परिग्रहशब्दवाच्यः। यस्मादेवंलक्षणः परिग्रहस्तस्माद्वैराग्यमभिलषता आकिञ्चन्यं परो धर्मः, न क्वचिन्मूर्च्छा कर्तव्येति यावत् ॥ १७८ ॥

अर्थ—अध्यात्मज्ञानी निश्चयसे ममत्वको परिग्रह कहते हैं। अतः जो वैराग्यका इच्छुक है, उसका आकिञ्चन्य परमधर्म है।

भावार्थ—'जो यह जानते हैं कि आत्मा कैसे बँधता है और कैसे छूटता है।' उन आत्मज्ञानियोंको अध्यात्मज्ञानी कहते हैं। अध्यात्मज्ञानी निश्चयनयसे आत्माके मोहपरिणामको ही परिग्रह कहते हैं। क्योंकि उसके होनेसे ही मनुष्य बाह्य परिग्रहके संचयमें प्रवृत्त होता है। अतः जो वैराग्यके अभिलाषी हैं, उन्हें धर्मोपकरणसे भी ममत्व नहीं करना चाहिए। यही आकिञ्चन्यधर्म है।

धर्मानुष्ठाने फलं दर्शयति—

धर्मका फल बतलाते हैं—

दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहानाम् ।
दृढरूढघनानामपि भवत्युपशमोऽल्पकालेन ॥ १७९ ॥

टीका—दशप्रकारः क्षमादिधर्मः, तदनुष्ठायिनस्तदासेविनः । सदैवानवरतम् । रागद्वेषमोहानामुपशमो भवति । एते च संसारभ्रमणस्य मूलं दृढं रूढं घनाश्च गुरु दृढं रूढा जाता घना बहुलाः प्रभूतकर्माधाराः । अथवा यथासंख्यं दृढो रागः, रूढो द्वेषः, घनो मोहः । एवं विधानामपि स्वल्पेनैव कालेन भवत्युपशमः क्षयो वा ॥ १७९ ॥

अर्थ—जो दस प्रकारके धर्मका सदा पालन करते हैं। उनके चिरकालसे संचित दुर्भेद्य राग, द्वेष और मोहका थोड़े ही समयमें उपशम हो जाता है।

भावार्थ—संसारके मूलकारण राग, द्वेष और मोह हैं। चिरकालसे संचित होते–होते वे आत्मामें स्थिरसे हो जाते हैं और उनका भेदन करना बड़ा कठिन होता है। किन्तु जो उक्त दस धर्मोंका सदा सेवन करते हैं, उनके दुर्भेद्य राग-द्वेष और मोह क्षणमात्रमें ही शान्त हो जाते हैं।

तथा—

ममकाराहंकारत्यागादतिदुर्जयोद्धतप्रबलान् ।
हन्ति परीषहगौरवकषायदण्डेन्द्रियव्यूहान् ॥ १८० ॥

टीका—ममकारो माया लोभश्च । अहंकारो मानः क्रोधश्च । तयोर्ममकाराहंकारयोस्त्यागः । किं भवतीत्याह—अतिदुर्जयोद्धतप्रबलान् अतीव दुर्जयानुद्धतांश्च साधवस्तान् प्रबलांश्च । हन्ति विनाशयति । परीषहगौरवकषायदण्डेन्द्रियव्यूहान् परीषहाः क्षुत्पिपासादयः, गौरवं ऋद्ध्यादि, कषायाः क्रोधादयः, दण्डा मनोवाक्कायाख्या[1] इन्द्रियाणि, एषां व्यूहाः समूहाः परीषहव्यूहगौरवव्यूहादिकम् व्यूहा प्राकाराः । तान् हन्ति विघटते भिनत्तीत्यर्थः ॥ १८० ॥

१—इ०—स्पर्शनादीनि पञ्च ।

अर्थ—अहंकार और ममकारके त्यागसे अनन्त दुर्जय, उद्धत और बलशाली परीषह, गौरव, कषाय, योग और इन्द्रियोंके समूहको नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—माया और लोभको ममकार कहते हैं और मान और क्रोधको अहंकार कहते हैं। जो दस धर्मोंका पालन करता है, उसके ममकार और अहंकार छूट जाते हैं। और उनके छूटनेसे वह आत्माके प्रबल शत्रु परीषह वगैरहके समूहको भेदनेमें समर्थ होता है।

यथा वैराग्यमार्गे स्थैर्यं भवति तथा च यतत इत्याह—
जिस रीतिसे वैराग्यमार्गमें स्थिरता होती है, वैसा यत्न करता है, यह कहते हैं —

प्रवचनभक्ति श्रुतसम्पदुद्यमो व्यतिकरश्च संविग्नै ।
वैराग्यमार्गसद्भावभावधीस्थैर्यजनकानि ॥ १८१ ॥

टीका—प्रोच्यन्ते येन जीवादयस्तत्प्रवचनम्, तत्र भक्तिः सदा तदनुष्ठानपरता सम्यक्। भट्टारको वा प्रवचनं प्रवक्तीति । श्रुतसम्पदि उद्यम उत्साहः, श्रुतमागमस्तस्य सम्पद् उपचयः अपूर्वमपूर्वमधीते प्रवचनम्। व्यतिकरश्च संविग्नैः संविग्नाः संसारभीरवस्तैः सह सम्पर्को यथोक्तक्रियानुष्ठायिभिर्व्यतिकरः संसर्गः । एभिर्वैराग्यमार्गस्थैर्यं भवति। न केवलं वैराग्यमार्गस्थैर्यम्, सद्भावभावयोर्बुद्धिस्तस्याश्च भवति स्थैर्यम्। सद्भावा जीवादयः। एते च यथा भगवद्भिरुक्तास्तथैवेति स्थिरीभवति बुद्धिः । भावाः क्षायोपशमिकं दर्शनादि भगवत्सु, वा तीर्थकृत्सु साधुषु "एते वन्दनीया पूजनीया" इति एवंविधाया धियः स्थैर्यं जनयन्त्येतानीत्यर्थः ॥ १८१ ॥

अर्थ—प्रवचनमें भक्ति, शास्त्र-सम्पत्तिमें उत्साह और संसारसे भीतजनोंका सम्पर्क वैराग्य-मार्गमें जीवादिक पदार्थोंमें और क्षयोपशमादिक भावोंमें बुद्धिको स्थिर करते हैं।

भावार्थ—शास्त्रको प्रवचन कहते हैं। क्योंकि उसके द्वारा जीवादि पदार्थोंका कथन किया जाता है। अथवा परम भट्टारक अर्हन्तदेवको प्रवचन कहते हैं—क्योंकि वे प्रवचनका उपदेश करते हैं, उनमें भक्ति रखनेसे नये-नये शास्त्रोंका अध्ययन करके अपने शास्त्र-ज्ञानको खूब बढ़ानेसे और संसारसे विरक्त साधुजनोंके सम्पर्कमें रहनेसे मन वैराग्य-मार्गमें दृढ़ होता है। जीवादिक तत्त्वोंमें आस्तिक्य-बुद्धि होती है और क्षयोपशमादिजन्य सम्यग्दर्शनादि भावोंकी प्राप्ति होती है। अर्थात् भक्तिपूर्वक शास्त्राभ्यास करने और साधुजनोंकी संगति करनेसे वैराग्य-मार्गमें मन स्थिर हो जाता है। तीर्थङ्करोंके द्वारा कहे गये पदार्थोंमें यह भाव दृढ़ हो जाता है, कि तत्त्व वैसे ही हैं, जैसे कि भगवान्‌ने कहे हैं तथा तीर्थङ्करोंमें पूज्य बुद्धि भी और अधिक दृढ़ हो जाती है।

एतेष्वेव धीस्थैर्यमिच्छता चतुर्विधा धर्मकथाऽभ्यसनीयेत्याह—

इन्हींमें बुद्धिको स्थिर रखनेके लिए चार प्रकारकी धर्म-कथाके अभ्यास करनेका निर्देश करते हैं —

आक्षेपणी विक्षेपणी विमार्गबाधनसमर्थविन्यासा ।
श्रोतृजनश्रोत्रमनःप्रसादजननी यथा जननी ॥ १८२ ॥

चतुर्विधा धर्मकथाप्रस्तुतेति तच्छेषमाह :—

चार प्रकारकी कथाके शेषांशको बतलाते हैं —

संवेदनीं च निर्वेदनीं च धर्म्यां कथां सदा कुर्यात् ।
स्त्रीभक्तचौरजनपदकथाश्च दूरात्परित्याज्याः ॥ १८३ ॥

टीका—आक्षिपत्याकर्षयत्यभिमुखीकरोति या सा आक्षेपणी कथा शृङ्गारादिभाषा । विक्षिपति भोगाभिलाषात् कामभोगेषु वैमुख्यमापादयति सा विक्षेपणी । विमार्गः सम्यग्दर्शनादिरहितविपरीतमार्गस्तस्य बाधनं दोषकथनेनापनयनम् । विमार्गबाधने समर्थः शक्तो विन्यासो रचना यस्याः सा विमार्गबाधनसमर्थविन्यासा । शृणोतीति श्रोता जनो लोकः श्रोतृजनस्तस्य श्रोत्रं मनश्च तयोः प्रसादो येन जन्यते यया सा श्रोतृजनश्रोत्रमनःप्रसादजननी । यथा जननी माता हितकारिणी सदुपदेशदायिनी स्वापत्यानां श्रोत्रमनसी प्रसादयति परितोषयति, तथैषापीति सम्बन्धः ॥ १८२ ॥

टीका—सम्यग्वेद्यते सर्वं प्राप्यते श्रोता यया सा संवेदिनी कथा । नरकगताश्च वेदनाः शीताद्याः, न चास्त्यक्षिनिमेषमात्रमपि तस्या वेदनाया विच्छेदः । तत्र तादृशीं वेदनामनुभवन्तो जघन्येन दशवर्षसहस्राण्युत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । तिर्यग्योनावपि शीतोष्णक्षुत्पिपासादिदुःखमारसंतापजं दुःखं भारवहनताडनदमनच्छेदनादि चेति । मानुष्येऽपि कामस्त्रयादत्यन्तवल्लभविप्रयोगानिष्टसंयोगादीनि ज्वरकुष्ठशोषकासश्वासातिसारादिरोगवेदनाश्च । तथा प्रियविप्रयोगाप्रियसम्प्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यवधबन्धनाभियोगादिदुःखानुभवः । देवेषु चोत्कर्षविशेषदर्शनादात्मनश्चतुर्गतेर्दुःखानुभवः । तथा बलवता देवेनाभियोगादन्येऽल्पपुण्याः परिभूयमानाश्च पूर्वादिरूपाणि कारिताः सन्तो वाहनत्वे प्रतिसम्पद्यन्ते च । तथा च्यवनकाले आयुषि षण्मासावशेषे उपपत्तिस्थानानि गर्भस्थानानि विलोक्याहतीप्यवधिनाऽवलोक्य महद्दुःखं भजन्ते । अतश्चतुर्विधायामपि संसारगतौ दुःखमेव मोक्षायैव च यतत इति । निर्वेदं नीयते यया कामभोगेषु सा निर्वेदनी । इत्वराः कामभोगा न तृप्तिमापादयन्त्यात्मनः पुरुषस्य । सदा स्त्रियश्च स्त्रीशरीरं दुर्गन्धि दशुचिरसयत्नजुगुप्सितत्वाच्च चारकमिवेदं पामन इव कण्डूपरिगतकण्डूयं मोहोदयात्सुखमिति मन्यते, अतो निर्विण्णः परित्यज्य कामभोगान् निःसङ्गः सिद्धिपथाराधने प्रवर्तत इति । एवमेतां संवेदनीं निर्वेदनीं च धर्म्यां कथां सदा कुर्यात् धर्मादनपेतामित्यर्थः । स्त्र्यादिकथाश्च दूरात् परित्याज्याः । तत्र स्त्रीकथा, रूपयौवनलावण्यवेषभाषाद्युत्तमानि योषितां वर्णयति यया सा स्त्रीकथा, भक्तमाहारस्तत्कथा, ओदनव्यञ्जनखण्डखाद्यादिपरिमितिभिश्चाम्ला भक्तकथा । चौरा अभिमुखा अमुना प्रकारेण धनानि हरन्ति, एतेन च गात्रमन्ति, तास्कथाम्युदाहरन्तीति चार-

कथा। जनपदकथा "सेतुयानि अद्भुतानि वा सस्यान्यस्मिन् जनपदे जायन्ते, अस्मिन्नति-प्रभूतो गवां रसः, शालिमुद्गगोधूमादि नोत्पद्यतेऽत्र नान्यत्रेति' जनपदकथा। एवमेता मनसापि नालोच्याः किमुत वाचेति दूरात् परिहार्याः॥ १८३॥

अर्थ—उन्मार्गका उच्छेद करनेमें समर्थ रचनावाली, और श्रोताजनोंके कानों और मनको माताकी तरह आनन्द देनेवाली आक्षेपणी, विक्षेपणी संवेदनी और निर्वेदनी धर्मकथा सदैव करनी चाहिए। तथा स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और देशकथाको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—जो कथा जीवोंको धर्मकी ओर अभिमुख करती है, उसे आक्षेपणी कहते हैं। जो कथा जीवोंको कामभोगसे विमुख करती है, उसे विक्षेपणी कहते हैं। जो कथा जीवोंको संसारसे भयभीत करती है, उसे संवेदनी कहते हैं। जैसे नरकगतिमें सर्दी और गर्मीका बड़ा कष्ट है। एक क्षणके लिए भी उस कष्टसे छुटकारा नहीं होता। कमसे कम दस हजार वर्ष तक और अधिकसे अधिक तेतीस सागर तक वहाँ यह कष्ट भोगना पड़ता है। तिर्यञ्चगतिमें भी सर्दी गर्मी, भूख प्यास और अतिभारके दुःखके साथ ही साथ सवारीमें जुतना तथा कोड़ेसे पीटा जाना नासिका वगैरहका छेदा जाना आदिका दुःख भोगना पड़ता है। मनुष्यगतिमें भी काना, लंगड़ा, लूला, जन्मसे बहरा अन्धा, कुबड़ा और कुरूप होनेके सिवाय ज्वर, कोढ़ यक्ष्मा खाँसी, दमा तथा हृदयके रोगोंका कष्ट भी उठाना पड़ता है। तथा प्रियजनका वियोग, अप्रियजनका संयोग, इच्छित वस्तुका न मिलना गरीबी, अभागापन, मनकी चंचलता और वध-बन्धन वगैरह अनेक दुःखोंको भी भोगना पड़ता है। देवगतिमें अन्य देवोंका उत्कर्ष और अपना अपकर्ष देखकर दुःख होता है, तथा बलवान् देवकी आज्ञासे अल्प अल्प पुण्यवाले देव, हाथी बैल, घोड़ा, और मयूर वगैरहका रूप धारण करके सवारीके काममें लाये जाते हैं। तथा जब स्वर्गसे च्युत होनेमें छह माह बाकी रह जाते हैं तो अवधिज्ञानसे अपने गन्दे और मरे जन्म-स्थानको जानकर वे बड़े दुःखी होते हैं। इस प्रकारकी संवेदनीकथासे यह जीव चतुर्गतिरूप संसारसे डरकर मोक्षमें लगता है। जो कथा कामभोगसे वैराग्य उत्पन्न कराती है, उसे निर्वेदनी कहते हैं। जैसे कामभोग क्षणिक हैं, वे आत्माकी तृप्ति करनेमें समर्थ नहीं हैं। स्त्रीकी योनि सदा गीली, दुर्गन्धित, अपवित्र और अत्यन्त ग्लानिको उत्पन्न करनेवाली होती है। उसमें रति करनेवाला मनुष्य मोहके उदयसे उसी तरह सुख मानता है, जैसे खाजका रोगी खाजको खुजानेमें सुख मानता है। अतः विरक्त हुआ मनुष्य कामभोगोंको छोड़कर मुक्ति-लक्ष्मीकी आराधना करता है। इस प्रकार इन धर्मयुक्त चारों कथाओंको करना चाहिए, क्योंकि ये कथाएँ कुमार्गका नाश करनेमें समर्थ होती हैं, और जिस प्रकार माता हितकर उपदेश देकर अपनी सन्तानके कान और मनको प्रसन्न करती है, उसी प्रकार ये कथाएँ भी सुननेवालोंके कान और मनको आनन्दित करती हैं। अतः इन कथाओंको सदा करना चाहिए। और स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा, और देशकथाको दूरसे ही छोड़ना चाहिए।

१ स्त्रियोंके रूप यौवन लावण्य वस्त्र, भूषा तथा भाव-हावकी चर्चा करनेको स्त्रीकथा कहते हैं। भात, दाल शाक, खीर खाजा वगैरह भोजनकी चर्चा करनेको भक्तकथा कहते हैं। चोर अमुक प्रकारसे गढ़ खोदते हैं, ईंटें गलाते हैं, गाँठें छेदते हैं, ताले खोलते हैं, दूसरोंको ठगते हैं इत्यादि चर्चा

करनेको चोरकथा कहते हैं। अमुक देशमें सब तरहका धान्य पैदा होता है, अमुक देशमें धान्य बहुतायतसे होता है अथवा चावल, मूँग, गेहूँ वगैरह उत्पन्न होता है, इसी जगह य चीजें पैदा नहीं होती हैं—इस प्रकारकी चर्चाको जनपदकथा कहते हैं। इन कथाओंको मनमें भी नहीं सोचना चाहिए, वचनसे कहनेकी तो बात ही क्या है ! ॥ १८२–१८३ ॥

अपि च—

और भी —

यावत्परगुणदोषपरिकीर्तने व्यापृतं मनो भवति ।
तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् ॥ १८४ ॥

टीका—यावदिति कालपरिमाणम्। यावन्तं कालं परस्य गुणान् दोषांश्च परिकीर्तयन्नुद्घाटयति तत्सम्बन्धव्यापारो भवति। परदोषोद्घट्टने व्यापारयति व्यग्रं मनः करोति, पैशुन्यात् कर्मबन्धकारि। तावदिति तावन्तं कालं वरं शोभनतरं निर्जराकारणत्वात्। विशुद्धे ध्याने निर्मले शुक्ले। व्यापृतमव्याक्षिप्तं मनः कृतमिति। ननु च परगुणोत्कीर्तनं न निन्द्यम् ? उच्यते अध्यात्मचिन्तापरस्य न तत्रापि किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १८४ ॥

अर्थ—जितने समयतक मन दूसरोंके गुण और दोषोंके कथनमें लगा रहता है, उतने समयतक उसे विशुद्ध ध्यानमें लगाना श्रेष्ठ है।

भावार्थ—दूसरोंके गुणों और दोषोंके प्रकट करनेमें मनके लगे रहनेसे कर्मबन्ध होता है। अतः इसकी अपेक्षा निर्मल ध्यानमें मन लगाना उत्तम है, क्योंकि उससे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

शङ्का—दूसरेके गुणोंको प्रकट करना तो बुरा काम नहीं है ?

समाधान—अध्यात्मचिन्तनमें लगे हुए साधुको उससे भी क्या प्रयोजन है। अतः दूसरोंके गुण-दोषोंकी आलोचनामें मनको न लगाकर विशुद्ध ध्यानमें ही उसे लगाना चाहिए।

विशुद्धध्यानप्रदर्शनायाह—

विशुद्धध्यानको कहते हैं —

शास्त्राध्ययने चाध्यापने च संचिन्तने तथात्मनि च ।
धर्मकथने च सततं यत्नः सर्वात्मना कार्यः ॥ १८५ ॥

टीका—शिष्यन्तेऽनेनेत्यागमप्रसिद्धा इति शास्त्रम्। शास्तीति शास्त्रम् जन्तुव्यापार विवक्षायाम्। तस्याध्ययनमपूर्वग्रहणं पूर्वगृहीतानुचिन्तनं वाचनादानमित्यादि, अध्यापनमध्ययनदानम्। संचिन्तनं संचिन्त्य पश्चाद्दोषादिविशुद्धमध्यापयति। तथाऽऽलोचयते चात्मनि "किमद्य मया कृतं चार्योक्तं किं वा नो कृतमिति।" धर्मविषयमाख्याने च सततं यत्नः सर्वात्मना मनोवाक्कायैः कार्यः॥ १८५ ॥

अर्थ—शास्त्रके पढ़नेमें, पढ़ानेमें, आत्मचिन्तनमें और धर्मोपदेशमें सदा मन, वचन, और कायसे यत्न करना चाहिए।

भावार्थ—नये-नये शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। पढ़े हुए शास्त्रोंका विचार करना चाहिए और विचार करके दूसरोंको पढ़ाना चाहिए। तथा प्रतिदिन यह सोचना चाहिए कि 'आज मैंने शास्त्रविहित कर्म किये हैं या नहीं?' इसके सिवाय दस प्रकारके पूर्वोक्त कथन करनेमें भी मनको लगाना चाहिए। ये सभी कार्य धर्मध्यानमें गर्भित हैं।

शास्त्रशब्दं व्युत्पत्त्यर्थमाह—

शास्त्र-शब्दकी व्युत्पत्ति कहते हैं—

शास्विति वाग्विधिविद्भिर्धातुः पापठ्यतेऽनुशिष्ट्यर्थः ।
त्रैङिति च पालनार्थे विनिश्चितः सर्वशब्दविदाम् ॥ १८६ ॥

टीका—शासु अनुशिष्टाविति। वाग्विधिविद्भिर्लक्षणपूर्वधरैः। पापठ्यत इति अनुशासनेऽर्थेऽयं पठ्यत इत्यर्थः। अनेकार्था धातव इत्यन्यस्मिन्नप्यर्थे वृत्तिरस्तीति तद्व्यापत्ति—अनुशिष्ट्यर्थ इति। त्रैङ् पालने। विनिश्चितो विशेषेण नियतः। सर्वशब्दविदां प्राकृतसंस्कृतशब्दमार्गज्ञानां विनिश्चित इत्यर्थः ॥ १८६ ॥

अर्थ—चौदह पूर्वके धारी 'शास्' धातुको 'अनुशासन' अर्थमें पढ़ते हैं। और 'त्रैङ्' धातुको सभी शब्दवेत्ता 'पालन' अर्थमें निश्चित करते हैं।

भावार्थ—शास्त्र शब्द दो धातुओंसे बना है। उनमेंसे 'शास्' धातुका अर्थ 'अनुशासन' है और 'त्रैङ्' धातुका अर्थ 'पालन' है। उक्त धातुओंका यह अर्थ हमारा रचा नहीं है, किन्तु चौदह पूर्वके धारी और संस्कृत प्राकृत आदि शब्दोंके ज्ञाता इन अर्थोंको न केवल मानते हैं, किन्तु ये अर्थ उन्हींके बतलाये हुए और निश्चय किये हुए हैं।

यस्माद्रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ॥ १८७ ॥

टीका—शास्त्रमिति वचनद्वारेण शब्दं संस्कारयति। रागद्वेषाभ्यामुद्धतमुल्बणं चित्तं येषां तान् रागद्वेषोद्धतचित्तान् सम्यगनुशास्ति। सद्धर्मे क्षमादिदशलक्षणे सद्धर्मविषयमनुशासनं करोति। संत्रायते च दुःखात् शारीरमानसात् परिरक्षति यस्मात्तस्माच्छास्त्रमभिधीयते। सद्भिर्यथान्यायवादिभिर्निश्चयेनोच्यते निरुच्यत इत्यर्थः ॥ १८७ ॥

१—कारिका च०।

अर्थ—चूँकि राग और द्वेषसे जिनके चित्त व्याप्त हैं उनको समीचीन धर्ममें अनुशासित करता है और दुःखसे बचाता है, इसलिए सज्जन उसे शास्त्र कहते हैं।

भावार्थ—ऊपर 'शास्' धातुका अर्थ अनुशासन और 'त्रैङ्' धातुका अर्थ रक्षण बतलाया है। इन्हीं दोनों धातुओंसे शास्त्र शब्द बना है। अतः जो रागी और द्वेषी मनुष्योंको उत्तम क्षमादिरूप दशलक्षणधर्मकी शिक्षा देता है, और नरकादि गतियोंके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे उन्हें बचाता है, उसे शास्त्र कहते हैं। व्याकरणके अनुसार बोलनेवालोंने शास्त्रका यही अर्थ निश्चित किया है।

शासनसामर्थ्येन तु संत्राणबलेन चानवद्येन ।
युक्तं यत्तच्छास्त्रं तच्चैतत्सर्वविद्वचनम् ॥ १८८ ॥

टीका—शासनसामर्थ्येनानुशासनसमर्थमिदं द्वादशाङ्गं प्रवचनमतस्तेन शासनसामर्थ्येन संसारस्वभावमनुकथ्य तद्विपरीतं च मोक्षमार्गं दर्शयता निरपायं परिरक्षता च शरणमागतान् प्राणिनोऽनवद्योपायेन कश्चित् परिरक्षत्यन्यानुपघ्नन् तथेदं शासनं कस्यचिदुपघातकं युक्तमिदं प्रतिपत्तुम्। यतः शासनयुक्तेनानवद्येन तच्चैतच्छास्त्रं सर्वविदः सर्वज्ञस्य वचनमव्यभिचारेण क्षीणरागद्वेषमोहस्य नान्यस्येति ॥ १८८ ॥

अर्थ—जो निर्दोष शासनशक्ति और रक्षणके बलसे युक्त होता है, उसे शास्त्र कहते हैं। ऐसा शास्त्र सर्वज्ञका वचन ही हो सकता है।

भावार्थ—द्वादशाङ्गरूप प्रवचन लोकका अनुशासन करनेमें समर्थ है, तथा संसारका स्वभाव बतलाकर और उससे विपरीत मोक्षके मार्गको दर्शाकर शरणमें आये हुए प्राणियोंकी निर्दोष उपायसे रक्षा करनेमें समर्थ है। जिस प्रकार राजा दूसरोंका वध करके किसी एककी रक्षा करता है, उसी प्रकार यह शास्त्र किसीका घातक नहीं है। अतः शास्त्र उक्त दोनों बातोंसे युक्त होता है, अतः वह वीतराग वीतद्वेष और वीतमोह भगवान् सर्वज्ञदेवका वचन ही हो सकता है। क्योंकि उन्हींके वचनोंमें जगत्को निर्दोष शिक्षण देनेकी और निर्दोष रीतिसे रक्षण करनेकी अनुपम सामर्थ्य है।

तदेव सर्वज्ञवचनमुद्देशतो दर्शयन्नाह—
अब उन्हीं सर्वज्ञदेवके वचनोंको बतलाते हैं —

जीवाजीवा पुण्यं पापास्रवसंवरा सनिर्जरणा ।
बन्धो मोक्षश्चैते सम्यक् चिन्त्या नवपदार्थाः ॥ १८९ ॥

टीका—जीवा इति सम्बन्धः प्राणभाव उक्तः । ते च द्रव्यभावभेदेन प्राणा द्विप्रकाराः । तत्र द्रव्यप्राणाः पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वासनिःश्वासबलं तथायुरिति ।" भावप्राणास्तु ज्ञानदर्शनोपयोगाख्याः । यामिः प्राणैरजीविषुर्जीवन्ति जीविष्यन्ति चेति जीवाः । तद्विपरीतास्त्वजीवाः । पुण्यं सातावेदनीयादिद्विचत्वारिंशत्कर्मप्रकृतयः । पापं तु द्व्यशीतिः कर्मभेदानाम् । आस्रवः कायवाङ्मनोभिः कर्मयोग आत्मनः । तेषामेवास्रवाणां निरोधः संवरः । सह निर्जरणेन सनिर्जरणाः । निरुद्धेष्वास्रवद्वारेषु गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचरणयुक्तस्य तपोऽनुष्ठानात् कर्म निर्जरणं भवतीति । मिथ्यादर्शनाद्यो बन्धहेतवः । तद्योगात् सकषायः सन्नात्मा कर्मयोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः । बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः । इत्येते सम्यक् चिन्त्याः सम्यगालोच्याः अन्यस्मै प्रतिपाद्या नव पदार्थाः । ननु च शास्त्रे सप्ताभिहिताः कथमत्र नवेति ? उच्यते—शास्त्रे पुण्यपापयोर्बन्धग्रहणेनैव ग्रहणात् सप्त सङ्ख्या । इह तु भेदेनाख्यातं पुण्यपापप्रकृतिविभागप्रतिपादनार्थमिति ॥ १८९ ॥

अर्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नौ पदार्थों का अच्छी तरह चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—जो अपने अपने योग्य प्राणोंको धारण करते हैं, उन्हें जीव कहते हैं। वे प्राण दो प्रकार के होते हैं—एक द्रव्यप्राण और दूसरे भावप्राण। पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये दस द्रव्यप्राण हैं। तथा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग, भावप्राण हैं। इन प्राणोंसे जो जिये थे, जीते हैं, और जीयेंगे उन्हें जीव कहते हैं। उनसे विपरीत अजीव होते हैं। सातावेदनीय वगैरह ४२ कर्मप्रकृतियोंको पुण्य कहते हैं। असातावेदनीय आदि ८२ कर्मप्रकृतियोंको पाप कहते हैं। मनोयोग वचनयोग, और काययोगसे आत्मामें कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं। आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं। आस्रवके द्वारोंके रुक जानेपर गुप्ति समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे युक्त साधुके तप करनेसे जो कर्म झड़ते हैं वह निर्जरा है। बन्धके कारण मिथ्यादर्शन वगैरहके निमित्तसे कषाय सहित आत्मा जो कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है, उसे बन्ध कहते हैं। बन्धके कारणोंके अभाव और निर्जराके निमित्तसे आत्मासे समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार इन नौ पदार्थोंका अच्छी तरह मनन करना चाहिए और दूसरोंको उपदेश देना चाहिए।

शङ्का—अन्य शास्त्रोंमें तो सात पदार्थ बतलाये हैं। यहाँ नौ क्यों कहे हैं ?

समाधान—अन्य शास्त्रोंमें पुण्य और पापका अन्तर्भाव बन्धमें कर लिया गया है। अतः वहाँ सात ही गिनाये हैं। यहाँ पुण्य कर्मों और पाप कर्मोंका भेद बतलानेके लिए उनका पृथक् ग्रहण किया है।

जीवभेदप्रतिपादनायाह—

जीवोंके भेद बतलाते हैं —

जीवा मुक्ताः संसारिणश्च संसारिणस्त्वनेकविधाः ।
लक्षणतो विज्ञेया द्वित्रिचतुःपञ्चषड्भेदाः ॥ १९० ॥

टीका—द्विप्रकारा जीवाः । मुक्ताः सकलकर्मक्षयमात्रा एकरूपाः । संसारिणस्त्वनेकविधाश्चतुर्गतिविभक्ता ये ते चानेकभेदाः—नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः । पुना रत्नप्रभापृथिवीनारका इत्यादिभेदाः । तिर्यञ्चोऽप्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाः । पुनरेकेन्द्रिया पृथिव्यादिभेदाः । द्वीन्द्रियाः शंखशुक्तिकादयः । त्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयः । चतुरिन्द्रिया मक्षिकाभ्रमरपतङ्गादयः । पञ्चेन्द्रिया गोमहिष्यजाविकादयो गर्भव्युत्क्रान्तादयः संमूर्छजाश्च । मनुष्या आर्यम्लेच्छादिभेदाः गर्भजाः संमूर्छजाश्चेति । देवा भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाः । भवनपतयो दशासुरादयः । व्यन्तराः किंनरादयोऽष्टभेदाः ज्योतिष्काः पञ्चप्रकाराः सूर्यादयः । वैमानिकाः सौधर्मवास्यादय इति ॥ १९० ॥

अर्थ—जीव दो प्रकारके होते हैं—मुक्तजीव और संसारीजीव । संसारीजीव दो, तीन, चार, पाँच और छह भेदरूप अनेक प्रकारके होते हैं । उन्हें अपने-अपने चिन्होंसे जान लेना चाहिए ।

भावार्थ—जीव दो प्रकारके होते हैं । उनमेंसे मुक्तजीव समस्त कर्मोंसे मुक्त होनेके कारण सब एकसे ही होते हैं । किन्तु संसारीजीव अनेक प्रकारके होते हैं । सबसे पहले चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं—नारकी तिर्यञ्च मनुष्य और देव । फिर रत्नप्रभा पृथिवी वगैरहकी अपेक्षासे नारकियोंके अनेक भेद हैं । तिर्यञ्चोंके एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय आदि भेद हैं ।

एकेन्द्रियोंके पृथिवी आदि भेद हैं । दोइन्द्रियोंके शंख-सीप वगैरह भेद हैं । तेइन्द्रियोंके चींटी आदि भेद हैं । चौइन्द्रियोंके मक्खी भौंरा, पतङ्ग वगैरह भेद हैं । पञ्चेन्द्रियके गाय भैंस बकरा, भेड़ा वगैरह तथा गर्भज और संमूर्छन वगैरह भेद हैं । मनुष्योंके आर्य, म्लेच्छ गर्भज, संमूर्छन आदि भेद हैं । देव, भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक होते हैं । भवनवासियोंके असुरकुमार वगैरह दस भेद हैं । व्यन्तरोंके किंनर वगैरह आठ भेद हैं । ज्योतिष्कोंके सूर्य वगैरह पाँच भेद हैं । और वैमानिकोंके सौधर्मवासी वगैरह भेद हैं ।

प्रकरणकारस्त्वनेकविधत्वमन्यथा दर्शयति—

ग्रन्थकार संसारीजीवोंके दो-तीन वगैरह भेदोंको कहते हैं—

द्विविधाश्चराचराख्यास्त्रिविधाः स्त्रीपुंनपुंसका ज्ञेयाः ।
नारकतिर्यग्मानुषदेवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ताः[1] ॥१९१ ॥

टीका—चरा द्वीन्द्रियादयोऽग्निवायू त्रीन्द्रियादयः अचराः स्थावराः पृथिव्यादयः । त्रिविधाः स्त्रियः पुमांसो नपुंसकाः । नारकादिभेदेन चतुर्विधाः । शासनेऽभिहिताः ॥ १९१ ॥

१ चा प्रक्रमतो विज्ञेयाः, च ।

अर्थ—संसारीजीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके और स्त्री, पुरुष और नपुंसकके
दसे तीन प्रकारके जानने चाहिए। तथा नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवके भेदसे चार प्रकारके
े गये हैं।

भावार्थ—तेजकाय, वायुकाय द्वीन्द्रिय वगैरह जंगम प्राणियोंको त्रस कहते हैं। पृथिवीकाय
ौरह स्थावर प्राणियोंको स्थावर कहते हैं। संसारीजीवके ये दो भेद हैं। तथा स्त्री वगैरहकी अपेक्षासे
न भेद हैं और नारकी वगैरहकी अपेक्षासे चार भेद हैं।

पञ्चविधास्त्वेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाश्च निर्दिष्टाः ।
क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च षड्भेदाः ॥ १९२ ॥

टीका—पञ्चप्रकाराः एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः कथिताः । भूमिजलज्वलनवायुवनस्पति-
त्रीन्द्रियादयश्चेति षड् भेदाः ॥ १९२ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय-ये पाँच भेद कहे हैं। और
पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस-ये छह भेद कहे हैं।

भावार्थ—संसारीजीवके एकेन्द्रिय वगैरहकी अपेक्षासे पाँच भेद हैं। और पृथिवी वगैरह छह
कार्योंकी अपेक्षासे छह भेद हैं।

एवमनेकविधानामेकैको विधिरनन्तपर्यायः ।
प्रोक्तः स्थित्यवगाहज्ञानदर्शनादिपर्यायैः ॥ १९३ ॥

टीका—एवमुक्तेन न्यायेनानेकविधानामनेकभेदानामेकैको विधिर्मूलभेदोऽनन्त-
पर्यायोऽनन्तभेदः कथितः। केन कारणेन स्थितितोऽवगाहतो ज्ञानतो दर्शनतश्च। स्थिति-
तस्तावदनन्तपर्यायाः। अनादौ संसारेऽनन्ताः स्थितिपर्यायाः। अवगाहतोऽप्यसंख्येयप्रदेशावगाहे
हीनाधिकसमप्रदेशभेदेनावगाहोऽपि बहुप्रकारः। तथा ज्ञानतोऽप्यनन्तपर्यायता दर्शनतश्च।
यथोक्तम्— "अणंता णाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा।" एकैको नारकादिभेदो यथासंभव-
मनन्तपर्यायो भवति ॥ १९३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक भेदोंमेंसे एक-एक मूलभेदके स्थिति, अवगाह, ज्ञान दर्शन वगैरह
पर्यायोंकी अपेक्षासे अनन्त भेद कहे हैं।

भावार्थ—उक्त प्रकारसे संसारीजीवोंके अनेक भेद हैं। उन अनेक भेदोंमेंसे भी एक-एक
भेदके स्थिति वगैरहकी अपेक्षासे अनन्त भेद हैं। स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तेतीस सागर तक होती

है। अतः स्थितिकी अपेक्षा अनन्त भेद हैं। एक जीवकी अवगाहना लोकके असंख्यातवें भागके बराबर है। शरीरके छोटे-बड़े होनेके कारण प्रदेशोंकी हीनता और अधिकता होनेसे अवगाहनाकी अपेक्षा भी बहुतसे भेद होते हैं। तथा ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षासे भी अनन्त भेद होते हैं। क्योंकि सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके ज्ञानसे लेकर केवलज्ञानपर्यन्त ज्ञानके अनन्त भेद हैं। इस प्रकार एक एक नारकादि भेदके संभव अनन्त भेद होते हैं।

जीवस्य लक्षणमभिधित्सयाह—

जीवका लक्षण कहते हैं—

सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम् ।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥ १९४ ॥

टीका—सामान्यलक्षणं सर्वजीवानामुपयोगश्चेतना ज्ञानदर्शनव्यापारः[१]। खलु शब्दोऽवधारणे। उपयोग एव सामान्यलक्षणम्। सर्वजीवानामिति। तमुपयोगं विस्तरयति—साकारोपयोगः आकारो विकल्पः सहाकारेण साकारः सविकल्पो ज्ञानव्यापारः। अनाकारो दर्शनोपयोगः। सामान्यग्रहणं निर्विकल्पमित्यर्थः। ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः—मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानाख्यः। दर्शनोपयोगश्चतुर्धा—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनात्मकः॥ १९४॥

अर्थ—सब जीवोंका सामान्य लक्षण उपयोग ही है। वह दो प्रकारका होता है—साकार और अनाकार। साकारउपयोगके आठ भेद हैं, और अनाकारउपयोगके चार भेद हैं।

भावार्थ—जानने-देखने रूप चैतन्य-व्यापारको उपयोग कहते हैं। यह उपयोग ही सब जीवोंका सामान्य लक्षण है। उसके दो भेद हैं—साकारउपयोग और अनाकारउपयोग। 'यह घट है' इस प्रकारके विकल्पको आकार कहते हैं और सविकल्पक ज्ञान-व्यापारको साकारोपयोग कहते हैं। तथा निर्विकल्पक दर्शन-व्यापारको अनाकारउपयोग कहते हैं। ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं। मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान, मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोगके चार भेद हैं—चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

तानष्टौ भेदांश्चतुरश्च विस्तरतः कथयति—

उन आठ और चार भेदोंको विस्तारसे कहते हैं—

ज्ञानाज्ञाने पञ्चत्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः ।
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदृग्विषयस्त्वनाकारः ॥ १९५ ॥

१ आकारोऽत्र विकल्पः स्यात्।

टीका—यथासंख्यं पञ्चविकल्प मत्यादिज्ञानम्, त्रिविकल्पकमज्ञान मत्यज्ञानादि। एषोऽष्टप्रकार उपयोगः साकारः। तुशब्दोऽवधारणे। अवधिश्च एवेति। चक्षुर्दर्शनादिसामान्योपयोगश्चतुर्विधेति ॥ १९५ ॥

अर्थ—पाँच प्रकारका ज्ञान और तीन प्रकारका अज्ञान इस प्रकार आठ प्रकारका उपयोग साकार होता है। और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन, केवलदर्शनका विषय अनाकार होता है।

जीवस्यैवमुपयोगलक्षणस्य सतः परिणतिविशेषान् भावान् दर्शयन्नाह—

इस प्रकार जीवका लक्षण उपयोग है। अब उसके भावोंको बतलाते हैं—

भावा भवन्ति जीवस्यौदयिक पारिणामिकश्चैव ।
औपशमिक क्षयोत्थ क्षयोपशमजश्च पञ्चैते ॥ १९६ ॥

टीका—पञ्चैते जीवस्य भावाः परिणतिविशेषाः कर्मोदयोपशमक्षयोपशमक्षयनिवृत्ताः। औदयिकः, पारिणामिकः, औपशमिकः, क्षायिकः क्षायोपशमिकश्च पञ्चेति॥ १९६॥

अर्थ—जीवके औदयिक, पारिणामिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक-ये पाँच भाव होते हैं।

भावार्थ—जीवकी परिणति विशेषको भाव कहते हैं। वे पाँच प्रकारके होते हैं, और कर्मोंके उदय उपशम, क्षयोपशम और क्षय वगैरहसे उत्पन्न होते हैं।

एषामेवौपशमिकादिभेदानां क्रमेण भेदानाह—

इन औपशमिकादि भावोंके भेद क्रमशः कहते हैं —

ते चैकविंशतित्रिद्विनवाष्टादशविधाश्च विज्ञेया ।
षष्ठश्च सान्निपातिक इत्यन्य पञ्चदशभेद ॥ १९७ ॥

टीका—कर्मोदये भव कर्मोदयनिवृत्तो वा औदयिकः स एकविंशतिभेदः। गतिनारकादिका चतुर्विधा, कषायाः क्रोधादयश्चतुर्धा, लिङ्ग स्त्रीपुंनपुंसकाख्यं त्रिधा मिथ्यादर्शनमश्रद्धालक्षणमेकप्रकारम् अज्ञानमेकविधम् असंयतत्वमेकप्रकारम् असिद्धत्वमेकविध लेश्याः षट्प्रकाराः। एते गत्यादयः सर्वे कर्मोदयात् प्रादुर्भवन्ति। अनादिपारिणामिको भावस्त्रिविधः जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वं चेति। नैते कर्मोदयाद्यपेक्षन्ते। कर्मोपशमनिवृत्तऔपशमिकः, सम्यक्त्वं चारित्रं च द्विविधं। क्षयोत्थ कर्मक्षयाज्जातः क्षायिकः। स नव-

१–लेश्या–च।

भेदाः—केवलज्ञानम्, केवलदर्शनम् दानलब्धिः, लाभलब्धिः, भोगलब्धिः, उपभोगलब्धिः वीर्यलब्धिः सम्यक्त्वं चारित्रमिति । क्षयोपशमश्च क्षायोपशमिकः । सोऽष्टादशभेदः—मत्यादिज्ञानं चतुर्विधम् अज्ञानं मत्यज्ञानादि त्रिविधम् दर्शनं चक्षुर्दर्शनादि त्रिविधम्, दानादिलब्धयः पञ्च, सम्यक्त्वं, चारित्रं संयमासंयमश्चेति । पञ्चमः सान्निपातिक इति सन्निपातः संयोगः । सन्निपातः प्रयोजनमस्येति सान्निपातिकः संयोगजो भावः । तत्र पञ्चानांभावानामौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकानां द्विकादिसंयोगेन षड्विंशतिर्विकल्पा भवन्ति । तत्र विरोधित्वादेकादश त्याज्याः । शेषाः पञ्चदशाविरोधिनः संभवन्ति । तेषामविरोधिनां पञ्चदशानां ग्रहणं कृतं प्रकरणकारेणेति । ते चामी विशेषाः । अन्यः षड्विंशतिविकल्पः सान्निपातिक इत्यर्थः ॥ १९७ ॥

अर्थ—वे औदयिक आदि भाव इक्कीस तीन दो, नौ और अठारह प्रकारके जानने चाहिए । तथा छठा सान्निपातिक नामका एक अन्य भाव भी है । उसके पन्द्रह भेद हैं ।

भावार्थ—कर्मोंके उदयसे जो भाव होता है उसे औदयिक कहते हैं । उसके इक्कीस भेद हैं —नरक आदि चार गतियाँ, क्रोध वगैरह चार कषाय स्त्री पुरुष और नपुंसक लिङ्ग एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान एक असंयम एक असिद्धत्व और छह लेश्या । ये सभी भाव कर्मोंके उदयसे होते हैं । पारिणामिकभाव अनादि हैं । उसके तीन भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । ये भाव कर्मोंकी अपेक्षासे नहीं होते हैं ।

कर्मोंके उपशमसे जो भाव होता है, उसे औपशमिक कहते हैं । उसके दो भेद हैं—सम्यक्त्व और चारित्र । कर्मोंके क्षयसे जो भाव होता है, उसे क्षायिक कहते हैं । उसके नौ भेद हैं—केवलज्ञान केवलदर्शन दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि उपभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, सम्यक्त्व और चारित्र । कर्मोंके क्षयोपशमसे जो भाव होता है, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं । उसके अठारह भेद हैं—चार प्रकारका मत्यादिज्ञान तीन प्रकारका अज्ञान तीन प्रकारका चक्षुर्दर्शन आदि दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम । इन पाँच भावोंके सिवाय एक छठा भाव और भी है, जिसे सान्निपातिकभाव कहते हैं । सन्निपात संयोगको कहते हैं । पाँचों भावोंके संयोगसे जो भाव होते हैं उन्हें सान्निपातिकभाव कहते हैं । अर्थात् सान्निपातिक कोई स्वतन्त्र भाव नहीं है; किन्तु संयोगज भाव है । उसके छब्बीस भेद होते हैं —दो संयोगी दस तीन संयोगी दस, चार संयोगी पाँच, और पाँच संयोगी एक । इनमेंसे विरोधी होनेसे ग्यारह भाव छोड़ने योग्य हैं । शेष पन्द्रह भाव अविरोधी हैं । ग्रन्थकारने अविरोधी पन्द्रह भावोंका ही ग्रहण किया है ।

एभिर्भावैः स्थानं गतिमिन्द्रियसम्पदः सुखं दुःखम् ।
सम्प्राप्नोतीत्यात्मा सोऽष्टविकल्पः समासेन ॥ १९८ ॥

टीका—एभिरौदयिकादिभिर्भावैः स्थानं प्राप्नोतीत्यात्मा। स्थानमिति स्थीयते यत्र संसारे तत्स्थानं सामान्येनाविशेषितं प्राप्नोति। यत उक्तम्—

"सव्वाट्ठाणाइं असासयाइं इह चेव देवलोएय।
असुरसुरनाराणं (नराइणं) सिद्धिविसेसा सुहाइं च ॥ १ ॥"

गतिं नारकादीनां च गतिं प्राप्नोति भावैरेव। ननु च गतिस्थानयोर्नास्ति विशेषः? उच्यते—नरकगतावेव जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि स्थानानि बहूनि सन्तीति तत्प्रतिपादनाय स्थानग्रहणं पृथगिति। इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि। एषां सम्पत्समग्रताऽविकलतापाटवमेन्द्रियसम्पत् प्राप्नोतीत्यात्मा। अथवा इन्द्रियाणि च सम्पच्चाभिभूतय इत्यर्थः। तथा सुखं दुःखं चौदयिकभाववशात्प्राप्नोति। अतति गच्छति तांस्तान् स्थानादिविशेषान् क्रमेणाप्नोतीत्यात्मा। स चाष्टभेदः संक्षेपतोऽनुगन्तव्यः ॥ १९८ ॥

अर्थ—इन भावोंसे आत्मा स्थान, गति, इन्द्रिय सम्पत्ति सुख और दुःखको प्राप्त करता है। संक्षेपसे उसके आठ भेद हैं।

भावार्थ—इन औदयिक आदि भावोंसे आत्मा स्थानको प्राप्त करता है। संसारमें जहाँ आत्मा ठहरता है, उसे स्थान कहते हैं। वह स्थान कर्मोंके उदयसे ही प्राप्त होता है। भावोंसे ही गति प्राप्त होती है।

शङ्का—गति और स्थानमें तो कोई अन्तर नहीं है?

समाधान—नरकादिक गतियोंमें ही जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट बहुतसे स्थान हैं। उन्हें बतलानेके लिए स्थानका पृथक् ग्रहण किया है। इन्द्रियोंकी सम्पूर्णताको इन्द्रिय-सम्पत् कहते हैं। अथवा इन्द्रियाँ और सम्पत्ति ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। इन्द्रिय-सम्पत् भी भावोंसे ही प्राप्त होती है। तथा सुख-दुःख भी औदयिकभावके कारण ही प्राप्त होते हैं। संक्षेपमें उस आत्माके आठ भेद हैं।

तानष्टौ विकल्पानभिधातुकाम आह—

उन आठ भेदोंको बतलाते हैं—

द्रव्यं कषाययोगावुपयोगो ज्ञानदर्शने चेति[2]।
चारित्रं वीर्यं चेत्यष्टविधा मार्गणा तस्य ॥ १९९ ॥

टीका—द्रव्यात्मा कषायात्मा, योगात्मा उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा वीर्यात्मा, चेति अष्टविधाऽष्टप्रकारा मार्गणा गवेषणा परीक्षा तस्यात्मनः कार्येति ॥ १९९ ॥

अर्थ—द्रव्यात्मा कषायात्मा योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा—ये आत्माकी आठ मार्गणाएँ हैं।

१-श्रीहरिभद्रसूरिकी टीकामें स्थानका अर्थ—स्थिति-आयु किया है। पृ० ९९। २-चैव-प०। प० ९८

भावार्थ—मार्गणा खोजने अथवा परीक्षा करनेको कहते हैं। द्रव्य आदि आठ प्रकारोंसे आत्माकी खोजकी जाती है।

सम्प्रत्येषां द्रव्याद्यात्मनां स्वरूपविवक्षयाह—

अब इन द्रव्यात्मा आदिका स्वरूप कहते हैं—

जीवाजीवानां द्रव्यात्मा सकषायिणां कषायात्मा।
योगः सयोगिनां पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥ २०० ॥

टीका—जीवत्वमनादिपारिणामिको भावः। जीवश्च द्रव्यमन्वयी सकलपरिणामपर्यायेष्वनुस्यूतं द्रवति तांस्तान् पर्यायानाप्नोति नारकादीन्। सर्वमाविष्टत्वेन वर्तते। एवं द्रव्यं द्रव्यात्मा सर्वेषामस्ति पक्षाश्रिति। एवमजीवानामपि योऽन्वयांशः पुद्गलानां स द्रव्यात्मा। धर्मादीनां तु परस्परं तथा उत्पादादिपरिणामास्तथाप्यन्वयी द्रव्यात्मेति। कषायाः क्रोधादयस्ते सन्ति येषां ते कषायिणस्तेषां कषायिणामात्मा कषायैः सहैकत्वापत्तेः कषायात्मेत्युच्यते। योगा मनोवाक्कायलक्षणास्तदेकत्वपरिणत आत्मा यः स खलु योगात्मा सयोगानामिति। उपयोगो ज्ञानदर्शनव्यापारो विशेषविशेषस्तत्परिणत आत्मा उपयोगात्मेति सर्वजीवविषयः। सर्वमप्युक्तपरिमाणार्थम्। २००॥

अर्थ—जीव और अजीवोंके द्रव्यात्मा होती है। सकषाय जीवोंके कषायात्मा होती है। सयोगियोंके योगात्मा होती है और सब जीवोंके उपयोगात्मा होती है।

भावार्थ—जीवत्व अनादि पारिणामिकभाव है। और जीव अन्वयी द्रव्य है; क्योंकि वह सब पर्यायोंमें अनुस्यूत रहता है। जो नारकादिक पर्यायोंको प्राप्त करता है उसे द्रव्य कहते हैं। जीव भी अपनी सब पर्यायोंमें रहता है, अतः वह द्रव्य है। द्रव्यको ही द्रव्यात्मा कहते हैं; क्योंकि वह अपनी समस्त दशाओंमें अन्वित रहता है। इसी प्रकार अजीव पुद्गल धर्म आदिमें जो अन्वयी अंश होता है उसे द्रव्यात्मा कहते हैं। इस तरह जीव अजीव द्रव्योंके द्रव्यात्मा होती है। तात्पर्य यह है कि चेतन और अचेतन सभी द्रव्योंमें जो स्थितिरूप अंश है, जो कि द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायमें अनुस्यूत रहता है, उसे यहाँ आत्मा शब्दसे कहा गया है। क्योंकि सब द्रव्य अपने उस अंशको कभी नहीं छोड़ते हैं। जिस प्रकार सोनेके आभूषणोंमें सुवर्णत्व स्थायी अंश है, अतः वह सुवर्णकी आत्मा कहा जाता है, उसी प्रकार सब द्रव्योंका अपना अपना स्थायी अंश उनकी द्रव्यात्मा जानना चाहिए। कषायसे युक्त जीवोंको सकषाय कहते हैं और उनकी आत्माको सकषायात्मा कहते हैं। क्योंकि उनकी आत्मा कषायके साथ हिली-मिली होती है। मन वचन कायरूप योगसे युक्त आत्माको योगात्मा कहते हैं। यह योगात्मा सयोगियोंके होती है। जानने-देखनेरूप व्यापारको उपयोग कहते हैं। उससे युक्त आत्माको उपयोगात्मा कहते हैं। यह उपयोगात्मा सभी जीवोंके होती है; क्योंकि जीवका लक्षण उपयोग ही है।

ज्ञानं सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम् ।
चारित्रं विरतानां तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥ २०१ ॥

टीका—सम्यग्दर्शनसम्पन्नस्यात्मनस्तत्त्वार्थश्रद्धानपरिणामभाजो यो ज्ञानपरिणामः स ज्ञानात्मा । दर्शनात्मा चक्षुर्दर्शनादिपरिणतस्यात्मनस्तदेकतापत्तेर्दर्शनात्मा । सर्वजीवविषयप्राणातिपातादिपापस्थानेभ्यो विरतस्य तदाकारपरिणतस्य चारित्रात्मा । वीर्यं शक्तिर्भेद्या । तेन वीर्येण सर्वे संसारिणो वीर्यात्मान उच्यन्ते ॥ २०१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके ज्ञानात्मा होती है। सब जीवोंके दर्शनात्मा होती है। व्रतियोंके चारित्रात्मा होती है और सब संसारियोंके वीर्यात्मा होती है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनसे युक्त आत्माका जो ज्ञानरूप परिणाम तत्त्वार्थके श्रद्धानसे युक्त होता है, उसे ज्ञानात्मा कहते हैं। अतः सम्यग्दृष्टीकी आत्मा ज्ञानात्मा होती है। चक्षु, अचक्षु वगैरह दर्शनोंसे युक्त आत्माको दर्शनात्मा कहते हैं। यह आत्मा सभी जीवोंके होती है क्योंकि सभी जीवोंमें दर्शन पाया जाता है। जीवहिंसा वगैरह पापके स्थानोंसे विरत साधुके चारित्रात्मा होती है। वीर्य शक्तिको कहते हैं। शक्ति सभी जीवोंमें पाई जाती है। अतः सब संसारी जीवोंके वीर्यात्मा होती है।

एवमेतेऽष्टौ आत्मनो विकल्पाः प्रतिपादितास्तत्र द्रव्यात्मानमाशङ्कते—अजीवविषया त्वेति ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावश्चेतना प्रतीतः, कथं पुद्गलादिष्वात्मशब्दप्रवृत्तिरित्युच्यते—

इस प्रकार आत्माके ये आठ भेद बतलाये हैं। उनमेंसे द्रव्यात्माके बारेमें यह शङ्का होती है कि आत्मा चेतन है और वह ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमयी है। अतः जो जीवके साथ अजीवके भी द्रव्यात्मा बतलाई गई है, वह ठीक नहीं है क्योंकि अजीव पुद्गलादिकको आत्मा शब्दसे कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

द्रव्यात्मेत्युपचारः सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण ।
आत्मादेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥ २०२ ॥

टीका—उपचारो व्यवहारः शब्दनिबन्धनः। स च शब्दो निमित्तमाश्रित्य प्रवर्तते। तत्र निमित्तमुभयत्र तुल्यम्। स यथैव चेतनो भवति तथाऽचेतनोऽपि अन्वयी पुद्गलाद्योऽस्तीति भवत्यात्मशब्दवाच्यः। सर्वद्रव्यविषयश्चैष न्याय इति। नयविशेषेणेत्याह—सामान्यग्राहिणा नयभेदेन सर्वमात्मशब्दप्रवृत्तिः। अथ सोऽप्यात्मा द्रव्यक्षेत्रभावादिविवक्षयास्ति न सर्वथा। तत्र स्वरूपेणादिष्टो विवक्षित आत्मास्ति, पररूपेणादिष्टो नास्ति। यथैव स्वास्तित्वादस्तीत्युच्यते, तथा परास्तित्वाभावान्नास्तीत्युच्यते। स्वावगाढक्षेत्रादिपर्यायैरेव पर्यायेणास्ति,

१–पतितः–ब० ।

नान्येन। एवं कालात्मा वर्तमानतयादिष्टोऽस्ति अतीतानागततया नास्ति। भावविवक्षायामौदयिकादीना-मन्यतमेन भावेनादिष्टोऽस्ति, शेषभावैर्नास्ति ॥ २०२ ॥

अर्थ—नय विशेषसे सब द्रव्योंमें 'द्रव्यात्मा' ऐसा व्यवहार होता है। स्वरूपकी अपेक्षासे आत्मा है और परकी अपेक्षासे अनात्मा है।

भावार्थ—शाब्दिक व्यवहारको उपचार कहते हैं यह उपचार किसी निमित्तसे ऐसा किया जाता है। वह निमित्त जीव और अजीव—दोनोंमें ही समान है, क्योंकि जो सततरूपसे सब पर्यायोंमें गमन करता है, उसे आत्मा कहते हैं। अतः जिस प्रकार चेतनद्रव्य अपनी पर्यायोंमें अन्वयी है, उसी प्रकार पुद्गलादिक द्रव्य भी अपनी पर्यायोंमें अन्वयी हैं। अतः उन्हें भी आत्मा शब्दसे कहा जाता है। इसलिए सामान्यग्राही नयके द्वारा सब द्रव्योंमें आत्मा शब्दका व्यवहार होता है। वह आत्मा भी अपने द्रव्य क्षेत्र वगैरहकी अपेक्षासे ही है, सर्वथा नहीं है। अर्थात् जब उस आत्माको उसीके स्वरूपसे विवक्षित किया जाता है, तब वह है और जब उसे पररूपसे विवक्षित किया जाता है, तो वह नहीं है। जिस प्रकार अपने अस्तित्वकी अपेक्षासे वह 'सत्' कही जाती है उसी प्रकार दूसरेके अस्तित्वकी अपेक्षासे वह 'असत्' कही जाती है। सारांश यह है कि हरेक वस्तु अपने स्वरूपसे ही है और पर स्वरूपसे नहीं है। जैसे घट अपने स्वरूपसे है, और पट अपने स्वरूपसे है; किन्तु न घटमें पटका स्वरूप पाया जाता है और न पटमें घटका स्वरूप पाया जाता है। अतः घट, पट स्वरूपसे नहीं है और पट घट स्वरूपसे नहीं है। इसी प्रकार संसारकी सभी वस्तुएँ अपने अपने स्वरूपसे 'सत्' हैं और अपनेके सिवा अन्य सब स्वरूपोंसे असत् हैं, इसी प्रकार आत्मा अपने क्षेत्रकी अपेक्षासे है और पर-क्षेत्रकी अपेक्षासे नहीं है। वर्तमानकालकी भी अपेक्षासे है, अतीत, अनागत कालकी अपेक्षासे नहीं है। तथा औदयिक आदि भावोंमेंसे किसी एक विवक्षित भावकी अपेक्षा है और अविवक्षित अन्य भावोंकी अपेक्षा नहीं है। सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र अपने काल और अपने भावकी अपेक्षासे ही सत् होती है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, और पर-भावकी अपेक्षासे असत् होती है। स्वद्रव्य और परद्रव्यका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। वही घट जिस क्षेत्रमें वर्तमान है, उसी क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् है, अन्य क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् नहीं है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो या तो घट व्यापक हो जायेगा या उसका बिलकुल अभाव ही हो जायगा। तथा घट जिस कालमें है उसी कालकी अपेक्षासे सत् है, अन्य कालकी अपेक्षासे असत् है। यदि ऐसा न माना जायगा तो या तो घट नित्य हो जायेगा या उसका अभाव हो जायेगा। इसी तरह घट अपने विवक्षित भावकी ही अपेक्षा है, अविवक्षित परभावकी अपेक्षा नहीं है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सम्पूर्ण व्यवस्था भंग हो जायेगी।

इस प्रकार समस्त वस्तुएँ सत् और असत् माननी चाहिए।

एवं संयोगाल्पबहुत्वाद्यैर्नैकशः स परिमृग्यः ।
जीवस्यैतत्सर्वं स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥ २०३ ॥

टीका—संयोगस्तावद्येन येन संयुक्तस्तेन तेन रूपेणात्माऽस्ति येनासंयुक्तस्तेन नास्ति। नारका नरकगतिसंयोगेनैव विद्यन्ते न देवगतिसंयोगेनेति। अल्पत्वेन बहुत्वेन चादिष्टः स्यादस्ति स्यान्नास्ति। अल्पत्वे मनुष्याः, देवा असंख्येयाः। तथाऽसंख्येयत्वेनैव तिर्यञ्चो-ऽनन्तसंख्याः। तेन तिर्यक् संख्यात्मना मनुष्यो नास्तीति मनुष्येभ्यस्तिर्यञ्चोऽनन्ताः। तेन कारणेन संख्यात्मना नास्ति मनुष्य इत्याद्यया (त्रिमा) ल्पबहुत्वादिचिन्ता कार्या। आदिग्रहणान्नामाद्यनुयोगद्वारभेदेनास्तित्वनास्तित्वे भावयितव्ये। अनेकश इत्यनेकेन भेदेन निर्देशस्वामित्वादिनापि आत्मा परिमृग्यः परीक्षणीयः। एवं च जीवस्य स्वतत्त्वं सर्वमेव लक्षणैरष्टम्। लक्ष्यते येन येनात्मा देशादिना तल्लक्षणं बहुप्रकारम्। तैर्लक्षणैरिष्टमुपलभ्यमनेक-भेदमित्यर्थः ॥ २ ३ ॥

अर्थ—इस प्रकार संयोग, अल्पबहुत्व वगैरहके द्वारा अनेक प्रकारसे आत्माका विचार करना चाहिए। यहाँ जीवका यह सब स्वरूप लक्षणोंके द्वारा उपलब्ध होता है।

भावार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी तरह संयोग, अल्पबहुत्व वगैरहकी अपेक्षासे भी आत्माका विचार करना चाहिए। यथा आत्मा जिस जिससे संयुक्त है, उसकी अपेक्षासे है और जिस जिससे संयुक्त नहीं है उसकी अपेक्षासे नहीं है। जैसे नारकी नरकगतिके संयोगकी अपेक्षासे ही हैं देवगतिके संयोगकी अपेक्षासे नहीं हैं। इसी प्रकार आत्मा अल्पत्व और बहुत्वकी अपेक्षासे भी सत् और असत् है। जैसे मनुष्य थोड़े हैं। देव उनसे असंख्यात गुने हैं और तिर्यञ्च अनन्त हैं। अतः तिर्यञ्चोंकी संख्याकी अपेक्षा मनुष्य नहीं हैं क्योंकि मनुष्योंसे तिर्यञ्च अनन्त हैं और अपनी संख्याकी अपेक्षा मनुष्य हैं। आदि शब्दसे नाम आदि [1]अनुयोगद्वारोंकी अपेक्षासे भी सत् और असत्का विचार करना चाहिए। तथा [2]निर्देश स्वामित्व वगैरहकी अपेक्षासे भी आत्माका विचार करना चाहिए। इस प्रकार विचार करनेसे आत्माके स्वरूपकी प्रतीति होती है।

उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि।
सदसद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात् ॥ २०४ ॥

टीका—उत्पत्तिरुत्पादः। विगमो विनाशः। नित्यत्वं ध्रौव्यम्। सर्वमेवोत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं सद्वस्त्वङ्गुलिवत्। यथा मूर्तत्वेनाङ्गुलिरवस्थिता ऋजुता, ऋजुत्वेन विनश्य वक्रत्वेनोत्पद्यते इति। एवं यदुत्पादादित्रययुक्तं तदस्ति सर्वम्। यन्नास्ति तदुत्पादादित्रयवदपि न भवति। खरविषाणादिवत्। अतो विकल्पद्वयमुक्तम्—स्यादस्ति, स्यान्नास्तीति। सदसद्वा भवतीति तृतीयविकल्पः स्यादस्ति च नास्ति चेति। अन्यथार्पितानर्पितविशेषादिति पश्चात्

१—नाम स्थापना द्रव्य, भाव आदिके द्वारा।

२ निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण, स्थिति तथा विधान आदिकी अपेक्षासे।

विकल्पाः सूचिताः—स्यादवक्तव्यं स्यादस्ति चावक्तव्यं च स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं चेति। तथास्ति च नास्ति चेति एकस्य घटस्य द्रव्यस्य देशो ग्रीवादि सद्भावपर्यायेणादिष्टो ग्रीवात्वेन अपरश्च देशस्तस्यैव वस्तुनोऽसद्भावपर्यायेणादिष्टो वृत्तबुध्नत्वेन परगतपर्यायेण वा तद्वस्तु अस्ति च नास्ति चेति भावना कार्या। स्यादवक्तव्यं इति सकल मेवास्वस्थितं तद्वस्तु अर्थान्तरभूतैः पटादिभिः पर्यायैर्विवक्षाप्य कुण्डलोष्ठाद्यपवृत्तग्रीवादिभिर्यु- गपदभिधित्सिते समाविष्टं नास्तीति वक्तुं न शक्यते, न चास्तीति वक्तुं पार्यते। युगपदनेक द्वयमतौ वचनविरोधातीतत्वादेवावक्तव्यमिति। अस्ति चावक्तव्यं चेति पञ्चमो विकल्पः। तस्यैव घटमेववस्तुनः एको देशः सद्भावपर्यायेणादिष्टोऽपरो देशः स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च युगपदादिष्ट स्तद्द्रव्यमस्ति चावक्तव्यं च। षष्ठो विकल्पो नास्ति चावक्तव्यं च तस्यैव घटद्रव्यस्य एकदेशः परपर्यायैरादिष्टः, अपरदेशः स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च युगपदादिष्टः, तद्द्रव्यं नास्ति चावक्तव्यं च भवति। अथ सप्तमो विकल्पः—तदेव घटादिद्रव्यमेकस्मिन् देशे स्वपर्यायैरादिष्टम्, अन्यस्मिन् देशे परपर्यायैरादिष्टम्, अपरस्मिन् देशे स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च युगपदादिष्टम्, अस्ति च नास्ति चावक्तव्यं चेति। एवमयं सप्तप्रकारो वचनविकल्पः। अत्र च सकलादेशास्त्रयः— स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं। शेषाश्चत्वारो विकलादेशाः—स्यादस्ति च नास्ति, च क्रमेण भावना, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं चेति। अतोऽन्यथा चान्यथार्पितं विशेषितमुपनीतम् अनर्पितमविशेषितमनुपनीतं चेत्येतस्मादविरोधात् सप्तविकल्पं भवतीति ॥ २०५ ॥

अर्थ—जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूपसे युक्त है, वह सब सत् है। और जो उससे विपरीत है, वह असत् है। इस प्रकार अर्पित और अनर्पितके भेदसे वस्तु सत् और असत् होती है।

भावार्थ—उत्पत्तिको उत्पाद कहते हैं। विनाशको विगम अथवा व्यय कहते हैं। और स्थिरताको ध्रौव्य कहते हैं। जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है, वह सब सत् होता है। जैसे किसीने अपनी सीधी अंगुलीको मोड़ लिया। तो सीधीसे टेढ़ी होनेपर भी अंगुली अंगुली ही रही, अतः यह ध्रौव्य है। तथा सीधापन नष्ट होकर टेढ़ापन आगया। अतः सीधेपनका नाश हो गया और टेढ़ेपनकी उत्पत्ति हो गई। इस प्रकारसे जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होता है वह सब सत् है और जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नहीं होते हैं वह असत् है। जैसे गधेके सींग। इससे ग्रन्थकारने स्यात् है और स्यात् नहीं है इन दो विकल्पोंको कहा है। 'सदसत्' से स्यात् है और स्यात् नहीं है यह तीसरा विकल्प बतलाया है। और अन्यथार्पितमनर्पितविशेष से शेष चार विकल्प सूचित किये हैं। वे चार विकल्प इस प्रकार हैं — स्यात् अवक्तव्य है', स्यात् है और अवक्तव्य है स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है, स्यात् है, स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है।

पहला और दूसरा भङ्ग ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। तीसरा भङ्ग इस प्रकार है —किसी एक घट अथवा पदार्थका गर्दन अथवा भी गर्दन अंशकी अपेक्षासे सत् है और उसीके अन्य भागों की अपेक्षासे असत् है। अर्थात् गर्दनका भाग गर्दनरूप ही है न अन्य भाग गर्दनरूप है और न

मदनका भाग अन्य भागरूप ही है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि घट घटरूपसे सत् है और पटरूपसे असत् है। अतः घट 'स्यात् है और स्यात् नहीं है' कहा जाता है। इन्हीं दोनों धर्मोंको यदि एक साथ कहनेकी विवक्षा हो तो चौथा 'स्यात् अवक्तव्य' भङ्ग होता है। जैसे यदि उसी घटको पटादि वगैरह परपर्यायोंसे और अपनी ऊँचा गोलाकार वगैरह पर्यायोंसे एक साथ कहा जाये तो न तो उसे असत् ही कहा जा सकता है और न सत् ही कहा जा सकता है। इस तरह एक साथ दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेपर वचनके अगोचर होनेसे वस्तु 'स्यात् अवक्तव्य' कही जाती है। उसी घटको जब अपनी पर्यायोंसे तथा एक साथ अपनी और परकी पर्यायोंसे विवक्षित किया जाता है तो वह घट 'स्यात् सत् और अवक्तव्य' कहा जाता है। उसी घटको जब परपर्यायोंकी अपेक्षासे और एक साथ अपनी तथा परपर्यायोंकी अपेक्षासे विवक्षित किया जाता है तो वह घट 'स्यात् असत् और अवक्तव्य' कहा जाता है। वही घट जब क्रमशः और एक साथ अपनी और परकी पर्यायोंसे विवक्षित किया जाता है, तो उसे 'स्यात् सत् और असत् और अवक्तव्य' कहा जाता है। इस प्रकार वचनके ये सात प्रकार हैं। इनमें स्यात् सत्, स्यात् असत्, और स्यात् अवक्तव्य ये तीन भङ्ग सकलादेश हैं और शेष चार भङ्ग विकलादेश हैं। वस्तुके जिस धर्मकी विवक्षा होती है, उसे अर्पित या प्रधान कहते हैं। और जिस धर्मकी विवक्षा नहीं होती उसे अनर्पित या गौण कहते हैं। इस गौणता और मुख्यताके भेदसे उक्त सात विकल्प होते हैं। इन्हें ही सप्तभङ्गी नय कहते हैं।

उत्पादादिस्वरूपमाख्यायाह—

उत्पाद वगैरहका स्वरूप कहते हैं—

योऽर्थो यस्मिन्नाभूत् साम्प्रतकाले च दृश्यते तत्र ।
तेनोत्पादस्तस्य विगमस्तु तस्माद्विपर्यासः ॥ २०५ ॥

टीका—घटार्थो मृत्पिण्डे नासीत् नाभूदित्यर्थः । स च मृत्पिण्डश्चक्रारोपणादिना परिकर्मविधिना वर्तमानकाले परिनिष्पन्न उपलभ्यते घटोऽयमुत्पन्न इति । तेनाकारेणोत्पादस्तस्य घटस्येति । विगमस्तु विनाशस्तस्मादुत्पादाद्विपर्यासो विपरीतः । पिण्डो विनष्टो नोपलभ्यते न दृश्यत इति ॥ २०५ ॥

अर्थ—जिसमें जो अर्थ नहीं था, किन्तु वर्तमानमें देखा जाता है। उसकी उस अपेक्षा उत्पत्ति होती है और विनाश उससे विपरीत है।

भावार्थ—मिट्टीके पिण्डमें घट पदार्थ नहीं था किन्तु उस मिट्टीके पिण्डको कुम्हारके चाक-पर रखकर जब घुमाया जाता है तो वह घटकी शकलमें बदल जाता है। इस प्रकार मिट्टीके पिण्डकी

१—सप्तभङ्गीका विस्तृत विवेचन इसकी भूमिका और सप्तभंगीतरंगिणी में देखिए। २—विपर्यासो मु प्रतौ नास्ति।

उस घटरूपसे उत्पत्ति होती है। इसे ही घटका उत्पाद कहते हैं। घट उत्पन्न होनेके बाद वह मिट्टीका पिण्ड फिर दिखलाई नहीं पड़ता वह नष्ट हो जाता है। यही विनाश है। जैनधर्ममें उत्पाद और विनाश तराजूके दो पलड़ोंकी ऊँचाई-निचाईकी तरह सहभावी हैं। जिस प्रकार तराजूका यदि एक पलड़ा नीचा होता है तो दूसरा पलड़ा अवश्य ही ऊँचा होता है, इसी प्रकार जिस समय मिट्टीके पिण्डका विनाश होता है उसी समय घटका उत्पाद होता है और जिस समय घटका उत्पाद होता है, उसी समय पूर्वपिण्डका विनाश होता है। जैनदर्शनमें न तो विनाश तुच्छाभावरूप है और न वस्तुकी किसी पहली पर्यायका विनाश हुए बिना दूसरी पर्यायकी उत्पत्ति होती है।

सांप्रतकाले चानागते च यो यस्य भवति सम्बन्धी।
तेनाविगमस्तस्येति स नित्यस्तेन भावेन ॥ २०६ ॥

टीका—साम्प्रतकालेऽनागते भविष्यति च काले। च शब्दादतीतकाले। यः पदार्थो मृदादिस्वरूपं न जहाति। वर्तमानघटपर्यायसम्बन्धी मृत्पिण्डादि त्रिकालविषया पिण्डकपालावस्थासु न नष्टो न विगतः, स तेन भावेन मृदादिना ध्रुवो भवति नित्यः। एवं पदस्ति तत्सर्वमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपम्। न च ध्रौव्यमन्तरेणोत्पादविनाशयोर्निर्बीजयोः संभवः। कश्चिदुत्पद्यते च वस्तु ध्रौव्यनाशयुक्तमेव। विनश्यदपि ध्रौव्योत्पादापेक्षम्। ध्रुवमुत्पादविनाशापेक्षम् विनाशापेक्षमविनाश (विना) भावित्वात् परस्परमुत्पादादीनामिति ॥ २०६ ॥

अर्थ—वस्तुका जो स्वरूप वर्तमान, अतीत और अनागत कालमें रहता है उस स्वरूपसे उस वस्तुका नष्ट न होना—यही उस स्वरूपसे नित्यता है।

भावार्थ—मिट्टी अतीत पिण्ड अवस्थाओंमें है, वर्तमान घट अवस्थामें है और आगामी कपाल अवस्थामें जाकर वर्तमान रहती है। तीनों ही अवस्थाओंमें मिट्टीका नाश नहीं होता। केवल उसकी आकृतियाँ बदल जाती हैं। अतः मिट्टी मिट्टीरूपसे नित्य है।

इस प्रकार समस्त वस्तुएँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप हैं। न कोई सर्वथा ध्रुव ही है और न कोई सर्वथा उत्पाद-व्यय रूप ही है। ध्रौव्यके बिना उत्पाद व्यय नहीं हो सकते, जैसे कि मिट्टीके बिना न पिण्ड अवस्थाका नाश हो सकता है और न घटकी उत्पत्ति हो सकती है। यदि कोई वस्तु उत्पन्न होती है तो ध्रौव्य और विनाशकी अपेक्षासे ही उत्पन्न होती है, जिस प्रकार घटका उत्पाद मिट्टीकी ध्रुवता और पिण्डके विनाशके बिना संभव नहीं है। यदि कोई वस्तु नष्ट होती है तो ध्रौव्य और उत्पादकी अपेक्षासे ही नष्ट होती है जैसे पिण्डका नाश मिट्टीकी ध्रुवता और घटके उत्पादकी अपेक्षा रखता है। जो उत्पादविनाशशील है वही ध्रुव है। सर्वथा ध्रुव कोई वस्तु नहीं है। अतः ये तीनों ही परस्परमें अविनाभावी हैं।

१—अतीतकालस्य पश्च—फ ब। २—पंचास्तिकाय और पंचाध्यायीमें उत्पाद-विनाशका विस्तृत लक्षण देखें।

अजीवानभिधित्सुराह—

अजीव द्रव्योंका वर्णन करते हैं:—

धर्माधर्माकाशानि पुद्गला काल एव चाजीवा ।
पुद्गलवर्जमरूप तु रूपिण पुद्गला प्रोक्ता ॥ २०७ ॥

टीका—धर्मद्रव्यम् अधर्मद्रव्यम् आकाशद्रव्यम् पुद्गलद्रव्यम् कालद्रव्यमिति पञ्चाजीवद्रव्याणि। तत्र तेषु पञ्चसु पुद्गलद्रव्यं रूपरसगन्धस्पर्शवत्। शेषं द्रव्यचतुष्टयम-रूपं रूपादिपरिवर्जितमित्यर्थः। रूपिण इत्यत्र गन्धरसस्पर्शाः सर्वदा रूपाविनाभाविन इति परमाणावपि सम्भवन्तीति दर्शितं भवति ॥ २०७ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य कालद्रव्य और पुद्गलद्रव्य—ये पाँच अजीव द्रव्य हैं। पुद्गलके सिवाय शेष चारों द्रव्य अरूपी हैं और पुद्गलद्रव्य रूपी कहे गये हैं।

भावार्थ—अजीव द्रव्य पाँच हैं। उनमें से केवल एक पुद्गलद्रव्य रूपी है। उसमें रूप, रस गन्ध और स्पर्श—ये चारों गुण पाये जाते हैं। ये चारों गुण परस्परमें अविनाभावी हैं। इसलिए रूपी होनेसे उन चारोंका ग्रहण होता है। अतः जितने भी परमाणु हैं, उन सबमें चारों ही गुण पाये जाते हैं। इसलिए वे रूपी कहे जाते हैं। परन्तु शेष द्रव्योंमें रूपादि गुण नहीं पाये जाते, इसलिए वे अरूपी अथवा अमूर्तिक कहलाते हैं।

स्कन्धास्तु—

पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धमें कुछ और भी कहते हैं —

द्व्यादिप्रदेशवन्तो यावदनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः ।
परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीय ॥ २०८ ॥

टीका—द्व्यादिप्रदेशभाजः स्कन्धाः संघाताः एकत्वपरिणतमूर्तयः। द्व्योरण्वोस्तथान्यो वेत्यादिभिरारब्धाः यावदनन्तप्रदेशाः सर्वे स्कन्धाः। परमाणुस्तु न स्कन्धशब्दाभिधेयोऽप्रदेशत्वात्। न हि तस्य द्रव्यप्रदेशाः सन्त्यन्ये। स्वयमेवासौ प्रदेशः। प्रकृष्टो देशोऽवयवः प्रदेशः। न ततः परमन्यः सूक्ष्मतमोऽस्ति पुद्गलः। द्रव्यप्रदेशो वर्णरसगन्धस्पर्शगुणेषु भजनीयः सेवनीयः। प्रदेशत्वेन सन्निहितस्य वर्णादयोऽवयवास्तैरवयवैः सप्रदेशा यथासौ द्रव्यावयवैरप्रदेशा इति। यथोक्तं शास्त्रे— कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥ इति।

१-प्रदेशिक : रू० च ।

अर्थ—दो आदि प्रदेशोंसे लेकर अनन्तप्रदेशी तक स्कन्ध होते हैं। परमाणुके प्रदेश नहीं होते। रूप वगैरह गुणोंकी अपेक्षासे परमाणुका विभाग कर लेना चाहिए।

भावार्थ—दो आदि प्रदेशवाले पुद्गलोंको स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध नाम संघातका है। अनेक परमाणुओंके संघात अर्थात् सम्बन्ध विशेषको स्कन्ध कहते हैं। जिस प्रकार दो परमाणुओंके मेलसे द्व्यणुक नामका स्कन्ध और तीन परमाणुओंके मेलसे त्र्यणुक नामका स्कन्ध होता है, इसी तरह अनन्त परमाणुओंके मेलसे अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अतः परमाणुके सिवाय शेष जितने पुद्गल-द्रव्य हैं, जिनमें एकसे अधिक परमाणु पाये जाते हैं, वे सब स्कन्ध कहलाते हैं। केवल परमाणु स्कन्ध नहीं कहा जाता; क्योंकि वह अप्रदेशी है। अविभाज्य एक द्रव्य होनेसे उसके अन्य प्रदेश नहीं होते। वह स्वयं एकप्रदेश है। पुद्गलके सबसे छोटे अवयवको प्रदेश कहते हैं। परमाणुसे सूक्ष्म कोई दूसरा पुद्गल नहीं होता। अतः परमाणु बहुप्रदेशी न होनेके कारण अप्रदेशी है। पर अप्रदेशी परमाणुमें भी रूप, रस गन्ध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं। इसलिए गुणोंकी अपेक्षासे भी परमाणु सप्रदेशी ही है केवल द्रव्यरूप अवयवोंके न होनेके कारण ही वह अप्रदेशी है। शास्त्रमें कहा है—

'वह परमाणु कारण है; क्योंकि उसीसे समस्त स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। वह अन्त्य और सूक्ष्म है क्योंकि उससे भी छोटा द्रव्य नहीं होता। वह नित्य है, क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता तथा उसमें एक रस, एक गन्ध, एक रूप और दो स्पर्श (स्निग्ध रूक्षमेंसे कोई एक और शीत-उष्णमेंसे कोई एक) होते हैं तथा उसके कार्योंसे ही उसे जाना जाता है; क्योंकि सूक्ष्म होनेके कारण वह स्वयं दिखलाई नहीं देता'।

कस्मिन् पुनर्भावे औदयिकादौ धर्मादीन्यजीवद्रव्याणि वर्तन्त इत्याह—

औदयिक आदि भावोंमें धर्म आदि अजीव द्रव्योंके कौनसा भाव होता है, यह बतलाते हैं—

भावे धर्माधर्माम्बरकालाः पारिणामिके ज्ञेयाः ।
उदयपरिणामिरूपं तु सर्वभावानुगा जीवाः ॥२०९॥

टीका—अनादिपारिणामिकभावे धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चत्वारि वर्तन्ते जीव भव्यत्वादिवत्। यथा चानादिः संसारस्तथा धर्मादिद्रव्यपरिणामोऽपीति। न कदाचिद्धर्मादिद्रव्य-रहित अलोकोऽलोकः। पुद्गलद्रव्ये पुनरौदयिके भावे भवति पारिणामिके च। परमाणुः परमाणुरिति अनादिपारिणामिको भावः। आदिमत्पारिणामिकस्तु द्व्यणुकादिरनन्ताणुपर्यन्तः। वर्णरसादि-पारिणामिकस्तु परमाणूनां स्कन्धानां चौदयिको भावः द्व्यणुकादिसंहतिपरिणामश्चेति॥२०९॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यके पारिणामिकभाव जानना चाहिए। पुद्गल-द्रव्यके औदयिक और पारिणामिकभाव होते हैं। तथा जीवोंके तो सभी भाव होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार जीवके भव्यत्व वगैरह भाव पारिणामिक होते हैं, उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंके भी पारिणामिकभाव ही होता है; क्योंकि जैसे संसार अनादि है,

वैसे ही धर्मादि द्रव्य भी अनादि हैं। लोक कभी भी धर्मादि द्रव्योंसे रहित नहीं था। पुद्गलद्रव्यके औदयिक और पारिणामिकभाव होते हैं। पुद्गलका परमाणुरूप परिणाम तो अनादि है और द्व्यणुक त्र्यणुक, स्कन्ध वगैरह परिणाम सादि है। परमाणुओं और स्कन्धोंमें जो रूप-रस वगैरह परिणाम पाये जाते हैं तथा परमाणुओंके मिलनेसे जो द्व्यणुक वगैरह परिणाम बनते हैं, वे औदयिक हैं। सारांश यह है कि अनादि परिणामको पारिणामिकभावमें और सादि परिणामको औदयिकभावमें समझना चाहिए। रूप, रसादि परिणाम यद्यपि अनादि हैं, परन्तु उनमें जो हानि-वृद्धि होती रहती है। वह सादि है।

जीवाः पुनः सर्वभावेषु औपशमिकादिषु वर्तन्त इति पूर्वमेवभाषितम्। अथ कोऽयं लोक इत्याशङ्क्यते, किं द्रव्यान्तरमुताऽन्यत् किंचिदित्याह—

अब यह बतलाते हैं कि यह लोक क्या वस्तु है? क्या यह भी कोई द्रव्य है या और और कुछ है?—

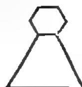
जीवके औपशमिक वगैरह पाँचों ही भाव होते हैं यह पहले बतला चुके हैं।

जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।
वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः ॥ २१० ॥

टीका— जीवा अजीवा धर्माधर्माकाशपुद्गलाः कालश्च षड् द्रव्याणि। लोकपुरुषः पुरुष इव लोकपुरुषः प्रतिविशिष्टसंस्थानत्वात्। अथ जीवाजीवानां द्रव्याणामाधारभूतं यत्क्षेत्रं तल्लोकशब्दाभिधेयं लोकपुरुष इत्युक्तम्। तत्र निदर्शनमाह—वैशाखस्थान इति। वैशाखं धानुष्कस्य स्थानकम्। ऊर्ध्वमवस्थितः पुरुषो विक्षिप्तजङ्घाद्वयः[1] कट्यां व्यवस्थापिताकुञ्चितहस्तद्वयो यथा तद्वल्लोकपुरुष इति ॥ २१० ॥

अर्थ—इस प्रकार जीव और अजीवके भेदसे छह द्रव्य होते हैं। यही लोक-पुरुष है। दोनों हाथोंको कमरके दोनों ओर कूल्होंपर रखकर, पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुषके समान उसका आकार है।

भावार्थ—छहों द्रव्योंके समूहको लोक कहते हैं। अर्थात् जितने क्षेत्रमें छहों द्रव्य रहते हैं उतने क्षेत्रको लोक कहते हैं। यह लोक-पुरुषके आकार है। अतः उसे यहाँ लोक-पुरुषके नामसे कहा है। दोनों पैरोंको फैलाकर और दोनों हाथोंको कमरके दोनों बाजुओंपर रखकर खड़े हुए मनुष्यके समान लोकका आकार जानना चाहिए। यथा—



१–व्यवस्थितस्य।

तदेव संस्थानस्वरूपं दर्शयति—

उसीको स्पष्ट करते हैं—

तत्राधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम् ।
स्थालमिव तिर्यग्लोकमूर्ध्वमथ मल्लकसमुद्गम् ॥ २११॥

टीका—तत्र तस्मिन् लोके अधोलोकविभागः अधोमुखमल्लकाकारः उपरि संक्षिप्तः अधो विशालः सर्वमानकमधोमुखं भवति। स्थालसंस्थानाकारं तिर्यग्लोकं वर्णयन्ति। तिर्यग्लोकादूर्ध्वं मल्लकसंपुटाकारमूर्ध्वलोकं वर्णयन्ति। मल्लकसमुद्गश्च एकं शरावमानकमूर्ध्वमुखमपरं शरावमधोमुखं तस्योपरीति। एतत् प्रतिपादयति आर्ये। लोकोऽधः सप्तरज्जुप्रमाणो विस्तरेण। तिर्यग्लोको रज्जुप्रमाणः। शरावसंपुटमध्ये पञ्चरज्जुप्रमाण उपर्येकरज्जुप्रमाण इति ॥ २११ ॥

अर्थ—उस लोकमें अधोलोकको नीचे मुख किये हुए सकोरेके आकार बतलाते हैं, मध्यलोकको थालीके आकार बतलाते हैं और ऊर्ध्वलोक नीचे-ऊपर रक्खे हुए दो सकोरोंके आकार बतलाते हैं।

भावार्थ—लोकके तीन भाग हैं—अधोलोक तिर्यग्लोक या मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोकका आकार नीचा मुख करके रक्खे हुए सकोरेके जैसा है। सकोरेको उलटकर रख देनेसे उसके नीचेका भाग चौड़ा और ऊपरका भाग सकड़ा होता है। वैसे ही अधोलोकका नीचेका विस्तार सात राजू है और ऊपरका विस्तार एक राजू है। तिर्यग्लोक थालीके आकार गोल है। उसका विस्तार एक राजू है। तिर्यग्लोकके ऊपर दो सकोरोंके आकारका ऊर्ध्वलोक है। अर्थात् एक सकोरेको ऊपरकी ओर मुँह करके रखो और दूसरेको उसके ऊपर नीचेको मुख करके रखो, तो उनके आकारके समान ऊर्ध्वलोकका आकार जानना चाहिए। उसके मध्यका विस्तार पाँच राजू है और ऊपरका विस्तार एक राजू है।

एवमधस्तिर्यगूर्ध्वं च विभक्ते लोके को विभागः कतिविध इति दर्शयति—

इस प्रकार लोकके तीन विभाग बतलाकर अब प्रत्येक विभागके भेद बतलाते हैं—

सप्तविधोऽधोलोकस्तिर्यग्लोको भवत्यनेकविधः ।
पञ्चदशविधानं पुनरूर्ध्वलोकं समासेन ॥ २१२ ॥

टीका—समासेनेति संक्षेपेण। रत्नप्रभादिभेदेन महातमःप्रभान्तेन सप्तधाऽधोलोकः। तिर्यग्लोकोऽनेकप्रकारो जम्बूद्वीपादिभेदेन लवणसमुद्रादिभेदेन च। असंख्येया द्वीपसमुद्रा इति। ज्योतिष्कभेदा अपि तिर्यग्लोक एव। ऊर्ध्वलोकश्च पञ्चदशभेदः। दश कल्पाः सौधर्मादयः आनतप्राणतयोरेककल्पः, एकेन्द्रस्वामित्वात्। आरणाच्युतौ च। एवं दश कल्पाः।

१—कायश्च । २— पञ्चदशविभाग इत्यारभ्य सप्तधाऽधोलोकः इति पर्यन्तः पा० ब प्रतौ नास्ति।

ग्रैवेयकाणि त्रीणि अधोमध्यमोपरितनभेदेन। पञ्च महाविमानानि चतुर्दशो भेदः। ईषत्प्राग्भारायाः पञ्चदशो भेद इति ॥ २१२ ॥

अर्थ—अधोलोकके सात भेद हैं, तिर्यग्लोकके अनेक भेद हैं और ऊर्ध्वलोकके संक्षेपसे पन्द्रह भेद हैं।

भावार्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा पृथिवीके भेदसे अधोलोकके सात विभाग हैं। तिर्यग्लोकमें जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रको आदि लेकर असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। अतः तिर्यग्लोकके भी अनेक विभाग हैं। तथा ज्योतिष्क आदिके देव भी तिर्यग्लोकमें ही निवास करते हैं। ऊर्ध्वलोकके पन्द्रह भेद हैं। सौधर्म वगैरह बारह स्वर्गोंमेंसे आनत और प्राणत तथा आरण और अच्युत स्वर्गोंमें एक एक इन्द्र होनेके कारण दस भेद होते हैं। स्वर्गोंसे ऊपर भी ग्रैवेयक हैं। उनके तीन भेद हैं—अधोग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरितन ग्रैवेयक। पाँच अनुत्तर विमानोंका एक भेद है और ईषत्प्राग्भार जिसे सिद्धशिला भी कहते हैं, उसका एक भेद है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकके १०+३+१+१=१५ भेद होते हैं।

अथाकाशं किं लोकमात्रमेवाहोस्वित् सर्वमित्याह—

अब क्या आकाश लोकप्रमाण ही है या सर्वत्र व्याप्त है? यह बतलाते हैं—

लोकालोकव्यापकमाकाशं मर्त्यलौकिकः कालः ।
लोकव्यापि चतुष्टयमवशेषं त्वेकजीवो वा ॥ २१३ ॥

टीका—व्यापकमिति लोकालोकस्वरूपमुच्यते लोकस्वरूपमलोकस्वरूपं च। जीवाजीवाधारक्षेत्रं लोकस्ततः परमलोक इति। यत्राकाशे जीवाजीवादिपदार्थसद्भावस्तल्लोकाकाशम्, यत्राभावो जीवादीनां तदलोकाकाशमिति जीवाद्याधारकृतो भेदोऽन्यथा एकमेवाकाशम्। मर्त्यलौकिकः कालः। मर्त्यलोके मनुष्यलोके—अर्धतृतीया द्वीपाः समुद्रद्वयं च मानुषोत्तरमहीधरेण परिक्षिप्तः। तावत्येव क्षेत्रे वर्तमानादिलक्षणः कालो न परतः। लोकव्यापिचतुष्टयमवशेषं धर्माधर्मजीवपुद्गलाख्यम्। सकललोकाकाशे धर्माधर्मौ। सूक्ष्मशरीराश्च जन्तवः सर्वलोक एव। पुद्गलाश्च परमाणुप्रभृतयः सकललोक इति। एकोऽपि वा जीवः सकललोकाकाशव्यापी केवलिसमुद्घातकाल एव भवतीति ॥ २१३ ॥

अर्थ—आकाश लोक और अलोकमें व्यापक है। कालका व्यवहार मनुष्यलोकमें ही होता है। बाकीके चार द्रव्य लोकव्यापी हैं। एक जीव भी लोकव्यापी होता है।

१—अधिकं पदमिदं क पुस्तके। २—हरिभद्रसूरिकी टीकामें १२ स्वर्गोंके ११ भेद, नवग्रैवेयकका एक भेद, पाँच अनुत्तरोंका एक भेद और सिद्धशिलाका एक भेद इस प्रकार पन्द्रह भेद गिनाये हैं।

भावार्थ—आकाशद्रव्य लोकस्वरूप भी है और अलोकस्वरूप भी है। जीवों और अजीवोंके आधारभूत क्षेत्रको लोक कहते हैं। उससे परे अलोक है। जितने आकाशमें जीव और अजीव वगैरह पाँचों द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं और जहाँ जीव आदिका बिलकुल अभाव है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। इस प्रकार जीवादिक द्रव्योंके रहने और न रहनेसे आकाशके दो विभाग हो गये हैं। अन्यथा आकाश एक और अखण्ड ही है। मानुषोत्तर पर्वतसे घिरे हुए अढाई द्वीप और दो समुद्रोंको मनुष्यलोक कहते हैं। उतने ही क्षेत्रमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप कालका व्यवहार होता है। क्योंकि व्यवहारकाल ज्योतिष्कदेवोंके भ्रमणसे होता है और उनका भ्रमण केवल मनुष्य-लोकमें ही होता है। बाकीके धर्म, अधर्म जीव और पुद्गलद्रव्य लोकव्यापी हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं; सूक्ष्म शरीरवाले जीव भी समस्त लोकमें पाये जाते हैं। परमाणु वगैरह पुद्गलद्रव्य भी सम्पूर्ण लोकमें रहते हैं। एक जीव भी केवलिसमुद्घातके समय सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हो जाता है।

किमेकं द्रव्यं किं चानेकद्रव्यमित्याह—

अब इन द्रव्योंमें कौन कौन द्रव्य एक हैं? और कौन अनेक हैं? यह बतलाते हैं—

धर्माधर्माकाशान्येकैकमतः परं त्रिकमनन्तम्।
कालं विनास्तिकाया जीवमृते चाप्यकर्तृणि ॥ २१४ ॥

टीका—धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यमाकाशद्रव्यं च त्रीण्यप्येतद्द्रव्याणि एकमेकं द्रव्यं धर्मा-धर्मास्तिकायावपि तथैव व्योमद्रव्यं तु लोकालोकस्वरूपमेकमेवेति प्रतिपत्तव्यम्। जीवद्रव्यमनन्त-संख्यम्। तथा पुद्गलद्रव्यं कालद्रव्यमप्यनन्तसमयमतीतानागतादिभेदेनेति। अथायमस्ति-कायसमुदायः किं सर्वद्रव्यविषयः? नेत्याह—कालाद्विनाऽस्तिकायाः। कालस्तु नास्तिकायः। न प्रचयोऽस्ति समयानाम्। वर्तमानस्त्वेक एव समयः स नास्तिकायः। अन्येषां प्रचयोऽस्ति। असंख्येयप्रदेशो जीवः। तथा धर्माधर्मावपि। व्योमानन्तप्रदेशं पुद्गलद्रव्यं च। जीवादृते द्रव्याणि धर्मादीनि अकर्तृत्वपर्यायमुपयान्ति। जीवस्तु कर्ता शुभाशुभानां कर्मणामिति ॥ २१४ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक एक हैं। बाकीके तीन द्रव्य अनन्त हैं। कालके बिना शेष द्रव्य अस्तिकाय हैं और जीवके बिना शेष द्रव्य अस्तिकाय हैं और जीवके बिना शेष द्रव्य अकर्ता हैं।

भावार्थ—धर्मद्रव्य एक है अधर्म द्रव्य एक है और लोक तथा अलोकरूप आकाश द्रव्य भी एक ही है जीवद्रव्य अनन्त है। पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं तथा कालद्रव्य भी अतीत, अनागत वगैरह [illegible] भेदसे अनन्त समयवाला है। इन छहों द्रव्योंमेंसे कालके बिना शेष पाँचों द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते है। कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है। क्योंकि उसके समयोंका प्रचय नहीं होता। वर्तमानकालका प्रमाण एकसमय है। अतः वह अस्तिकाय नहीं है। किन्तु शेष द्रव्योंके प्रदेशोंका प्रचय होता है क्योंकि वे बहुप्रदेशी हैं। जीव धर्म और अधर्मद्रव्य असंख्यातप्रदेशी है। आकाश

अनन्तप्रदेशी है और पुद्गल भी अनन्तप्रदेशी होता है। अतः ये पाँचों अस्तिकाय कहे जाते हैं। जीवके सिवाय शेष धर्मादि द्रव्य कर्तृत्वपर्यायसे रहित हैं। क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मोंका कर्ता केवल जीवद्रव्य ही होता है।

धर्मादीनि द्रव्याणि कार्यमिति निर्दिशन्नाह—

द्रव्योंका कार्य बतलाते हैं—

धर्मो गतिस्थितिमतां द्रव्याणां गत्युपग्रहविधाता।
स्थित्युपकृच्चाधर्मोऽवकाशदानोपकृद्गगनम् ॥ २१५ ॥

टीका—धर्मद्रव्यं गतिमतां द्रव्याणां स्वयमेव गतिपरिणतानामुपग्रहे वर्तते जीवपुद्गलानाम् न पुनरगच्छज्जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यं वा बलाद्गमयति धर्मः। किन्तु स्वयमेव गतिपरिणतमुपगृह्णाति धर्मद्रव्येण। मत्स्यस्य गच्छतो जलद्रव्यमिवोपग्राहकम्। यथा वा व्योमद्रव्यं स्वयमेव द्रव्यस्यावगाहमानस्य कारणं भवति, न पुनरनवगाहमानं बलादवगाहं कारयति। यथा च कृषीवलानां कृष्यारम्भे स्वयमेव कर्षणप्रवृत्तानामपेक्षाकारणं वर्षं भवति, न च तानकुर्वतः कृषीवलान् बलात् कृषिं कारयति तथा। यथा वा गर्जितध्वनिश्रवणमात्रात् बलाकानां गर्भाधानं प्रसवो भवति, न च तामप्रसवन्तीं बलाद्गर्जितशब्दः प्रसावयति। यथा वा पुरुषः प्रतिबोधनिमित्तं पापाद्विरमति न चाविरमन्तं पुमांसं बलात्प्रतिबोधो विरमयतीति। एवं गतिपरिणामभाजां पुद्गलजीवानामपेक्षाकारणं धर्मद्रव्यम्। तथा स्थितिमतां द्रव्याणां स्थितेरपेक्षाकारणम् अधर्मद्रव्यं स्वयमेव तिष्ठताम् न चातिष्ठद्द्रव्यं बलादधर्मः स्थापयति। एवं स्थितिमतां द्रव्याणां स्थित्युपकारी भवत्यधर्मः। गगनं तु जीवपुद्गलानामवगाहमानानामवकाशदानेन व्याप्रियते ॥२१५॥

अर्थ—धर्मद्रव्य चलते हुए द्रव्योंके चलनेमें सहायता करता है। अधर्मद्रव्य ठहरे हुए द्रव्योंके ठहरनेमें सहायक है और आकाशद्रव्य सभी द्रव्योंको अवकाश देता है।

भावार्थ—धर्मद्रव्य स्वयं ही चलते हुए जीव और पुद्गलोंको चलनेमें सहायता करता है। किन्तु न चलते हुए जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यको जबर्दस्ती नहीं चलाता है। जिस प्रकार जल मछलीके चलनेमें सहायक है, जिस प्रकार आकाशद्रव्य स्वयं ही अवकाशके इच्छुक द्रव्यको अवकाश-दान करता है—बलपूर्वक किसीको अवकाश नहीं करता, जिस प्रकार स्वयं ही खेतीमें लगे हुए किसानोंको वर्षा सहायक होती है—किन्तु खेती न करनेवाले किसानोंको बलपूर्वक खेतीमें नहीं लगाती है, जिस प्रकार मेघकी गर्जनाको सुनकर मादा बगुलाओंके गर्भाधान अथवा प्रसव होता है—किन्तु यदि बगुला स्वयं ही प्रसव न करे तो मेघकी गर्जना उसे बलपूर्वक प्रसव नहीं कराती अथवा जिस प्रकार धर्मोपदेशके निमित्तसे मनुष्य पापका त्याग कर देता है—किन्तु यदि पुरुष पापसे विरक्त न हो तो

१—" [illegible] गब्भं मेहेहिं आबीत्ति भणंति [illegible] जया।
[illegible] एव बहुरेव [illegible] न ॥ २५ ॥ —[illegible]।

धर्मोपदेश उसे बलपूर्वक त्याग नहीं कराता। उसी प्रकार चलते हुए जीव और पुद्गलोंको धर्मद्रव्य चलनेमें सहायता करता है। तथा स्वयं ही ठहरे हुए द्रव्योंको अधर्मद्रव्य ठहरनेमें सहायता करता है। किन्तु ठहरे हुए द्रव्यको बलपूर्वक नहीं ठहराता है। आकाशद्रव्य अवगाहके इच्छुक जीव और पुद्गलोंको अवकाश–दान करता है। सारांश यह है कि तीनों ही द्रव्य अपने अपने कार्योंके प्रति उदासीन कारण हैं; प्रेरक कारण नहीं हैं।

पुद्गलद्रव्यं[1] कस्योपकारे विधत्त इत्याह—

पुद्गलद्रव्यका उपकार कहते हैं।—

> स्पर्शरसगन्धवर्णाः शब्दो बन्धश्च सूक्ष्मता स्थौल्यम् ।
> संस्थानं भेदतमश्छायोद्योतातपश्चेति ॥ २१६ ॥
> कर्मशरीरमनोवाग्विचेष्टितोच्छ्वासदुःखसुखदाः स्युः ।
> जीवितमरणोपग्रहकराश्च संसारिणः स्कन्धाः ॥ २१७ ॥

टीका—स्पर्शादयः पुद्गलद्रव्यस्योपकाराः। तथा शब्दपरिणामः पुद्गलानामेवोपकारः। बन्धनं बन्धः कर्मपुद्गलानामात्मप्रदेशानां च क्षीरोदकवत् एकक्षेत्रावगाहः पुद्गलद्रव्यस्योपकारः। सूक्ष्मतापरिणामः पुद्गलानामुपकारोऽनन्तप्रदेशानां स्कन्धानाम्। तथा स्थौल्यपरिणामोऽनन्त-प्रदेशानाम्। संस्थानं चतुरस्रादि पुद्गलोपकारः। भेदः खण्डरूपः सोऽपि पुद्गलपरिणामः। तमोऽन्धकारः परिणामः पुद्गलद्रव्याणामेवोपकारः। छायापि पुद्गलपरिणामः। उद्योतश्चन्द्रतारका-दीनां पुद्गलपरिणामः। आतपो दिनकरादीनां पुद्गलपरिणामः॥ २१६॥

कर्म ज्ञानावरणादि पुद्गलोपकारः। शरीरमौदारिकादि पुद्गलपरिणामः। मनोवचसी च पुद्गलपरिणामः। विचेष्टितं क्रिया पुद्गलपरिणामः। उच्छ्वासः प्राणापानौ पुद्गलपरिणामः। दुःखं सुखं चेति पुद्गलनिमित्तमेव। जीवितोपग्रहकराः क्षीरघृतादिपुद्गलाः मरणोपग्रहकरा विषगरादि-पुद्गलाः सर्वेऽप्येते पुद्गलानामुपकाराः। संसारिजीवविषया स्कन्धरूपेणपरिणतानां न परमाणु-रूपेणेति ॥ २१७ ॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता आकार, खण्ड अन्धकार, छाया, चन्द्रमा आदिका प्रकाश तथा घाम संसारीजीवोंके ज्ञानावरणादि कर्म, शरीर, मन वचन क्रिया, श्वास उच्छ्वास सुख और दुःख तथा जीवन और मरणमें सहायक स्कन्ध—यह सब पुद्गलका उपकार है।

1– पुद्गलद्रव्यम् इत्यादय अयोपोद्घातवाक्येऽपि इति सम्पूर्णपाठिकावाक्यस्य पाठो न पुस्तके नास्ति।

भावार्थ—आठ प्रकारका स्पर्श, पाँच प्रकारका रस, दो प्रकारकी गन्ध और पाँच प्रकारका रूप—ये सब पुद्गलके गुण होनेसे पुद्गलका ही उपकार समझना चाहिए। शब्द भी पुद्गलकी ही पर्याय है। परमाणुका परमाणुके साथ अथवा कर्मपुद्गलोंका आत्माके प्रदेशोंके साथ जो दूध-पानीकी तरह बन्ध होता है, वह भी पुद्गलका ही उपकार है। अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्धोंका भी सूक्ष्म होना, और बादल, इन्द्रधनुष आदिका स्थूल होना भी पुद्गलका ही उपकार है। तिकोन वगैरह आकार, मेघ आदिके टुकड़े, अन्धकार, छाया, चाँदनीका प्रकाश, सूर्यका प्रकाश—ये सब पुद्गलके ही कार्य हैं। तथा जिन स्कन्धोंसे संसारी जीवोंके कर्म, शरीर, मन, वचन, श्वास, उच्छ्वास वगैरह बनते हैं, जिनके सेवनसे उन्हें सुख और दुःखका अनुभव होता है और जो उनके जीवनमें सहायक हैं—जैसे दूध, घी आदि और जो उनकी मृत्युमें कारण हैं, जैसे विष वगैरह—ये सब पुद्गलके ही कार्य जानना चाहिए।

कालकृतोपकारदर्शनायाह—

काल और जीव द्रव्यका उपकार बतलाते हैं:—

परिणामवर्तनाविधिः परापरत्वगुणलक्षणः कालः।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यशिक्षागुणा जीवाः ॥ २१८ ॥

टीका—परिणामस्तावद्वर्धतेऽङ्कुरो दीयते वाऽपक्षीयते विनश्यतीत्यादिकः कालजनित उपकारः। वर्तनेति—वर्तते इदं कालापेक्षमेवमभिधानं प्रयुज्यते विद्वद्भिः। वर्तनाया विधिः प्रकार उक्तन्यायेन। परत्वमपरत्वं च कालकृतम्। पञ्चाशद्वर्षात्पञ्चविंशतिवर्षोऽपरः पञ्चविंशतिवर्षात्पञ्चाशद्वर्षः परः। एवं परिणामादिगुणलक्षणः कालः परिणामादिभिरुपकारैरवसीयत इत्यर्थः। अथ जीवाः केनोपकारेणोपकुर्वते ? सम्यक्त्वमुत्पादनेन। तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वमुत्पादयन्ति। ज्ञानं श्रुताद्यधिगमयन्ति। चारित्रं क्रियानुष्ठानमुपदिशन्ति। वीर्यं शक्तिविशेषं दर्शयन्ति। शिक्षां लिप्यक्षरादिकविज्ञानं जनयन्ति। एते जीवक्रिया (कृता) उपकाराः ॥२१८॥

अर्थ—परिणाम, वर्तना, परत्व और अपरत्व गुण कालद्रव्यके हैं। और सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और शिक्षा जीव द्रव्यके गुण हैं।

भावार्थ—अंकुरका फूटना, उसका बढ़ना अथवा घटना, इत्यादि परिणाम काल द्रव्यका उपकार है। 'अमुक वस्तु है' इत्यादि व्यवहारको वर्तना कहते हैं। यह वर्तना भी कालका ही उपकार है; क्योंकि कालके निमित्तसे ही—'है' आदि व्यवहार होता है। पचास वर्षके आदमीकी अपेक्षासे पचीस वर्षका युवक ऊपर—छोटा कहलाता है। और पचीस वर्षके युवककी अपेक्षासे पचास वर्षका आदमी पर—बड़ा कहलाता है। यह छोटा—बड़ा व्यवहार भी काल द्रव्यका ही कार्य है। इन

१—" [illegible] पोग्गलस्स [illegible] ॥ "
—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार २१८

२—वर्षोऽपरः मु. ।

गुणों–कार्योंसे काल द्रव्यको जाना जाता है। तथा सम्यक्त्व वगैरह जीवके गुण हैं; क्योंकि जीव तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, शास्त्रोंको पढ़ते, चारित्रका पालन तथा उपदेश करते हैं, भक्तिका प्रदर्शन करते हैं, लिपि अक्षर वगैरहका ज्ञान कराते हैं। ये सब जीवके गुण–उपकार जानने चाहिए।

एवं जीवाजीवानभिधाय प्रपञ्चेन पुण्यापुण्यपदार्थद्वयमभिधित्सुराह—

इस प्रकार जीव और अजीव पदार्थको कह कर विस्तारसे पुण्य और पाप पदार्थको कहते हैं—

पुद्गलकर्म[1] शुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।
यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥ २१९ ॥

टीका—द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः शुभाः पुण्याभिधानाः। द्व्यशीतिरप्रशस्तप्रकृतीनां पापाभिधाना एवमाहुः सर्वज्ञा इति आगमप्रमाणक पदार्थोऽयमिति प्रतिपादयति ॥ २१९ ॥

अर्थ—जो पुद्गल कर्म शुभ है वह पुण्य है, ऐसा जिनशासनमें देखा गया है। तथा जो अशुभ है, वह पाप है ऐसा सर्वज्ञ भगवान्‌ने कहा है।

भावार्थ—सर्वज्ञदेव कर्मोंकी ४२ शुभ प्रकृतियोंको पुण्य और ८२ अशुभ प्रकृतियोंको पाप कहते हैं। सर्वज्ञका निर्देश करनेसे ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि पुण्य-पाप पदार्थ आगमका विषय है। और जिनशासनमें उसका विस्तारसे वर्णन पाया जाता है।

आस्रवसंवरौ निरूपयति[3]—

आस्रव और संवरका निरूपण करते हैं—

योगः शुद्धः[2] पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः।
वाक्कायमनोगुप्तिर्निरास्रवः संवरस्तूक्तः ॥ २२० ॥

टीका—योगः मनोवाक्कायव्यापारः स शास्त्रागमपूर्वको व्यापारः स्वेच्छाकृतस्तु पापस्यास्रवो भवति। सर्वेषामेवास्रवाणां निरोधो गुप्तिसमितिपुरःसरो नियमितमनोवाक्कायक्रियस्य संवरो भवति स्थगितास्रवद्वारस्येत्यर्थः ॥ २२ ॥

अर्थ—शुभ योगसे पुण्य कर्मका आस्रव होता है और अशुभ योगसे पाप कर्मका आस्रव होता है। वचन गुप्ति कायगुप्ति और मनोगुप्तिपूर्वक आस्रवके रुकनेको संवर कहते हैं। इसका निरूपण पहले किया जा चुका है।

१–शुभं कर्मेदं च पुस्तके। २–शुद्धश्च पुण्यास्रव च पुस्तके। ३–आस्रवं एवं आस्रवसंवरौ निरूपयति इत्याकारकः पाठ उपलभ्यते च पुस्तके।

भावार्थ—आगममें विहित विधिके अनुसार जो मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति होती है उससे पुण्य कर्मका आस्रव होता है। और स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति करनेसे पाप कर्मका आस्रव होता है। गुप्ति समितिका पालन करते हुए सर्व मन वचन और कायकी क्रियाको नियमित करनेसे जो समस्त आस्रवोंका निरोध होता है, उसे संवर कहते हैं।

निर्जराबन्धमोक्षप्रतिपादनायाह—

निर्जरा बन्ध और मोक्षको कहते हैं—

संवृततपउपधानं तु निर्जरा कर्मसन्ततिर्बन्धः ।
बन्धवियोगो मोक्षस्त्विति संक्षेपान्नव पदार्थाः ॥ २२१ ॥

टीका—एवं संवृतात्मन आस्रवस्य तपसि यथाशक्ति वर्तमानस्यापूर्वकर्मप्रवेशनिरोधे सति पूर्वार्जितकर्मणस्तपसा क्षयः । निर्जरा निर्जरणम् । उपधानमित्युपधानं शिरोधरणाय सुखहेतुर्यथा तथा तपोऽपि जीवस्य सुखहेतुत्वादुपधानमुच्यते । कर्मसन्ततिर्बन्धः । कर्मणां ज्ञानावरणादीनां सन्ततिरविच्छेदो बन्धः कर्मत एव कर्मोपादानमात्मन इत्यर्थः । कार्त्स्न्येन बन्धवियोगो मोक्षः । द्वाविंशत्युत्तरेऽपि प्रकृतिशते निःशेषतः क्षीणे मोक्षो भवति । इत्युक्ताः संक्षेपतो नव पदार्थाः ॥ २२१ ॥

अर्थ—संवरसे युक्त जीवके तप—उपधानको निर्जरा कहते हैं। कर्मोंकी सन्तानको बन्ध कहते हैं। और बन्धके अभावको मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे नौ पदार्थ हैं।

भावार्थ—आस्रवके द्वारोंको बन्द करके शक्तिके अनुसार तपस्या करनेसे नवीन कर्मोंके आगमनके रुक जानेपर पहले बँधे हुए कर्मोंका तपसे जो क्षय होता है उसे निर्जरा कहते हैं। उपधान तकियेको कहते हैं। जिस प्रकार तकिया सिरके लिए सुखका कारण होता है, उसी प्रकार तप भी जीवके सुखका कारण है। तप करनेसे सुखकी प्राप्ति होती है। अतः तपको उपधान कहा है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंके नाश न होनेको—उनकी परम्पराके बराबर चालू रहनेको बन्ध कहते हैं; क्योंकि कर्मोंसे ही आत्माके कर्मबन्ध होते हैं। अर्थात् पहले बँधे हुए कर्म ही नवीन कर्मोंके बन्धमें कारण होते हैं। इसीसे कर्मोंकी सन्तानको बन्धका कारण होनेसे बन्ध कहा है। बन्धके बिलकुल अभाव हो जानेको मोक्ष कहते हैं क्योंकि १२२ प्रकृतियोंके बिलकुल क्षीण हो जानेपर मोक्ष होता है। इस प्रकार संक्षेपसे ये नौ पदार्थ हैं।

सम्यग्दर्शनस्वरूपनिरूपणायमाह

सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहते हैं—

एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु, विनिश्चयेन तत्त्वमिति ।
सम्यग्दर्शनमेतच्च[1] तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ २२२ ॥

१–मेतत्त्व, फ ।

टीका—एतेषु जीवादिपदार्थेषु योऽध्यवसायो निश्चयेन परमार्थेन, न दाक्षिण्यानुवृत्त्या तत्त्वमिति सत्यं तथ्यं तद्भूतमित्यर्थः। एतदेव प्रकारं सम्यग्दर्शनम्। तच्च द्विभेदं निसर्गादधिगमाद्वेति। निसर्गः स्वभावः संसारे परिभ्रमतो जीवस्यानाभोगपूर्वकं कर्म क्षपयतो ग्रन्थिस्थानप्राप्तस्यापूर्वकरणबलात् ग्रन्थिं विदारयतः शुभाध्यवसायस्य विभिन्नग्रन्थेरनिवृत्तिकरणप्राप्तौ शुभपरिणामस्य स निसर्गतः स्वभावादेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते। भगवत्प्रतिमादर्शनात् साधुदर्शनाद्वा शुभपरिणामो निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः। कदाचिद् ग्रन्थौ भिन्ने शिष्यमाणस्यागमोपदेशाद्वाक्यमयतः शृण्वतोऽधिगमसम्यग्दर्शनमुत्पद्यते॥ २२२॥

अर्थ—इन जीवादि पदार्थोंमें परमार्थसे ये तत्त्व हैं। ऐसा जो अध्यवसाय—परिणाम होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन स्वभावसे अथवा परोपदेशसे होता है।

भावार्थ—उक्त जीवादि पदार्थोंमें परमार्थसे, न कि दूसरोंके आग्रहसे, तत्त्वताकी जो प्रतीति होती है—कि यही तत्त्व है यही तथ्य है यही सत्य है यही वास्तविक है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। निसर्ग स्वभावको कहते हैं। संसारमें भ्रमण करता हुआ जीव काललब्धिके प्राप्त होनेपर बिना जाने ही कर्मोंका क्षपण करता है। और मिथ्यात्वरूपी ग्रन्थिस्थानको प्राप्त करके अपूर्वकरण नामके परिणामोंके द्वारा ग्रन्थिको भेदता है। शुभ परिणामोंके द्वारा मिथ्यात्व-ग्रन्थिका भेद करनेके बाद अनिवृत्तिकरण नामके परिणामोंको प्राप्त करता है। तब उसके स्वभावसे ही तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके दर्शनसे अथवा साधुओंके दर्शनसे पूर्वोक्त रीतिसे जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है। तथा ग्रन्थि-भेद होनेपर गुरु महाराजके उपदेश सुननेसे जो सम्यक्त्व होता है वह अधिगम सम्यग्दर्शन है। सारांश यह है कि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके दो कारण हैं—एक अन्तरङ्ग और दूसरा बाह्य। अन्तरङ्ग कारण दोनों ही सम्यग्दर्शनोंमें समान है क्योंकि दोनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शनोंकी उत्पत्तिके लिए मिथ्यात्वरूपी ग्रन्थिका छेदा जाना आवश्यक है और उसके छेदके लिए यथाप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके परिणामोंका होना जरूरी है। अतः आन्तरिक प्रक्रिया तो दोनोंमें समान है। केवल बाह्य कारणोंमें अन्तर है। निसर्ग सम्यग्दर्शनमें जिन-प्रतिमा साधु वगैरहका दर्शन बाह्य कारण होता है। उनके दर्शन मात्रसे ही शुभ भावोंकी धारा बहने लगती है। किन्तु अधिगम सम्यक्त्वमें परका उपदेश बाह्य कारण होता है। दोनोंमें केवल इतना ही अन्तर है।

एतदेव दर्शयति—

इसी बातको कहते हैं —

शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्यधिगमस्य।
एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च॥ २२३॥

१—विदारय फ०।

टीका—उक्तार्था कारिकेयम् ॥ २२३ ॥

अर्थ—शिक्षा, आगम, उपदेशश्रवण—ये अधिगमके समानार्थक हैं। और परिणाम, निसर्ग और स्वभाव—ये तीनों एकार्थक हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार जैनधर्मके अभ्याससे, आगमके पढ़नेसे, और उपदेशके सुननेसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह अधिगम है, उसी प्रकार परके उपदेशके बिना स्वभावसे ही जो सम्यक्त्व होता है, वह निसर्ग है।

एतत्सम्यग्दर्शनमनधिगमविपर्ययौ तु मिथ्यात्वम् ।
ज्ञानमथ पञ्चभेदं तत् प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥ २२४ ॥

टीका—एतद्द्विप्रकारं सम्यग्दर्शनमाधिगमिकं नैसर्गिकं च। एतद्विपरीतं मिथ्यात्वमनधिगमलक्षणं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। अतत्त्वबुद्धिरिति विपर्ययः। ज्ञानं मत्यादिभेदेन पञ्चधा। तत् समासतो द्विधा—प्रत्यक्षं परोक्षं च। तत्र प्रत्यक्षमवधिमनःपर्यायकेवलाख्यमक्षस्यात्मनः साक्षादिन्द्रियनिरपेक्षं क्षयोपशमजं क्षयोत्थं च। मतिश्रुते परोक्षमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिन्द्रियद्वारकं न पुनरात्मनः साक्षाद्धूमादग्निज्ञानवत्। इन्द्रियमनोज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यं परोक्षमिति ॥ २२४ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन है। और तत्त्वार्थका श्रद्धान न करना अथवा विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। ज्ञानके पाँच भेद हैं। वह प्रत्यक्ष और परोक्ष होता है।

भावार्थ—इस प्रकार सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है—अधिगमज और निसर्गज। इससे उल्टा मिथ्यात्व है। तत्त्वार्थका श्रद्धान न करना अधिगम मिथ्यात्व है। और तत्त्वमें अतत्त्वबुद्धिका होना विपर्यय मिथ्यात्व है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनका कथन करके सम्यग्ज्ञानका कथन करते हैं। ज्ञानके पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवल। वह संक्षेपसे दो प्रकारका होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अवधि मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष हैं क्योंकि ये ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायता न लेकर केवल आत्मासे ही उत्पन्न होते हैं। इनमेंसे अवधि और मनःपर्यय क्षायोपशमिक हैं और केवलज्ञान क्षायिक है। मति और श्रुत परोक्ष हैं क्योंकि ये इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं। जैसे धूमसे अग्निका ज्ञान करनेमें धूम सहायक होता है। वैसे ही ये ज्ञान भी इन्द्रिय और मनकी सहायतासे पदार्थोंको जानते हैं। अतः जो ज्ञान इन्द्रियावरण और अनिन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है, वह परोक्ष है।

तत्र परोक्षं द्विविधं श्रुतमाभिनिबोधिकं च विज्ञेयम् ।
प्रत्यक्षं चावधिमनःपर्यायौ केवलं चेति ॥ २२५ ॥

टीका—श्रुतमागमोऽतीन्द्रियविषयो यथावस्थितपरिच्छेदित्वात् प्रमाणम्। आभिनिबोधिकं मतिरिति तुल्यार्थौ। सा च मानसी मतिरवायाद्याः। ततः परं द्विविधादशविधं श्रुतं

भवति । प्रत्यक्षं पुनरवध्यादित्रयम् । मिथ्यात्वसमपरिग्रहान्मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्चाज्ञानमपि भवतीति ॥ २२५ ॥

अर्थ—उनमेंसे परोक्षके दो भेद जानने चाहिए—एक श्रुत और दूसरा आभिनिबोधिक । तथा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानको प्रत्यक्ष जानना चाहिए ।

भावार्थ—आगमिक ज्ञानको श्रुत कहते हैं । आभिनिबोधिक और मतिज्ञान एक ही अर्थ है । पहले अवग्रह आदिरूप मतिज्ञान होता है । उसके बाद अनेक प्रकारका श्रुतज्ञान होता है । अवधि आदि तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । मिथ्यात्वके साथ रहनेसे मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं । अर्थात् ये तीनों ज्ञान सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं । यदि सम्यक्त्वके साथ हों तो सच्चे होते हैं और यदि मिथ्यात्वके साथ हों तो मिथ्या होते हैं ।

एषामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति[1] विस्तराधिगमः ।
एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्य इति ॥ २२६ ॥

टीका—एषां मत्यादिज्ञानानामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः । तत्रे- न्द्रियानिन्द्रियभेदाद्द्विविधं मतिज्ञानम् । अवग्रहादिभेदाच्चतुर्विधम् । बह्वादिभेदादनेकधा । श्रुतमप्यङ्गानाङ्गप्रविष्टभेदाद्द्वेधा । अङ्गानामनेकभेदम् । आवश्यकाद्यङ्गप्रविष्टमप्यावश्यकादि द्वादशविधम् । तत्र परोक्षमसर्वद्रव्यविषयम् । अवधिर्भवप्रत्ययक्षयोपशमभेदेनानेकधा रूपि- द्रव्यनिबन्धनः । मनःपर्यायज्ञानमपि ऋजुविपुलमत्यादिभेदमवधिज्ञानविषयीकृतद्रव्यानन्तभाग- निबन्धनं विशुद्धतरं चेति । एष विस्तराधिगमः । आदिग्रहणात् क्षेत्रकालविभागोऽपि द्रष्टव्यः । अथैतानि पञ्च ज्ञानान्येकस्मिन्नात्मनि युगपत् कियन्ति भवन्तीत्याह—एकादीनीत्यादि । एकं मतिज्ञानं तदन्यतः श्रुतज्ञानमक्षरात्मकं सर्वत्र नैव सम्भवतीत्येवमुक्तमेकं मतिज्ञानमिति । अन्यथा भाष्यकृतं सर्वजीवानामागमेऽभिहितम् । तथा कस्यचिन्मतिश्रुते द्वे भवतः । कस्या- पित्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि । कस्यचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानीति । न कस्यचित् पञ्चापि युगपत् संभवन्तीति ॥ २२६ ॥

अर्थ—इन ज्ञानोंके उत्तरभेद और विषय वगैरहसे इनका विस्तारसे ज्ञान होता है । एक जीव में एकसे लेकर चार ज्ञान तक विभाग करना चाहिए ।

भावार्थ—भेद-प्रभेद और विषय आदिसे ज्ञानोंको खूब विस्तारके साथ जाना जा सकता है । जैसे इन्द्रिय और अनिन्द्रियके भेदसे मतिज्ञान दो प्रकारका है । अवग्रह ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारका है । ये चारों ज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होते हैं । अतः मतिज्ञान ४×६=२४ प्रकारका है । बहु, बहुविध, क्षिप्र अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध, चिर, निःसृत, उक्त और

१–भिर्भवति विस्तराधिगमो भवति–ब । २ एकादीन्येकस्मिन् इत्यारभ्य 'विस्तराधिगमो भवति इति पर्यन्तः पाठ–ब० पुस्तके नास्ति । ३–भाष्यादि–ब पुस्तके ।

ध्रुवन चार प्रकारके पदार्थोंके अवग्रहादि चारों ज्ञान होते हैं और उनमेंसे प्रत्येक ज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होता है। अतः मतिज्ञान १२ × ४ × ६ = २८८ प्रकारका है। तथा अवग्रहके दो भेद हैं। एक अर्थावग्रह और दूसरा व्यञ्जनावग्रह। व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनके सिवा शेष चारों ही इन्द्रियोंसे होता है और बारह ही प्रकारके पदार्थोंका होता है। अतः उसके १२ × ४ = ४८ भेद होते हैं। पूर्वोक्त २८८ भेदोंमें ४८ भेदोंको मिलानेसे मतिज्ञान ३३६ प्रकारका होता है।

श्रुतज्ञान भी अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्टके भेदसे दो प्रकारका है। अङ्गबाह्य श्रुतके अनेक भेद हैं। अङ्गप्रविष्ट श्रुतके आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि बारह भेद हैं। ये दोनों परोक्षज्ञान समस्त द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको जानते हैं। अवधिज्ञानके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि अनेक भेद हैं। तथा यह रूपी द्रव्योंको ही जानता है। मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति, विपुलमति वगैरह भेद हैं। यह अवधिज्ञानके विषयीभूत रूपी द्रव्यके अनन्तवें भागको जानता है। अतः उसकी अपेक्षासे विशुद्धतर है। केवलज्ञान समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको जानता है। इस प्रकार भेदों और विषयकी अपेक्षासे ज्ञानोंका विस्तारसे बोध होता है। आदि पदसे क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे भी विभाग कर लेना चाहिए। इन पाँचों ज्ञानोंमेंसे एक जीवके एकसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। एक ज्ञान मतिज्ञान होता है। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान सब जीवोंके नहीं होता। अतः अकेला मतिज्ञान बतलाया है। कभी मति और श्रुत दोनों होते हैं। कभी मति, श्रुत और अवधि तीन ज्ञान होते हैं। कभी मति, श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान होते हैं। किन्तु एक साथ पाँचों ज्ञान कभी नहीं होते।[1]

सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानयोः किंकृतो भेद इत्याह—

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानमें भेद होनेका कारण बतलाते हैं—

सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति नियमतः सिद्धम्।
आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥ २२७ ॥

टीका—सम्यग्दृष्टिस्तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनसम्पन्नः शङ्कादिशल्यरहितस्तस्य यज्ज्ञानं तत्सम्यग्ज्ञानम्। यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदित्वात् नियमेनैवाव्यभिचारि सिद्धम्। आद्यत्रयमज्ञानमपि। मिथ्यादर्शनयोगात् मतिश्रुतावधयः सदसदविशेषपरिज्ञानाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्। ज्ञानफलाभावाच्च मिथ्यादृष्टेरज्ञानमेव ॥ २२७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है, यह नियमसे सिद्ध है। आदिके तीन मति, श्रुत, और अवधि, मिथ्यात्वसे संयुक्त होनेपर मिथ्याज्ञान भी होते हैं।

१—एकं तावत् केवलज्ञानं न तेन सहान्यानि क्षायोपशमिकानि युगपदवतिष्ठन्ते। द्वे मतिश्रुते। त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा। चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि। न पञ्च सन्ति, केवलस्यासहायत्वात्।—श्रीपूज्यपादकृत-सर्वार्थसिद्धि, प्रथम अध्याय सूत्र। ३ ।

भावार्थ—तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनसे युक्त और संशयादि दोषोंसे रहित सम्यग्दृष्टिका जो ज्ञान होता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। क्योंकि वह वस्तुके स्वरूपको जैसा का तैसा जानता है। यह बात नियमसे अव्यभिचारी है। अर्थात् सम्यग्दृष्टिके ज्ञानके सम्यग्ज्ञान होनेमें कभी कोई बाधा नहीं देखी गई और न कभी सम्यग्दृष्टिके सिवा किसी अन्यका ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही देखा गया है। आदिके तीन ज्ञान—मति श्रुत, और अवधि मिथ्याज्ञान भी होते हैं। अर्थात् ये तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टिके भी होते हैं। अतः वे मिथ्याज्ञान भी कहे जाते हैं। क्योंकि मिथ्यादर्शनके सम्बन्धसे ये तीनों ज्ञान सत् और असत्में भेद न कर सकनेके कारण उन्मत्त मनुष्यकी तरह अपनी इच्छासे सत् को असत् कह देते हैं और असत् को सत् कह देते हैं। यदि कभी सत्को सत् और असत्को असत् भी कह दें तो भी उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार शराबी मनुष्य शराबके नशेमें स्त्रीको माता और माताको स्त्री कहता है। कदाचित् माताको माता और स्त्री को स्त्री भी कह देता है, किन्तु इससे उसे होशमें नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी आत्मज्ञानसे विमुख होनेके कारण संसारके पदार्थोंमें मिथ्याबुद्धि रखता है—जो अपने नहीं हैं उन्हें अपना समझता है। उनमें किसीसे राग और किसीसे द्वेष करता है। अतः उसका ज्ञान अज्ञान या मिथ्याज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके कारण ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान होता है।

सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञाने निरूप्य चारित्रप्रतिपादनायाह—

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका निरूपण करके सम्यक्चारित्रका प्रतिपादन करते हैं —

सामायिकमित्याद्यं छेदोपस्थापनं द्वितीयं तु ।[1]
परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसाम्परायं यथाख्यातम् ॥ २२८ ॥

टीका—सम् एकीभावे समन्तस्य आयो लाभ उपयोगो ज्ञानादि समायः, स प्रयोजनमस्येति सामायिकम्। प्रथमपश्चिमतीर्थङ्करयोरित्वरं सामायिकम्। मध्यमतीर्थङ्कराणां यावज्जीविकम्। पूर्वपर्यायच्छेदेनोत्तरपर्यायोपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। प्रथमपश्चिमतीर्थङ्करयोरेव तीर्थे। परिहारविशुद्धिकं परिहारेण आचाम्लवर्जिताहारपरिहारेण तत्परित्यागेन विशुद्धिः कर्म यस्य तत् परिहारविशुद्धिकम्। अधीतनवमपूर्वतृतीयाचारवस्तूनां साधूनां गच्छविनिर्गतानां पारिहारिककल्पस्थितानां त्रिधा स्थितानां ग्रीष्मशिशिरवर्षासु चतुर्थादिद्वादशान्तभक्तमात्रिणामाचाम्लेन पारिहारिकाणां च प्रतिदिनाचाम्लभोजिनां कल्पस्थितस्य च पञ्चकस्य वर्गस्य षाण्मासावधितपोऽनुष्ठानं परिहारविशुद्धिकमुच्यते। तथा सूक्ष्मसाम्परायं सम्परायः कषायोदयः सूक्ष्मा लोभांशाः यस्मिन् तत् सूक्ष्मसाम्परायं दशमगुणस्थानवर्तिनश्चारित्रं भवति। यथाख्यातं तूपशान्तकषायस्य क्षीणकषायस्य चैकादशे द्वादशे च गुणस्थाने वर्तमानस्य भवति। यथा भगवद्भिराख्यातं येन प्रकारेण कथितं तथैव अकषायस्य चारित्रमित्येवमाख्यातम् ॥ २२८ ॥

१–कल्पानुपारिहारिकाणां च–छ ।

इत्येतत् पञ्चविधं चारित्रं मोक्षसाधनं प्रवरम् ।
अनेकानुयोगनयप्रमाणमार्गैः समनुगम्यम् ॥ २२९ ॥

टीका—पञ्चविधं सामायिकादियथाख्यातपर्यन्तमष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाच्चारित्रम् । मोक्षसाधनं सम्यग्ज्ञानपूर्वकं क्रियानुष्ठानम् । प्रवरं प्रधानम् । अनेकानुयोगद्वारमार्गेण अनेकेन च नयमार्गेण नैगमादिना तथा प्रमाणमार्गेण प्रत्यक्षपरोक्षगोचरेण । समनुगम्यं समधिगम्यं ज्ञेयमित्यर्थः ॥ २२९ ॥

अर्थ—पहला सामायिक, दूसरा छेदोपस्थापना, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसाम्पराय और पाँचवाँ यथाख्यात ये चारित्रके पाँच भेद हैं । यह चारित्र मोक्षका प्रधान कारण है । अनेक अनुयोगद्वारोंसे नयोंसे और प्रमाणोंसे उसे अच्छी तरह जानना चाहिए ।

भावार्थ—राग और द्वेषसे रहित परिणामको सम कहते हैं उसकी प्राप्तिको 'समाय' कहते हैं । 'समाय' अर्थात् साम्यभावकी प्राप्ति ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं । पहले और अन्तिम तीर्थङ्करका सामायिकचारित्र कुछ समय तक रहता है और मध्यके तीर्थङ्करोंके जीवनपर्यन्त रहता है । पूर्व पर्यायका छेद करके उत्तर पर्यायके धारण करनेको छेदोपस्थापनचारित्र कहते हैं । यह चारित्र पहले और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें ही होता है । आशय यह है कि दीक्षा धारण करते समय सामायिकसंयम ही धारण किया जाता है । बादमें उसमें दूषण लगनेपर छेदोपस्थापनचारित्र धारण करना होता है । यह दूषण पहले और अन्तिम तीर्थङ्करोंके समयमें ही लगता है । अतः उनके तीर्थमें पाँचों चारित्रोंकी प्रवृत्ति रहती है । किन्तु मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके तीर्थमें सामायिकमें दूषण लगनेका प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता । अतः उनके तीर्थमें चार ही संयमोंकी प्रवृत्ति रहती है । आचाम्लके सिवा सब आहार भी त्याग कर देनेसे आत्मामें जो विशुद्धि उत्पन्न होती है उसे परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं । नौवें पूर्वकी तीसरी आचार वस्तुके पाठी जो साधु गच्छसे निकलकर पारिहारिक कल्पमें स्थित होते हैं और ग्रीष्म, शिशिर तथा वर्षा ऋतुमें एकसे लेकर पाँचतक उपवास करते हैं । अर्थात् ग्रीष्म ऋतुमें जघन्यसे एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास, शिशिर ऋतुमें जघन्यसे दो, मध्यम तीन और उत्कृष्टसे चार उपवास तथा वर्षा ऋतुमें जघन्यसे तीन, मध्यमसे चार और उत्कृष्टसे पाँच उपवास करते हैं । पारणाके दिन आचाम्ल भोजन करते हैं ।

सम्परायकषायको कहते हैं । जिसके सूक्ष्म लोभकषाय बाकी रह जाती है, उस दशम गुणस्थानवर्ती जीवके सूक्ष्मसाम्परायचारित्र होता है । ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय मुनिके यथाख्यातचारित्र होता है । भगवान्ने जिस प्रकारसे कहा है उसी प्रकारसे पूर्ण चारित्रको यथाख्यातचारित्र कहते हैं । यह चारित्र अकषायोंके होता है । इस प्रकार चारित्रके पाँच भेद हैं । यह चारित्र आठ प्रकारके कर्मोंके समूहको नष्ट कर डालता है, अतः मोक्षके

१–अनेकेनुयोग—ब० ।

प्रति प्रधान कारण है। अनेक अनुयोगोंसे, अनेक नयोंसे तथा प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे इस चारित्रको अच्छी तरह जानना चाहिए ॥ २२८-२२९ ॥

सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं च किं समुदितमेव साधनमाहोस्विदेकैकमपीत्याशङ्क्याह—

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्षके साधन हैं अथवा एक एक साधन है ? यह आशङ्का करते हैं—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदः साधनानि मोक्षस्य ।
तास्वेकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः ॥ २३० ॥

टीका—समुदितमेव त्रितयमाविष्टं मोक्षसाधनम्। एकतराऽभावेऽप्यसाधनमिति। एताः सम्यक्त्वादिसम्पदः। परस्परापेक्षा एव मोक्षं साधयन्ति विकलाश्चापदेशान्दे। एकतराऽभावे तु साधनाभावः, न मोक्षं साधयन्तीत्यर्थः ॥ २३० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी सम्पदा मोक्षका साधन है। उनमेंसे एकके भी अभावमें मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होती।

भावार्थ—ये तीनों मिलकर ही मोक्षके साधन हैं। एकके भी अभावमें मोक्षके साधन नहीं हो सकते। जिस प्रकार हर्र बहेड़ा और आँवलेके मेलसे ही त्रिफला नामक औषध तैयार होती है, तभी वह रोगोंका उन्मूलन करती है। उसी प्रकार ये तीनों ही परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखकर ही मोक्षका साधन करते हैं। इनमेंसे यदि एक भी न हो तो संसाररूपी रोगोंसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति ।
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः ॥ २३१ ॥

टीका—सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानयोः सतोरपि चारित्रसम्पत् कदाचिद् भवति कदाचिन्नेति भजनीयमुत्तरं चारित्रमित्यर्थः। यदा पुनश्चरणं लब्धं तदा पूर्वद्वयलाभो नियमेनैव। नहि सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानाभ्यां विना चरणसंभवः, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य। तस्माच्चरणलाभा विनाभूते सम्यक्त्वसम्यग्ज्ञाने ॥ २३१ ॥

अर्थ—उनमेंसे पहलेके दो—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी चारित्र भजनीय है—कभी होता है और कभी नहीं होता। किन्तु उत्तर चारित्रके होनेपर पहलेके दोनों—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका लाभ सिद्ध ही है।

१-नियमस्य-फ० प०। २- सम्यग्दर्शनज्ञानयोः इत्यारभ्य नियमेनैव इतिपर्यन्तः पाठः-फ० पुस्तके नास्ति। फ०। ३ सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदः इत्यादिपूर्वकारिकाव्याख्यानरूपमत्र-मिदं पुस्तकेऽस्ति।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके प्राप्त होनेपर भी किसीके चारित्र होता है और किसीके नहीं होता। जिस प्रकार चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी चारित्र नहीं होता; किन्तु छठे आदि गुणस्थानोंमें होता है। परन्तु जिसके चारित्र होता है, उसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नियमसे होते हैं। क्योंकि उनके बिना चारित्र हो ही नहीं सकता। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके होनेपर ही चारित्र होता है। अतः चारित्रकी प्राप्ति उन दोनोंकी अविनाभावी है।

कथं पुनः सम्यक्त्वादिसाधनमाराध्यमविकलमनुष्ठेयमित्याह—

सम्यक्त्व वगैरहका आराधन किस प्रकार करना चाहिए? यह बतलाते हैं—

धर्मावश्यकयोगेषु भावितात्मा प्रमादपरिवर्जी ।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणामाराधको भवति ॥ २३२ ॥

टीका—धर्मे दशविधे क्षमादिके आवश्यकेषु। तानि चावश्यकानि प्रतिक्रमणालोचनस्वाध्यायप्रत्युपेक्षणप्रमार्जननिगमप्रवेशादीन्यवश्यकरणीयानि तेषु। भावितात्मा प्रमादपरिहारी सम्यक्त्वादिसाधनानामाराधको भवति परिसमापयिता भवतीत्यर्थः ॥ २३२ ॥

अर्थ—क्षमा आदि धर्मोंमें और आवश्यकक्रियाओंमें अभ्यासी तथा प्रमाद न करनेवाला आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका आराधक होता है।

भावार्थ—जो दश प्रकारके धर्मोंमें और प्रतिक्रमण आलोचन स्वाध्याय प्रत्युपेक्षण, प्रमार्जन और आना-जाना वगैरह आवश्यकक्रियाओंमें अभ्यास रखता है तथा आलस्य नहीं करता है, वह सम्यग्दर्शन वगैरहकी आराधना कर सकता है।

आराधनाश्च तेषां तिस्रस्तु जघन्यमध्यमोत्कृष्टाः ।
जन्मभिरष्टत्र्येकैः सिध्यन्त्याराधकास्तासाम् ॥ २३३ ॥

टीका—तेषां सम्यक्त्वादीनामाराधनास्तिस्रो जघन्यमध्यमोत्कृष्टाविभागेन संभवन्ति। तत्र जघन्याराधनाभिर्जन्मभिर्देवमनुष्येषूपजातस्य भवति। अष्टाभिस्तेषां भवैरन्त्ये याति सिद्धिं प्राप्नोतीत्यर्थः। मध्यमा त्वाराधना जन्मत्रयेण मनुष्यजन्मपूर्विका। उत्कृष्टा त्वाराधना एकेनैव भवेन मरुदेव्या इव भवति। एवमाराधकास्तान्याराधयन्तीति ॥ २३३ ॥

अर्थ—उन सम्यक्त्व वगैरहकी जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी आराधना होती है। और उनके आराधक आठ तीन और एक जन्ममें मोक्षको प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—उनकी आराधना तीन प्रकारकी होती है—जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य आराधनाके आराधक जीव आठ भवमें मोक्षको प्राप्त करते हैं। मध्यम आराधनाके तीन भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं, और उत्कृष्ट आराधनाके आराधक जीव उसी भवसे मोक्ष-लाभ करते हैं।

तासामाराधनतत्परेण तेष्वेव भवति यतितव्यम् ।
यतिना तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन ॥ २३४ ॥

टीका—तासां सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदाम् आराधनतत्परेण सेवन प्रयत्नेन । तेष्वेव सम्यक्त्वादिषु यतितव्यं भवति । यतिना साधुना । तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन तत्पर इति सत्त्वादिपरेण जिनभक्त्या समुपेतेन भगवतामर्हतां यथाकालं वन्दनगुणसंकीर्तनपरेण उपग्रहो भगवद्बिम्बप्रतिष्ठाकल्याणकरणादि । अथवा साधूनामुपग्रहो वसथाशनभक्तपानादि समाध्युत्पादनेन च साधूनामाचरति प्रयत्नमेव कुर्वन्निति ॥ २३४ ॥

अर्थ—जो साधु उन सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्रकी आराधनामें तत्पर है। उन सम्यक्त्वादिकमें तत्पर साधुओंकी और जिनभगवानकी भक्ति, उपग्रह और समाधिके द्वारा उनमें ही प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—जो साधु सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी आराधनामें तत्पर है, उसे उन्हींमें यत्न करते रहना चाहिए। और उसके लिए उसे सम्यक्त्वादिमें तत्पर अन्य साधुओंकी तथा जिनेन्द्रदेवकी वन्दन स्तुति वगैरह करनी चाहिए। जिनबिम्बप्रतिष्ठा वगैरहका महान् फल बतलाते रहना चाहिए। साधुओंकी सेवा शुश्रूषा करते रहना चाहिये, तथा समाधिमें तत्पर रहना चाहिए। आशय यह है कि सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्रके आराधकको सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्रके आराधकोंकी भी [illegible] प्रयत्नसे आराधना करते रहना चाहिए।

तमेव यत्नं प्रपञ्चेन दर्शयति—

विस्तारसे उसी यत्नका कथन करते हैं—

स्वगुणाभ्यासरतमते परवृत्तान्तान्धमूकबधिरस्य ।
मदमदनमोहमत्सररोषविषादैरधृष्यस्य ॥ २३५ ॥

प्रशमाय्यानाधमुत्पाभिक्शाभिण सुस्थितस्य सद्धर्मे ।
तस्य निर्वाणमस्य स्यात् सत्येवमनुजेऽपि लोकेऽस्मिन् ॥ २३६ ॥

टीका—स्वगुणः सम्यक्त्वज्ञानचारित्रलक्षणाः साधुगुणास्तेषामभ्यास आवृत्त्यनुष्ठानं तत्र रता यस्य मतिर्यस्यासौ स्वगुणाभ्यासरतमतिः । स हि परवृत्तान्ते परवार्तायां परकथितेऽन्धवत्, न पश्यति परदोषान् गुणान् वा । स्वगुणाभ्यास सम्यक्त्वादिषु व्यासक्तत्वात् । न च परदोषान् गुणान् वा उच्चरति । मूक इव मनुष्यः । न वा श्रृणोति परगुणदोषानुच्यमानान् बधिर इव तिष्ठति । मदो गर्वः । मदनः कामः । मोहो दाम्पत्यादि । अतएवाधृष्यस्य यः कदापि न बाधितः । तथा प्रशमादिभिरभिभूयते । राज्यप्रमुखः सकलविषयाशयसमाचरणादिरवाधितः । विषादः स्वजनादिवियोगसमुद्भवतापादिना भवः । अभिमदादिनिग्रहसमर्थस्याधृष्यस्य ॥ २३५ ॥

प्रशमसुखाभिकाङ्क्षिणः अव्याबाधमोक्षसुखकाङ्क्षिणश्च । सद्धर्मे सुखोत्तरलक्षणे । सुस्थितस्य निश्चलस्य । तस्यैवंविधस्य साधोः केनोपमानं क्रियेत । नास्मिन् लोके सदेवमानुषे । नास्त्येव देवेषु मानुषेषु वा प्रशमसुखतुल्यं सुखम् दूरत एव मोक्षसुखमिति ॥ २३६ ॥

अर्थ—जिसकी मति अपने गुणोंके अभ्यासमें लगी हुई है, जो दूसरोंकी बातोंमें अन्धा, गूँगा और बहिरा है, जो गर्व काम, मोह मत्सर[1], रोष[2] और विषाद[3]से अभिभूत नहीं होता, जो प्रशम-सुख और बाधा रहित मोक्षके सुखका इच्छुक है और अपने धर्ममें दृढ़ है, देव और मनुष्योंसे युक्त इस लोकमें उस पुरुषकी उपमा किससे दी जा सकती है ?

भावार्थ—जो अपने सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र-गुणोंके पालनमें सदा तल्लीन रहता है, दूसरोंके दोषों अथवा गुणोंको नहीं देखता, अपने ही गुणोंके आराधनमें मग्न रहता है, दूसरोंके दोषों अथवा गुणोंको नहीं कहता है, यदि दूसरा कोई कहता हो तो उधर कान नहीं देता, गर्व, काम और मोह आदिके वशमें नहीं होता, केवल प्रशम-सुख और मोक्ष-सुखकी अभिलाषा करता है, और अपने धर्ममें स्थिर रहता है, ऐसे साधुकी उपमा किससे दी जावे ? इस लोकमें जो देव और मनुष्य रहते हैं, उनमेंसे कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता ।

अपि च

और भी—

स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न व्ययप्राप्तम् ॥ २३७ ॥

टीका—स्वर्गो मोक्षश्च परोक्षः तत्र यत्सुखं तद्द्वयमपि परोक्षमागमगम्यम् । मोक्षसुखमत्यन्तपरोक्षमेव । अत्यन्तमिति सुतरां परोक्षम् । स्वर्गसुखस्य केनचिद्विशेषेण किंचिदिह उपमानं स्यात्, न तु मोक्षसुखस्येति । अतोऽत्यन्तपरोक्षम् । प्रशमप्राप्त्यपेक्षेण प्रत्यक्षेण स्वात्म-वर्तिना परिच्छिद्यमानं प्रशमसुखं न च पराधीनं स्वायत्तमेव । नापि व्ययप्राप्तम् । स्वाधीनत्वादेव । यतस्तच्च व्येति न विगच्छति । वैषयिकं तु सुखं परवशं विषयाधीनं विषयाभावे तु न भवतीति ॥ २३७ ॥

अर्थ—स्वर्गके सुख परोक्ष हैं और मोक्षका सुख तो अत्यन्त परोक्ष है । एक प्रशम-सुख प्रत्यक्ष है । न वह पराधीन है और न विनाशी ।

भावार्थ—स्वर्ग और मोक्ष—दोनों ही परोक्ष हैं अतः वहाँ जो सुख होता है, वह भी परोक्ष है, उसे केवल शास्त्रसे जान सकते हैं । स्वर्गके सुखका तो थोड़ा-बहुत आभास भी हो सकता है क्योंकि

१—जो क्रोध चित्त ही चित्तमें रहता है बाहर प्रकट नहीं होता उसे मत्सर कहते हैं । २—जिसमें क्रोधसे ओंठ लाल-लाल हो जाते हैं, वाणी काँपने लगती है, मस्तिष्क गरम होता है उसे रोष कहते हैं । ३—अपने प्रियजनोंकी विपत्ति देखकर खिन्न होनेको विषाद कहते हैं ।

यहाँपर भी वैषयिक ही सुख है किन्तु मोक्षका सुख तो अत्यन्त परोक्ष है। उस सुखका तो हम संसारी जनोंको आभास भी नहीं हो सकता। परन्तु प्रशम सुखका अनुभव तो हम अपनी अवस्थामें ही कर सकते हैं। तथा यह सुख न तो पराधीन है और न विनाशीक है। वैषयिक-सुख नियमतः पराधीन है, क्योंकि वह विषयोंकी प्राप्ति होनेपर होता है और विषयोंके अभावमें नहीं होता।

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥ २३८ ॥

टीका—त्यक्तगर्वकामानां स्वस्थीभूतचेतसां शान्तानां वागादिविकाररहितानाम्। वाग्विकारो हिंस्रपरुषासूयादिः । कायविकारो धावनवल्गनादिः । मनोविकारोऽभिद्रोहाभिमानेर्ष्यादिः । एभिर्विरहितानाम्। विनिवृत्ता परविषया आशा येषां ते विनिवृत्तपराशाः। परस्मादिदं लभ्यं धनधान्यरजतादि केवलं तु परकृतभिक्षामात्रोपजीविनः। सोऽपि यदि लभ्यते प्रवचनोक्तेन विधिना ततः साधु प्राणधारिणोपकारित्वात्। न लभ्यते चेत्ततः शुभाध्यवसायस्य निर्जरैवेति। एवंविधानां यतीनामिहैव मोक्षः। मोक्षसुखमुपमानमुपमेयं प्रशमसुखमिति ॥२३८॥

अर्थ—वचन काय और मनके विकारसे रहित गर्व और कामके जीतनेवाले परकी आशा न करनेवाले शास्त्रविहित विधिके पालक साधुओंको यहीं मोक्ष है।

भावार्थ—जिन्होंने गर्व और कामको जीत लिया है, जिनका चित्त स्वस्थ है, जो शान्त हैं वचनके विकार-कठोरता असभ्यता निन्दकता वगैरहसे, शरीरके विकार—दौड़ना फाँदना वगैरहसे, और मनके विकार-अभिद्रोह अभिमान ईर्षा वगैरहसे जो रहित हैं, दूसरोंसे प्राप्त होनेवाले धन-धान्य सोना चाँदी वगैरहकी स्वप्नमें भी इच्छा न करके जो केवल भिक्षासे प्राप्त होनेवाले अन्नपानसे अपना जीवन निर्वाह करते हैं—वह भी यदि शास्त्रविहित विधिके अनुसार मिलता है तो ठीक है अन्यथा जो अलाभको ही परम निर्जराका कारण मानकर उसमें ही सन्तोष करते हैं, और अपने परिणामोंको शुद्ध रखते हैं, ऐसे मुनीश्वरोंको इसी लोकमें मोक्ष है। अर्थात् प्रशम सुखको मोक्ष-सुखके ही तुल्य समझना चाहिए।

शब्दादिविषयपरिणाममनित्यं दुःखमेव च ज्ञात्वा ।
ज्ञात्वा च रागद्वेषात्मकानि दुःखानि संसारे ॥ २३९ ॥
स्वशरीरेऽपि न रज्यति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति ।
रोगजरामरणभयैरव्यथितो यः स नित्यसुखी ॥ २४० ॥

टीका—शब्दादयो विषयाः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शास्तेषां परिणामः इष्टानिष्टता शब्दादिविषयपरिणामश्च यत्सुखं तदनित्यम्। विषयसन्निधौ भवति तदभावे च न भवतीत्यनित्यम्।

१—सर्वत्र पदमिदं—फ पुस्तके । २—भावार्थं सम्पूर्णं चारित्र—फ० पुस्तके नेदं व्याख्यानमुपलभ्यते ।

पि च दुःखमेवेदं वैषयिकं सुखं पामनपुरुषकण्डूयितसुखवत् । दुःखमेवायं सुखाभिमानोऽस्य
सानाम् । एवं विज्ञाय ज्ञात्वा च । रागद्वेषात्मकानि रागद्वेषपरिणतिजातानि रागद्वेषानुविद्धानि
खानि संसारे करोतीदम् ॥ २३९ ॥

निजशरीरकेऽपि न रज्यति रागं न करोति स्नेहमित्यर्थः । शत्रावपि न प्रद्वेषं प्रद्वेषं
याति । रोगो ज्वरादिः । जरा वयोहानिः । प्राणनाशो मरणम् । भयमिहलोकादि सप्तप्रकारम् ।
पि मध्ये व्यवस्थितः । एभिश्च न व्यथितः सपत्नैरपि न बाधितः । एभ्यो न भीतो यः स
त्यमेव सुखी नित्यसुखीति ॥ २४० ॥

अर्थ—जो शब्द आदि विषयोंके परिणामको अनित्य और दुःखरूप जानकर तथा संसारके
खोंको राग और द्वेषसे होनेवाले जानकर अपने शरीरसे भी राग नहीं करता और शत्रुसे भी द्वेष
हीं करता, रोग बुढ़ापा मृत्यु और भयसे अपीड़ित वह मनुष्य सर्वदा सुखी है ।

भावार्थ—शब्द, रूप रस गन्ध, और स्पर्श—ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय हैं । इनमें जो इष्ट
थवा अनिष्ट बुद्धि होती है, यही उनका परिणाम है वह परिणाम अनित्य है क्योंकि जो विषय आज
सुखकर लगते हैं, कल वही दुःखदायी लगने लगते हैं । इसीलिए उन विषयोंके सम्बन्धसे जो सुख
होता है, वह भी अनित्य है, विषयोंके होनेपर होता है, उनके अभावमें नहीं होता । तथा यह वैषयिक
सुख वास्तवमें दुःख ही है । जिस प्रकार खाजका रोगी खाजके खुजलानेमें सुख मानता है, उसी प्रकार
अज्ञानी प्राणी विषय-सेवनमें सुखका अभिमान करते हैं । तथा विषयोंका अनुभवन करनेसे राग और द्वेष
अवश्य उत्पन्न होते हैं । जो विषय प्रिय लगते हैं, उनसे राग होता है और जो अप्रिय लगते हैं, उनसे
द्वेष होता है । ये राग और द्वेष ही संसारके दुःखोंके मूलकारण हैं । ऐसा जानकर जो अपने शरीरसे
भी राग नहीं करता है और शत्रुसे भी द्वेष नहीं करता है तथा जो रोग, बुढ़ापा, मृत्यु और भयसे
डरता नहीं—यदि ये उपस्थित भी हो जायें तो बेचैन नहीं होता, वह मनुष्य सर्वदा सुखी रहता है ।

धर्मध्यानाभिरतस्त्रिदण्डविरतस्त्रिगुप्तिगुप्तात्मा ।
सुखमास्ते निर्द्वन्द्वो जितेन्द्रियपरीषहकषाय ॥ २४१ ॥

टीका—धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानमाज्ञाविचयादि, तत्राभिरतस्तत्परस्तत्र सक्तः ।
मनोवाक्कायव्यापारदण्डत्रयाद्विरतः । अप्रशस्तो मनोवाक्कायव्यापारो दण्डः । तिस्रो गुप्तयस्ता-
भिगुप्तात्मा । मौनी निरवद्यभाषी । पात्रक (स्त्रातक) योत्सर्ग प्रवचनोक्तविधिना गामी वा
धर्मध्यायी निरस्ताशुभरौद्राध्यवसाय सुखमास्ते निराबाधमशेषक्रियानुष्ठानं कुर्वन् । निर्द्वन्द्वो
निर्गतसकलोपद्रव एकाकी निष्कलहो वा जितानीन्द्रियाणि वशे स्थापितानि । परीषहाः सम्यक्
सहन्ते । कषायाणामनुदयो निरस्त उदितो वा विफलीकृतः । स एवंविधः सुखमास्ते ॥ २४१ ॥

१–गर्मास्य नमूर्ने वास्यमिर्न–प० च० पुस्तकयोः ।

अर्थ—धर्मध्यानमें आसीन, तीन दण्डोंसे विरक्त, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित, इन्द्रिय परीषह और कषायका जेता कलह रहित साधु सुखपूर्वक रहता है।

भावार्थ—धर्मयुक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं जो उसमें लगा रहता है मन वचन और कायके आगम-विरुद्ध व्यापारको दण्ड कहते हैं, जो इन दण्डोंका त्यागी है तीन गुप्तियोंका पालन करता है अर्थात् सर्वदा मौन धारण करता है, विशेष आवश्यकता पड़नेपर यदि बोलता है, तो हित-मित वचन ही बोलता है काय-व्यापार नहीं करता, आगममें कही गई विधिके अनुसार केवल धर्मका ही चिन्तन करता है, आर्त और रौद्र ध्यानोंमें कभी भी मनको नहीं लगाता कलह झगड़ोंसे दूर रहता है, इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है, परीषहोंको अच्छी तरहसे सहता है, कषायोंके उदयको या तो रोक देता है या उसे व्यर्थ कर देता है ऐसा साधु सच्चे सुखको भोगता है।

विषयसुखनिरभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलङ्कृतः साधुः ।
द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्यः सर्वतेजांसि ॥ २४२ ॥

टीका—धर्मादिविषयेषु विषयसुखे निर्गताभिलाषो निर्मितेच्छः। प्रशमगुणा ये स्वाध्यायसन्तोषादयस्तेषां गणः समूहस्तेनालङ्कृतो विभूषितः। साधुर्भास्कर इव। द्योतयति अभिभवति तारकादिप्रभां स्वप्रभया तिरोभाव्य स्वतेज एव प्रकाशयति तथार्थान्विशेषाभितेजांस्यभिभवतीत्यर्थः। तद्वत् साधुरप्यात्मगुणः सर्वतेजांसि देवमनुष्यादीनामभिभूय प्रकाशते स्वतेजसेति ॥ २४२ ॥

अर्थ—विषय-सुखकी अभिलाषासे रहित और प्रशम गुणोंके समूहसे सुशोभित साधु सूर्यके समान सब तेजोंको अभिभूत करके प्रकाशमान होता है।

भावार्थ—धर्म्य आदिसे उत्पन्न होनेवाले विषय-सुखकी जिसे चाह नहीं है और स्वाध्याय तथा प्रशमगुणोंके समूहसे जो विभूषित है, वह साधु सूर्यके समान चमकता है। जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभासे तारों आदिकी प्रभाको अभिभूत करके अपने तेजको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार उक्त गुणोंसे युक्त साधु सभी देव और मनुष्योंको अभिभूत करके अपने गुणोंसे स्वयं ही प्रकाशित होता है।

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
स न लभते गुणं यत् प्रशमसुखमुपाश्रितो लभते ॥ २४३ ॥

टीका—सम्यग्दर्शनसम्पन्नः सम्यग्ज्ञानसम्पन्नश्च। विरतितपोबलयुतोऽपि विरतश्च मूलोत्तरगुणेन युक्तोऽपि तपोबलेन च सम्पन्नः। अनुपशान्तः क्रोधादिकषायोदयस्थाल्पप्रशमः। स गुणं न लभते कषायोदये वर्तमानः। यं गुणं प्रशमगुणमाश्रितः प्राप्नोति। प्रशमस्यैव हि मार्गदर्शिता एव गुणाः। तस्मादुपशान्तकषायेण भवितव्यमिति ॥ २४३ ॥

१—यह कारिका ह. पु. में नहीं है।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और व्रत तथा तपके बलसे युक्त होते हुए भी जो उपशान्त नहीं है, वह उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता, जिस गुणको प्रशम-सुखमें स्थित साधु प्राप्त करता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपोबलसे सम्पन्न होते हुए भी जिस साधुकी क्रोधादि कषाय शान्त नहीं हुई है, वह साधु उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता जो गुण प्रशम भावनाके साधुको प्राप्त रहता है। प्रशममें स्थित साधुके गुण पहले बतला आये हैं। अतः कषायोंको शान्त करना चाहिए।

तथा शीलाङ्गानामविकलानामेवंविध एव निष्पादको भवतीति दर्शयति—

प्रशम गुणवाला साधु ही शीलके सम्पूर्ण अङ्गोंकी साधना करता है यह बतलाते हैं—

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोध्यानभावनायोगैः ।
शीलाङ्गसहस्राष्टादशकमयत्नेन साधयति ॥ २४४ ॥

टीका—सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्पन्नो[1] विरत्या मूलोत्तरगुणस्वरूपया। तपसा चानशनादिना। ध्यानेन च धर्मादिना। भावनाभिरनित्यादिकाभिर्योगैश्च प्रशस्तैर्मनोवाक्कायव्यापारैः। शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकमष्टादशशीलाङ्गसहस्राणीत्यर्थः। अयत्नेना-यासेन लीलयैव। साधयति स्वीकरोतीति।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी व्रत, तप ध्यान, भावना और योगके द्वारा शीलके अठारह हजार अङ्गोंको बिना यत्नके ही साधता है।

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त है वह मूलगुण और उत्तरगुणरूप व्रत, अनशन वगैरह तप धर्मादि ध्यान अनित्यादि भावना, और मन, वचन, कायके प्रशस्त व्यापारके द्वारा शीलके अठारह हजार भेदोंको बिना किसी परिश्रमके धारण कर लेता है।

कानि पुनस्तानि अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणीति केन चोपायेनाभिगम्यानीत्याह—

शीलके अठारह हजार अङ्गों और उनकी उत्पत्तिके उपायको बतलाते हैं:—

धर्माद्भूम्यादीन्द्रियसंज्ञाभ्यः करणतश्च योगाच्च ।
शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकस्य निष्पत्तिः ॥ २४५ ॥

टीका—क्षमादिदशलक्षणको धर्म प्रथमपंक्त्यां स्थापनीयः। तस्या अध्यधो द्वितीयपंक्त्यां भूम्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुष्पञ्चेन्द्रिया अजीवकायश्च विन्यसनीयाः। तस्या अध्यधस्तृतीयपंक्त्यां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनानि लेख्यानि। तस्या अध्यधश्चतुर्थपंक्त्यां आहार भयपरिग्रहमैथुनसंज्ञा स्थापनीयाः। पञ्चमपंक्त्यामधस्तस्या न करोति न कारयति न कुर्वन्तमन्यं

---

[1] १–सम्यग्दृष्टिसम्पन्नो वि–व०।

और काय भी बाकी हैं। अतः उनके भी छह छह हजार भेद होते हैं। इस प्रकार तीनोंके मिलाकर शीलके अठारह हजार भेद बनते हैं।

शीलार्णवस्य पारं गत्वा संविग्नसुगमपारस्य ।
धर्मध्यानमुपगतो वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यम् ॥ २४६ ॥

टीका—शीलं मूलोत्तरगुणाः। शीलमर्णव इव दुस्तरत्वात् अनेकातिशयनिधानाच्च। पारं गत्वा सम्पूर्णमवाप्य। कथं पुनः केन वा पारं गम्यते? संविग्नसुगमपारस्येति—संविग्नाः संसारभीरवः सुखेनैव सकलशीलप्रापिणो[1] भवन्ति। लब्ध्वा च सम्पूर्णशीलं धर्मध्यानं प्राप्तः। वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यमिति। तस्यावस्थायामुचितं प्रकृष्टवैराग्यमित्यर्थः ॥ २४६ ॥

अर्थ—संसारसे भयभीत साधुजनोंके द्वारा सरलतासे पार करनेके योग्य, शीलरूपी समुद्रके पारको प्राप्त करके जो धर्मध्यानमें तत्पर होते हैं, उन्हें योग्य वैराग्यकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यह शील समुद्रके समान है। जिस प्रकार समुद्रका पार पाना कठिन होता है और उसके अन्दर अनेक बहुमूल्य रत्न भरे होते हैं, उसी प्रकार शीलके भेद—प्रभेदोंका पार पाना भी कठिन है और उसके अन्दर भी अनेक गुण-रत्न भरे हुए हैं। जो साधुजन संसारसे भयभीत हैं, वे उस शील-सागरको सरलतासे पार कर सकते हैं। अतः उसे पार करनेके लिए संसारभीरु होना चाहिए। और जो उसे पार करके अर्थात् शीलके अठारह हजार भेदोंको धारण करके धर्मध्यानमें अपने मनको लगाता है, उसे उस अवस्थाके योग्य उत्कृष्ट वैराग्यकी प्राप्ति होती है। यही उसका फल है।

तच्च धर्मध्यानं चतुर्भेदमाचक्षाण आह—

धर्मध्यानके चार भेद कहते हैं—

आज्ञाविचयमपायविचयं च स ध्यानयोगमुपसृत्य ।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचयं च ॥ २४७ ॥

टीका—आज्ञाविचयमपायविचयं विपाकविचयं संस्थानविचयं च। स खलु चतुःप्रकारं धर्मध्यानं शीलार्णवपारगामी। आद्यध्यानद्वयमुपाश्रित्य सम्प्राप्य ततस्तृतीयं विपाकविचयमुपयाति। ततस्तुरीयं संस्थानविचयमभ्येति ॥ २४७ ॥

अर्थ—शील-समुद्रका पारगामी साधु आज्ञाविचय और अपायविचय नामके ध्यानयोगको प्राप्त करके विपाकविचय और संस्थानविचय नामके धर्मध्यानोंको प्राप्त करता है।

भावार्थ—धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान-

१—सकलप्रापिणो-म०-ब०। २—तयोऽमुप-ब०।

नानुमोदयति, एतत्त्रयं स्थाप्यम्। तस्याप्यधः पङ्क्तौ मनसा वाचा कायेनेति त्रयं विरचनीयम्। तत्र विकल्पानयने उच्चारणम्। क्षमयान्वितः पृथ्वीकायसमारम्भं संवृतश्रोत्रेन्द्रियद्वार आहारसंज्ञाविप्रमुक्तो न करोति मनसा। एवं पृथ्वीकायमपरित्यजन् दश विकल्पान् लभते। एवमप्कायसमारम्भादिष्वपि दशसु दश विकल्पा लभ्यन्ते। ते दश दशकाः शतम्। एतच्च श्रोत्रेन्द्रियममुञ्चता लब्धम्। एवं चक्षुरादिभिरपि शतं शतं लभ्यते। जातानि पञ्च शतानि। एतान्याहारसंज्ञाममुञ्चता लब्धानि। तथा भयमैथुनपरिग्रहसंज्ञादिभिरपि प्रत्येकं पञ्च पञ्च शतानि लभ्यन्ते। जातं सहस्रद्वयम्। एतत् सहस्रद्वयं न करोमीत्यमुञ्चता लब्धम्। एवमितराभ्यामपि द्वे द्वे सहस्रे लभ्ये। ततश्च षट् सहस्राणि जातानि। एतानि च मनसा लब्धानि। वाचापि षट् सहस्राणि। कायेनापि षट्सहस्राणीति। एवमेषां शीलाङ्गानां संचरणानामष्टादशसहस्राणि निष्पाद्यन्ते ॥ २७५ ॥

अर्थ—धर्म, पृथ्वीकाय वगैरह इन्द्रियाँ संज्ञा, कृत, कारित, अनुमोदना, और मन, वचन कायके भेदसे शीलके अठारह हजार भङ्गोंकी उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—पहली पंक्तिमें क्षमा आदि दस धर्मोंको रखना चाहिए। उसके नीचे दूसरी पंक्तिमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय और अजीवकायको रखना चाहिए। उसके नीचे तीसरी पंक्तिमें श्रोत्र चक्षु घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियोंको रखना चाहिए। उसके नीचे चौथी पंक्तिमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रहसंज्ञाको रखना चाहिए। उसके नीचे पाँचवीं पंक्तिमें 'न करता है', 'न कराता है' और 'न दूसरोंको करता हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है'—इन तीनोंकी स्थापना करनी चाहिए। उसके नीचे छठी पंक्तिमें मन वचन और कायको रखना चाहिए। इनको मिलाकर भेदोंका उच्चारण इस प्रकार करना चाहिए—क्षमा धर्मसे युक्त पृथ्वीकायके आरंभको श्रोत्रेन्द्रियके द्वारको बन्द करके, आहारसंज्ञासे रहित, मनसे नहीं करता है। इस प्रकार पृथ्वीकाय और उसके नीचेके सब विकल्पोंको दसों धर्मोंके साथ लगानेसे दस भेद होते हैं। इसी प्रकार जलकाय, अग्निकाय वगैरह दूसरी पंक्तिके दसों विकल्पोंके दस दस भेद जान लेने चाहिए। सब मिलकर सौ भेद हुए।

इन सौ भेदोंमें श्रोत्रेन्द्रिय सम्मिलित है। क्योंकि कायके बदलने पर भी नीचेके सब विकल्प प्रत्येकके साथ ज्योंके त्यों रहते हैं। अतः श्रोत्रेन्द्रियके स्थानमें चक्षुरिन्द्रियको रखनेसे उसके भी इसी प्रकार सौ भेद होते हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंके भी जानने चाहिए। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियोंके पाँचसौ भेद होते हैं। इन पाँचसौ भेदोंमेंसे प्रत्येकके साथ आहारसंज्ञा लगी हुई है; क्योंकि धर्म, काय और इन्द्रियोंके परिवर्तन होनेपर भी अभी संज्ञा आदिका परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः आहारसंज्ञाकी ही तरह भय, मैथुन और परिग्रहसंज्ञाके भी पाँचसौ पाँचसौ भेद हुए। सब मिलकर दो हजार भेद हुए। इन दो हजार भेदोंमें प्रत्येकके साथ 'नहीं करता है' विकल्प लगा हुआ है; क्योंकि अभी संज्ञासे नीचेके विकल्पोंमें परिवर्तन नहीं हुआ। अतः शेष दो विकल्पोंके भी दो दो हजार भेद होते हैं। तीनोंके मिलकर छह हजार भेद होते हैं, इन छह हजार भेदोंमेंसे प्रत्येकके साथ मन सम्मिलित है, वचन

और काय अभी बाकी हैं। अतः उनके भी छह छह हजार भेद होते हैं। इस प्रकार तीनोंके मिलकर शीलके अठारह हजार भेद बनते हैं।

शीलार्णवस्य पार गत्वा संविग्नसुगममपारस्य ।
धर्मध्यानमुपगतो वैराग्य माप्नुयाद्योग्यम् ॥ २४६ ॥

टीका—शील मूलोत्तरगुणाः । शीलमर्णव इव दुरुत्तरत्वात् अनेकातिशयमणिनाथाढ्य । पारं गत्वा सम्पूर्णमवाप्य । कथं पुनः केन वा पारं गम्यते ? संविग्नसुगममपारस्येति—संविग्नाः संसारभीरवः सुखेनैव तच्छीलप्रापिणो[1] भवन्ति । लब्ध्वा च सम्पूर्णशीलं धर्मध्यानं प्राप्तः । वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यमिति । तत्कालावस्थायामुचितं प्रकृष्टवैराग्यमित्यर्थः ॥ २४६ ॥

अर्थ—संसारसे भयभीत साधुजनोंके द्वारा सरलतासे पार करनेके योग्य शीलरूपी समुद्रके पारको प्राप्त करके जो धर्मध्यानमें तत्पर होते हैं, उन्हें योग्य वैराग्यकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यह शील समुद्रके समान है। जिस प्रकार समुद्रका पार पाना कठिन होता है और उसके अन्दर अनेक बहुमूल्य रत्न भरे होते हैं, उसी प्रकार शीलके भेद—प्रभेदोंका पार पाना भी कठिन है और उसके अन्दर भी अनेक गुण-रत्न भरे हुए हैं। जो साधुजन संसारसे भयभीत हैं, व उस शील-सागरको सरलतासे पार कर सकते हैं। अतः उसे पार करनेके लिए संसारभीरु होना चाहिए। और जो उसे पार करके अर्थात् शीलके अठारह हजार भेदोंको धारण करके धर्मध्यानमें अपने मनको लगाता है उसे उस अवस्थाके योग्य उत्कृष्ट वैराग्यकी प्राप्ति होती है। यही उसका फल है।

तच्च धर्मध्यानं चतुर्भेदमाचक्षाण आह—

धर्मध्यानके चार भेद कहते हैं—

आज्ञाविचयमपायविचय च स ध्यानयोगमुपसृत्य ।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति सस्थानविचय च ॥ २४७ ॥

टीका—आज्ञाविचयमपायविचयं विपाकविचयं संस्थानविचयं च । स खलु चतुःप्रकारं धर्मध्यानं शीलार्णवपारगामी । आद्यध्यानद्वयमुपाश्रित्य सम्प्राप्य ततस्तृतीयं विपाकविचयमुपयाति । ततस्तुरीयं संस्थानविचयमभ्येति ॥ २४७ ॥

अर्थ—शील-समुद्रका पारगामी साधु आज्ञाविचय और अपायविचय नामके ध्यानयोगको प्राप्त करके विपाकविचय और संस्थानविचय नामके धर्मध्यानोंको प्राप्त करता है।

भावार्थ—धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान-

१—तच्छीलप्रापिणो—प०—ब०। २—तयोपगत—ब०।

विषय। जो श्रेणि-समुद्रके पारको प्राप्त कर चुका है वह इन चारों ध्यानोंमेंसे पहले और दूसरे ध्यानको प्राप्त करके तब तीसरे और चौथे धर्म्यध्यानको प्राप्त करता है।

तत्राज्ञाविचयापायविचययोः स्वरूपनिरूपणायाह—

आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञाविचयस्तदर्थनिर्णयनम्।
आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्येष्वपायस्तु ॥ २४८ ॥

टीका—आप्तः क्षीणरागद्वेषमोहस्तस्य वचनं प्रवचनमलीकादिदोषविरहितं द्वादशाङ्गमागमः। तस्या आज्ञायाः सर्वज्ञाज्ञाया विचयो गवेषणं गुणवत्त्वेन निर्दोषत्वेन च। तस्यार्थप्रवचनस्य निर्णयनं विनिश्चयः। सकलकल्याणनिमित्तैकरसत्वाद्युक्तम्। न कश्चिद्दोषोऽस्तीति। आज्ञाविचयोऽभ्यासः सूत्रार्थविषयः। आस्रवाः कायवाङ्मनांसि। विकथाः स्त्रीभक्तचौरजनपदविषयाः। गौरवमृद्धिसातरसाख्यं त्रिधा। परीषहाः क्षुत्पिपासादयः। आदिग्रहणादगुप्तित्वमसमितित्वं च। एतेषु वर्तमानस्य जन्तोरपायबहुत्वं नारकतिर्यक्त्वेन मानुषजन्मसु प्रायेण प्रत्यवायाः संभवन्ति भूयांस इति पश्चार्धेन निरूपितमपायविचयम् ॥२४८॥

अर्थ—आप्तके वचनको प्रवचन कहते हैं। उसके अर्थका निरूपण करना, आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान है। और आस्रव विकथा, गौरव, परीषह वगैरहमें अनर्थका चिन्तन करना अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है।

भावार्थ—जिसके समस्त राग द्वेष और मोह क्षीण होगये हैं, उसे आप्त कहते हैं और उसके वचनको प्रवचन कहते हैं, अर्थात् असत्यता और हिंसा आदि दोषोंसे रहित द्वादशांग आगमको प्रवचन कहते हैं। उसके अर्थका निर्णय आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान है। अथवा प्रवचनके रूपमें सर्वज्ञदेवने जो आज्ञा दी है, उसकी गुणशालिता और निर्दोषताका विचार करना आज्ञाविचय है। तात्पर्य यह है कि द्वादशांग वाणीके अर्थके अभ्यास करनेको आज्ञाविचय कहते हैं।

मन वचन और कायके व्यापारको आस्रव कहते हैं। स्त्री भोजन चोर और देशकी बातें करना विकथा है। ऐश्वर्य सुख और रसको गौरव कहते हैं। भूख-प्यास आदिकी बाधाको परीषह कहते हैं। आदि पदसे गुप्ति और समितिका अभाव लेना चाहिए। जो जीव इनमें पड़ता है। उसे अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देवगतिमें उसे प्राप्त करके बहुत दुःख भोगना पड़ता है। इस प्रकार आस्रव आदिकी बुराइयोंका चिन्तन करना—अपायविचयधर्म्यध्यान है।

तृतीयचतुर्थभेदयोर्निरूपणायाह—

तीसरे और चौथे भेदका स्वरूप कहते हैं—

१ सकलकल्याण० फ०। २-प्रवचनमलीकादिदो-प।

अशुभशुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचय स्यात् ।
द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमन संस्थानविचयस्तु ॥ २४९ ॥

टीका—अशुभं शुभं च कर्म तयोः कोऽर्थो (टयो) वर्तते तस्य पाको विपाकोऽनुभवो रस इत्यर्थः । तस्यानुचिन्तनं प्रयोजनमशुभानां कर्मणामयं विपाकः शुभानां चायमिति । संसारमार्गाणां जीवानां तदन्वेषणं विपाकविचयः । द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनम् धर्मो द्रव्यमधर्मश्च तौ लोकपरिणामौ तयोः संस्थानं लोकाकाशस्यैव । तत्राधोमुखमल्लक[१] इत्यादावुक्तम् । पुद्गलद्रव्यमनेकाकारमचित्तमहास्कन्धश्च सकललोकाकारः । जीवोऽप्यनेकाकारः शरीरादिभेदेन यावल्लोकाकारः समुद्घातकाले । कालोऽपि यदा क्रियामात्रं द्रव्यपर्यायस्तदा द्रव्याकार एव । यदा तु स्वातन्त्र्यं कालद्रव्यं तदैकसमयाऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्राकृतिरित्येवं संस्थानविचयः ॥ २४९ ॥

अर्थ—अशुभ और शुभ कर्मोंके रसका विचार करना—विपाकविचय नामके धर्मध्यानका अर्थ है। और द्रव्य तथा क्षेत्रके आकारका चिन्तन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान है।

भावार्थ—कर्म दो प्रकारके हैं—एक शुभ और दूसरा अशुभ। दोनों ही प्रकारके कर्मोंके अनुभवका विचार करना कि अशुभ कर्मोंका यह फल होता है और शुभ कर्मोंका यह फल होता है, इसे विपाकविचय कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक—ये तीन क्षेत्र हैं। इनके आकारका चिन्तन करना संस्थानविचय है। जैसे धर्म और अधर्म द्रव्य लोकके बराबर हैं। उनका संस्थान लोकाकाशके ही समान है। लोकका आकार पहले बतला आये हैं। पुद्गलद्रव्यके अनेक आकार हैं। अचेतन महास्कन्ध सम्पूर्ण लोकके आकार है। जीव भी शरीर आदिके भेदसे अनेक आकारवाला है। केवली समुद्घातके समय वह लोकके आकार हो जाता है। कालद्रव्य भी जब द्रव्यकी पर्यायरूपसे लिया जाता है तो द्रव्यके ही आकार होता है और जब स्वतन्त्र द्रव्यरूपसे लिया जाता है तो अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रवर्ती एक समयरूप है। इस प्रकारका विचार संस्थानविचय है।

साम्प्रतं पारम्पर्येण धर्मध्यानस्य विशिष्टफलप्रदर्शनायाह—

अब परम्परासे धर्मध्यानका विशेष फल बतलाते हैं—

जिनवरवचनगुणगण स चिन्तयतो वधाद्यपायांश्च ।
कर्मविपाकान् विविधान् संस्थानविधीननेकांश्च ॥ २५० ॥

टीका—जिनानां वरास्तीर्थकरास्तेषां वचनं तस्य गुणा[३] अहिंसकत्वादयस्तेषां गणः समूहस्तम्। संचिन्तयतः सम्यगालोचयतः आज्ञागुणान्। वधाद्यपायांश्च द्वितीयभेदे तु चिन्तयतो वधबन्धनाभियोगासमाधिमृतीन्। तृतीयभेदेन च कर्मणो विपाकान् विविधान् शुभानशुभांश्च। चतुर्थभेदे संस्थानविधीन् संस्थानप्रकारान् बहूनिति ॥ २५ ॥

१—नास्तीयं सम्पूर्णा कारिका—ब० पुस्तके केवलं व्याख्यैवास्त्यत्र । २—द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमने प० ।
३— गुणा इत्यारभ्य तेषाम् इति पर्यन्तः पाठः नास्ति—फ० ब० पुस्तकयोः ।

किं भवतीत्याह—

नित्योद्विग्नस्यैव क्षमाप्रधानस्य निरभिमानस्य ।
धुतमायाकलिमलनिर्मलस्य जितसर्वतृष्णस्य ॥ २५१ ॥

टीका—नित्यमित्यहर्निशमुद्विग्नो भीतः संसारात् । एवमुक्तेन प्रकारेण । क्षमाप्रधानस्य क्षमामूलत्वाद्धर्मस्य तत्प्रधानत्वम् । निर्गताभिमानस्य गर्वरहितस्येति । धुतमायाकलिमलनिर्मलस्य धुता विक्षिप्ता माया [illegible] कलिमलं पापं तस्मात् [illegible] जितस्य (सर्व) लोभ[illegible]स्य ॥ २५१ ॥

तुल्यारण्यकुलाकुलविविक्तबन्धुजनशत्रुवर्गस्य ।
समवासीचन्दनकल्पनप्रदेहादिदेहस्य ॥ २५२ ॥

टीका—तुल्यमरण्यं कुलाकुलं च जनपदं [illegible] [illegible] [illegible] । यादृगरण्यं तादृग् जनाकुलमपि । विविक्तबन्धुजनशत्रुवर्गस्य बन्धुजनः स्वजनलोकः शत्रुवर्गो रिपुसमूहस्तौ विविक्तौ यस्य पृथग्भूतावात्मनः सकाशात् । यथा बन्धुवर्गस्तथा शत्रुवर्गः, मत्तोऽन्य एव बन्धुवर्गः शत्रुवर्गश्च विविक्तः, तत्र तुल्यचित्तवृत्तिः । यथा स्वजनवर्गस्तथा शत्रुवर्गोऽपीति । तथा समस्तु [illegible] वास्या तक्ष्णोति [illegible] [illegible] । [illegible] तक्षणम्, प्रदेहः उपलेपनं चन्दना[illegible] । तत्र समवासी [illegible] (तावेर्यस्यैवविधादेहः) यस्य स एवमुक्तः ॥ २५२ ॥

आत्मारामस्य सतः समतृणमणिमुक्तलोष्टकनकस्य ।
स्वाध्यायध्यानपरायणस्य दृढमप्रमत्तस्य ॥ २५३ ॥

टीका—आत्मन्येवारमति प्रीतिं करोति स्वकार्य एव व्यापियते, न [illegible] प्रीतिं बध्नाति । समं तुल्यं तृणं यस्यापि मणयश्च पद्मरागादयः लोष्टं काञ्चनं च मुक्तं येन नाभिलषितम् यथा लोष्टं मृत्पिण्डो नाभिलष्यते एवं कनकमपि । एतदुक्तं भवति—न मृत्पिण्डस्तुल्यास्तथा कनकमपि यस्य स मुक्तलोष्टकाञ्चनः । मुक्तं परित्यक्तम् । स्वाध्यायो वाचनादिः [illegible] । ध्यानं धर्मादि[illegible] । दृढं बाढं [illegible] । अप्रमत्तस्य सप्तम[illegible]पारि हारिणः ॥ २५३ ॥

अध्यवसायविशुद्धेः प्रमत्तयोगैर्विशुद्ध्यमानस्य ।
चारित्रशुद्धिमग्र्यामवाप्य लेश्याविशुद्धिं च ॥ २५४ ॥

१–आत्मारामस्याभिरमणम् [illegible]–फ. पुस्तके ।

टीका—अध्यवसायविशुद्धिर्मनःपरिणामस्य निर्मलता। तस्या अध्यवसायविशुद्धेर्हेतुभूताः। प्रमत्तयोगैर्विशुद्ध्यमानस्य प्रमत्तस्य ये व्यापाराः मनोवाक्कायविषयास्तैर्विशोध्यमानस्य विशुद्ध्यमानस्येति। ततश्चारित्रशुद्धिमग्र्यां प्रधानभूतामवाप्य लेश्याविशुद्धिं च तैजसीपद्मशुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायाः प्रकृष्टां विशुद्धिं समाप्नोतीति ॥ २५४ ॥

एताः सर्वाः पूर्वकालाः संप्रत्युत्तरक्रियाभिर्दर्शयन्नाह—

तस्यापूर्वं करणमथ घातिकर्मक्षयैकदेशोत्थम् ।
ऋद्धिप्रवेकविभववदुपजातं जातभद्रस्य ॥ २५५ ॥

टीका—अथैतदुक्तमेतदनन्तरमपूर्वकरणमुपजातमप्राप्तपूर्वं घातिकर्माणि ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाख्यानि तेषामेकदेशक्षयः। कस्यचित् सर्वक्षयः। तस्मादुत्थमाविर्भूतम्। ऋद्धिप्रवेकाः ऋद्धिप्रकारास्तेषां विभवः प्राचुर्यं ते यत्र विद्यन्ते तत् ऋद्धिप्रवेकविभववत्। भद्रं कल्याणं ऋद्धिप्रकारास्तस्यामवस्थायामुपजायन्ते विपुलमतिवैक्रियाणिमादिकाः। जातं भद्रं कल्याणमस्येति। तस्य जातभद्रस्य ॥ २५५ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनमें जो गुण हैं उनके समूहका, हिंसा आदि अनर्थोंका, कर्मोंके विपाकका और अनेक प्रकारकी आकृतियोंका विचार करनेवाले, संसारसे सर्वदा भयभीत, क्षमाशील, गर्वरहित, मायारूपी कालिमाको धो डालनेसे निर्मल, सब तृष्णाओंके जेता, वन और नगरमें, मित्रवर्ग और शत्रुवर्गमें समबुद्धि, शरीरको वसूलेसे छीलनेमें और चन्दनसे लिप्त करनेमें समान, अपनी आत्मामें ही रमते हुए, तृण और मणिको समान समझनेवाले, ढोएकी तरह सुवर्णके भी त्यागी, स्वाध्याय और ध्यानमें तत्पर, प्रमादसे बिल्कुल निर्लिप्त, परिणामोंके विशुद्ध होनेके कारण योगोंसे विशुद्ध, प्रधान चारित्रकी विशुद्धि और लेश्या-विशुद्धिको प्राप्त कल्याणमूर्ति, साधुके घातिकर्मके क्षयके एकदेशसे उत्पन्न होनेवाला और अनेक ऋद्धियोंके वैभवसे युक्त अपूर्वकरण नामका आठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो धर्मध्यानके पहले भेदमें तीर्थङ्करोंके वचनरूप आगमोंमें अहिंसा वगैरह जो अनेक गुण हैं उनका चिन्तन करता है, दूसरे भेदमें हिंसा असमाधि आदि जो पाप हैं—उनका विचार करता है, तीसरे भेदमें कर्मोंके शुभाशुभ फलका विचार करता है और चतुर्थ भेदमें द्रव्योंके और क्षेत्रके पूर्वोक्त अनेक आकारोंका विचार करता है, तथा इन धर्मध्यानोंको करके जो रातदिन संसारसे डरता हुआ रहता है, दस धर्मोंके मूल क्षमाधर्मका पालन करता है, गर्वसे रहित है, जिसने मायाचाररूपी कालिमाको धो डाला है जिसे लोभ छू भी नहीं गया है, जो वन और नगरमें, शत्रु और मित्रमें, चन्दनके लेप और वसूलाके प्रहारोंमें तृण और मणिमें तथा ढेले और सोनेमें समान भाव रखता है। अर्थात् जिसके लिए जैसा ही वन है वैसा ही नगर है, जो शत्रु और मित्र—दोनोंको ही अपनेसे भिन्न जानकर समान भावसे देखता है, उसके शरीरको जो वसूलेसे छीलता है तथा जो उसपर चन्दनका लेप करता है, उन

दोनोंमें ही जो समभाव रखता है, जिसकी दृष्टिमें मालक तिनके और बहुमूल्य मणि समान हैं, जो मिट्टीके ढेलेकी तरह सोनेकी भी इच्छा नहीं करता जो अपनी आत्मामें ही लीन रहता है—बाह्य पदार्थोंसे जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है, स्वाध्याय और ध्यानमें तत्पर रहता है, समस्त प्रमादोंके पाशमें नहीं फटकने तथा परिणामोंके निर्मल होनेके कारण जिसके मन वचन और कायका व्यापार उत्तरोत्तर विशुद्ध होता जाता है, जिसका चारित्र विशुद्ध है लेश्या विशुद्ध है वह कल्याणमूर्ति साधु अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानको प्राप्त करता है। इस गुणस्थानमें अपूर्व अर्थात् जो कभी प्राप्त नहीं हुए—एसे करण अर्थात् परिणाम होते हैं, इसलिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं। यह अपूर्वकरण घातिकर्मोंके एकदेशके क्षय होनेपर प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होनेसे अनेक ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि—धर्मध्यानोंको करनेसे साधुको अनेक गुणोंकी प्राप्ति होनेके साथ ही साथ उन गुणोंकी प्राप्ति होती है, जो गुण उसे अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानको प्राप्त करानेमें समर्थ होते हैं॥ २१०-२५१ २५२ २५३ २५४ २५५॥

सातर्द्धिरसेष्वगुरुः सम्प्राप्य विभूतिमसुलभामन्यैः ।
सक्तः प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनिः सङ्गम् ॥ २५६ ॥

टीका—सात ऋद्धौ रसे च अगुरुरनादरः। सम्प्राप्य विभूतिमाकाशगमनादिकाम्। अन्यैरसुलभामप्राप्ताम्। तादृग्भूतारिणि सक्तोऽभिरतः प्रशमरतिसुखे। न भजति न करोति। तस्यां विभूतौ मुनिः संगं स्नेहं नापश्यत्यपि लब्धीरित्यर्थः ॥ २५६ ॥

अर्थ—सात ऋद्धि और रसमें आदर न रखनेवाला मुनि दूसरोंको प्राप्त न हो सकनेवाली ऋद्धिको प्राप्त करके वैराग्यके प्रेमसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें आसक्त होता हुआ उस ऋद्धिसे ममत्व नहीं करता है।

भावार्थ—धर्मध्यान करनेसे मुनिको अनेक ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। किन्तु वह मुनि सांसारिक-सुख ऋद्धि और रसनेन्द्रियके विषयमें आदरभाव नहीं रखता और रात दिन वैराग्यजन्य सुखमें ही निमग्न रहता है। अतः उन सुखम ऋद्धियोंको पाकर भी उसे उनसे जरा भी मोह नहीं होता है।

सर्वसुरपतिऋद्धिभ्योऽपि यतीनामृद्धिर्भवति परमातिशायिनीत्यादिति दर्शयति—

मुनियोंको जो ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं वह सब ऋद्धियोंसे उत्कृष्ट होती हैं, यह बतलाते हैं—

या सर्वसुरवरर्द्धिर्विस्मयनीयापि सानगारर्द्धेः ।
नार्घति सहस्रभागं कोटिशतसहस्रगुणितामपि ॥ २५७ ॥

टीका—सर्वसुराणां ये वराः कल्पाधिपतय इन्द्राः सामान्यः कल्पातीताश्च। तेषामृद्धिर्विभूतिर्या सा विस्मयकारिणी भवति प्राणिनाम्। अतो विस्मयनीयापि सती सा विभूतिरनगारर्द्धेः साधुश्रमणस्यर्द्धेर्नार्घति सहस्रभागम्। कोटिशतसहस्रगुणितापि सा सुरवरर्द्धिः कोटिलक्षगुणितापि नार्घति। सहस्रभागमप्यनगारर्द्धेर्न तुल्यतामतीत्यर्थः ॥ २५७ ॥

अर्थ—समस्त देवताओंमें प्रधान इन्द्र आदिकी जो ऋद्धि होती है वह आश्चर्यकारी होती है। किन्तु यदि उस आश्चर्यकारिणी ऋद्धिको एक लाख कोटिसे गुणा किया जाये तो भी वह ऋद्धि मुनिको प्राप्त हुई ऋद्धिके एक हजारवें भागके बराबर भी नहीं होती।

भावार्थ—संसारके प्राणियोंकी दृष्टिमें देवोंके अधिपति इन्द्रों तथा कल्पातीत अहमिन्द्रोंकी विभूति बड़ी आश्चर्यकारिणी होती है।—उसे सुनकर उन्हें आश्चर्य होता है। परन्तु मुनिजनोंको जो ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनके सामने वे ऋद्धियाँ एकदम तुच्छ हैं।

तज्जयमवाप्य जितविघ्नरिपुर्भवशतसहस्रदुष्प्रापम् ।
चारित्रमयाख्यातं सम्प्राप्तस्तीर्थकृत्तुल्यम् ॥ २५८ ॥

टीका—तस्या जयस्तज्जयस्तमवाप्य। तज्जय विभूतेरुपभोगनम्। उत्पन्नानामपि लब्धीनां साधवो न परिभोगाय विद्यते। जिता निराकृता विघ्नप्रधाना रिपवः कषायाः क्रोधादयो भवशतसहस्रैर्जन्मलक्षाभिरपि दुष्प्रापं दुर्लभं चारित्रमथाख्यातं यथाख्यातमथाख्यातं सम्प्राप्तस्तीर्थकृत्तुल्यम्, यथा तीर्थकरस्तत्प्राप्तं तथाऽसावपि भवतीति विशिष्टेनोपमा क्रियते ॥ २५८ ॥

अर्थ—विघ्न करनेवाले क्रोधादि कषायोंका जेता मुनि, उन ऋद्धियोंपर विजय प्राप्त करके लाखों भवोंमें भी दुर्लभ यथाख्यातचारित्रको तीर्थंकरके समान प्राप्त करता है।

भावार्थ—ऋद्धियोंके प्राप्त होनेपर भी साधुजन उनका उपभोग नहीं करते हैं। अतः ऋद्धियोंका उपभोग न करना ही उनपर विजय प्राप्त करना है। तथा यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिमें क्रोधादि कषाय बाधक हैं। जो साधु उन कषायोंको जीतकर प्राप्त हुई ऋद्धियोंपर भी विजय प्राप्त करता है, उसे तीर्थंकरोंके समान चारित्रकी प्राप्ति होती है। अर्थात् जिस प्रकार तीर्थंकर यथाख्यातचारित्रको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार वह भी यथाख्यातचारित्रको प्राप्त करता है। यह यथाख्यातचारित्र लाखों भवोंमें भी दुर्लभ है। इसके बिना तीर्थंकरोंको भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीसे उसका महत्त्व बतलानेके लिए तीर्थंकरकी उपमा दी है।

शुक्लध्यानाद्यद्वयमवाप्य कर्माष्टकप्रणेतारम् ।
संसारमूलबीजं मूलादुन्मूलयति मोहम् ॥ २५९ ॥

१— मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणं अथाख्यातचारित्रमित्या-ख्यायते। पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तत्प्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम्। अथ शब्दस्यानन्तर्यार्थ-वृत्तित्वात् निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः। तथा—यथाख्यातमिति वा यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यात-त्वात्। इति शब्दः परिसमाप्तौ ज्ञेयः। ततो यथाख्यातचारित्रात् सकलकर्मक्षयपरिसमाप्तिर्भवतीति ख्याप्यते।”

—श्रीपूज्यपादकृत-सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र १८ की व्याख्या।

टीका—शुक्लध्यानस्याद्यद्वयमवाप्य पृथक्त्ववितर्कसविचारमेकत्ववितर्कमविचारं च। किं करोति ? मोहमुन्मूलयति। कीदृशं मोहम् ? कर्माष्टकस्य प्रणेतारं नायकम्। संसारतरोर्मूलमाद्यं प्रथमं बीजम्। समूलकाषं कषत्युन्मूलयतीति ॥ २५९ ॥

अर्थ—आदिके दो शुक्लध्यानोंको प्राप्त करके आठों कर्मोंके नायक, संसारके कारण मोहनीय कर्मको जड़से उखाड़ फेंकता है।

भावार्थ—आठों कर्मोंमें मोहनीयकर्म ही प्रधान है। वही संसाररूपी वृक्षका बीज है। मुनि पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कअविचार नामक शुक्लध्यानके बलसे उस मोहनीयकर्मको जड़से नष्ट कर डालता है।

अथ केन प्रकारेण मोहोन्मूलनमित्याह—

मोहनीयकर्मके उन्मूलन करनेकी प्रक्रिया बतलाते हैं—

पूर्वं करोत्यनन्तानुबन्धिनाम्नां क्षयं कषायाणाम्।
मिथ्यात्वमोहगहनं क्षपयति सम्यक्त्वमिथ्यात्वम् ॥ २६० ॥

टीका—अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभांस्तान् प्रथमं क्षपयति। कीदृशं तत् ? मोहगहनं मोहो गहनो घनो यस्मिन् मिथ्यात्वे तन्मोहगहनम्। ततः सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपयति ॥ २६० ॥

अर्थ—सबसे पहले अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ नामकी कषायोंका क्षय करता है। उसके बाद मथकर मिथ्यात्व मोहका क्षय करता है और इसके पश्चात् सम्यक्त्व-मिथ्यात्वका क्षय करता है।

भावार्थ—मोहनीयकर्मके दो मूल भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं और चारित्रमोहनीयके पच्चीस। इनमेंसे दर्शनमोहनीयकर्म प्रबल है और इसके तीन भेदोंमें भी मिथ्यात्वकर्म बलवान है। उसके रहनेसे ही मोहनीयकर्म प्रबल रहता है। मोहनीयकर्मके इन अट्ठाईस भेदोंमेंसे सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषायोंका नाश करता है। उसके बाद क्रमशः मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका नाश करता है।

सम्यक्त्वमोहनीयं क्षपयत्यष्टावतः कषायांश्च।
क्षपयति ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदमथ तस्मात् ॥ २६१ ॥

टीका—ततः सम्यक्त्वं क्षपयति। ततोऽप्रत्याख्यानचतुष्कं प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कं च क्षपयति। ततो नपुंसकवेदम्। पश्चात् स्त्रीवेदं पुरुषः क्षपकश्रेणिमारोहन्। यदा स्त्री समारोहति तदा स्त्रीवेदं पश्चात् क्षपयति। अथ नपुंसक आरोहति ततो नपुंसकवेदं पश्चात् क्षपयति ॥ २६१ ॥

अर्थ—उसके बाद सम्यक्त्वका क्षपण करता है। उसके बाद आठ कषायोंका क्षपण करता है। उसके बाद नपुंसक वेदका नाश करता है। उसके बाद स्त्रीवेदका नाश करता है।

भावार्थ—मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका क्षपण करनेके पश्चात् क्रमशः सम्यक्त्व अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ नपुंसक वेद और स्त्रीवेद भी क्षपण करता है। इतना विशेष है कि यदि स्त्रीवेदी क्षपकश्रेणी चढ़ता है तो स्त्रीवेदका क्षपण बादमें करता है और यदि नपुंसकवेदी क्षपकश्रेणी चढ़ता है तो नपुंसकवेदका क्षपण बादमें करता है। अर्थात् पुरुषवेदी क्रमसे नपुंसकवेद स्त्रीवेद और पुरुषवेदका क्षपण करता है। स्त्रीवेदी क्रमसे नपुंसकवेद पुवेद और स्त्रीवेदका क्षपण करता है तथा नपुंसकवेदी क्रमसे स्त्रीवेद पुवेद और नपुंसकवेदका क्षपण करता है।

हास्यादि तथा षट्कं क्षपयति तस्माच्च पुरुषवेदमपि।
सञ्ज्वलनानपि हत्वा प्राप्नोत्यथ वीतरागत्वम् ॥ २६२ ॥

टीका—हास्य रतिररतिर्भयं शोको जुगुप्सा चेति षट्कम्। ततः पुरुषवेदं क्षपयति। सञ्ज्वलनानपि क्षपयित्वा वीतरागत्वमवाप्नोति। उन्मूलितअष्टाविंशतिविधे मोहे वीतरागो भवतीति ॥ २६२ ॥

अर्थ—उसके बाद हास्य रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्साका क्षय करता है। उसके बाद पुरुषवेदका क्षय करता है। उसके बाद सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभको नष्ट करके वीतरागताको प्राप्त करता है।

भावार्थ—उक्त क्रमसे मोहनीयकर्मकी २८ प्रकृतियोंके नष्ट होनेपर मुनि वीतराग हो जाता है।

सर्वोद्घातितमोहो निहतक्लेशो यथा हि सर्वज्ञः।
भात्यनुपलक्ष्यराह्वंशोन्मुक्तः पूर्णचन्द्र इव ॥ २६३ ॥

टीका—सर्वः सकल उद्घातितो ध्वस्तो मोहो येन स सर्वोद्घातितमोहः। निहताः क्लेशा येनासौ तथोक्तः। क्लेशयन्तीति क्लेशाः कषायादय एव दुःखसाधनत्वात् पृथगुपात्ताः। यथा हि सर्वज्ञः समस्तकेवलज्ञानो भवति। स तु क्षपितसकलमोहः सर्वज्ञवद्भाति शोभते। अनुपलक्ष्यराह्वंशोन्मुक्तः अनुपलक्ष्यो राहोरंशो मुखादिविभागस्तेन मुक्तः पूर्णचन्द्र इव। अतिसंक्षेपेणोक्ता क्षपकश्रेणी प्रकरणकारेण, प्रवचनमात्रत्वात्। अधुना विशेषणोच्यते—अनन्तानुबन्धिनश्चतुरः कषायान् युगपत् क्षपयति। तथानन्तभागं शेषं मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य मिथ्यात्वं क्षपयति। मिथ्यात्वस्यापि शेषं सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपयति। तच्छेषं सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य सम्यक्त्वमपि क्षपयति। यदि च बद्धायुष्कस्ततः क्षीणसप्तक तत्रैव अवतिष्ठते नोपशमयति। अबद्धायुष्कस्तु अविश्रान्त्या अविच्छेदेन सर्वा अपि मध्यमापादयति। ततोऽष्टौ कषायान् क्षपयति। सप्तमं च सावशेषं पूर्वकं पुरस्तान्नयति। अष्टानां च कषायाणां सङ्ख्येयभाग क्षपयन्

विमध्यभागे नामकर्मण इमाः प्रकृतीः षोडश क्षपयति—नरकतिर्यग्गती द्वे एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयश्चतस्रः, नरकतिर्यग्गत्यानुपूर्व्यौ द्वे, अप्रशस्तविहायोगतिः, स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणशरीरनामानि चत्वारि। दर्शनावरणीयकर्मणश्च तिस्रः प्रकृतीः क्षपयतीमाः—निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिसंज्ञाः। ततो यत्नशेषमष्टानां तत् क्षपयति कषायाणामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणानाम्। ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदं च। ततो हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साः षट् नयति। ततः पुंवेदं त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयभागं संज्वलनक्रोधे प्रक्षिप्य क्रोधमपि त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयभागं संज्वलनमाने प्रक्षिप्य संज्वलनमानमपि त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयभागं (संज्वलनमायायां तां च त्रिधा कृत्वा भागद्वयं युगपत्क्षपयित्वा तृतीयं) संज्वलनलोभे प्रक्षिप्य त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा पश्चात्तृतीयभागं संख्येयानि खण्डानि करोति। तानि क्षपयन् बादरसाम्पराय उच्यते। तत्र च चरमे संख्येयतमे खण्डे असंख्येयानि खण्डानि करोति। तानि क्रमेण क्षपयन् सूक्ष्मसाम्पराय उच्यते। तेष्वपि निःशेषतः क्षपितेषु निर्ग्रन्थो भवति। मोहसागरमुत्तीर्य। तीर्त्वा च मोहसागरमुदन्वन्तं मुहूर्तमात्रं विश्राम्यति। अगाधसमुद्रोत्तीर्णपुरुषवत्। विश्रम्य च समयद्वये शेषे मुहूर्तस्य। तत्र तयोर्द्वयोः समययोः प्रथमे समये निद्रां प्रचलां च दर्शनावरणप्रकृती द्वे क्षपयति। चरमसमये ज्ञानावरणं पञ्चप्रकारम्, दर्शनावरणं चतुर्विधम्, अन्तरायं पञ्चविधं युगपत् क्षपयित्वा केवलज्ञानं प्राप्नोति। एवं द्वाविंशत्युत्तरशतमध्ये षष्ठ्या प्रकृतिभिः क्षपिताभिः केवलज्ञानी भवति॥ २११॥

अर्थ—समस्त मोहको नष्ट करके और क्लेशोंको दूर करके मुनि सर्पकी तरह न दिखाई देनेवाले राहुके मार्गसे छूटे हुए पूर्ण चन्द्रके समान सुशोभित होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरणादि कर्मोंसे मुक्त होनेपर केवलज्ञानसे भासमान होता है उसी प्रकार मोह और क्लेशोंसे मुक्त हुआ मुनि राहुके ग्रहणसे छूटे हुए पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान सुशोभित होता है। यद्यपि मोहमें क्लेशोंका भी अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि कषायोंको ही क्लेश कहते हैं, तथापि उनका दमन दुष्कर होनेसे यहाँ उनको पृथक् ग्रहण किया है।

ग्रन्थकारने अति संक्षेपसे क्षपकश्रेणीका कथन किया है। उसे कुछ विस्तारसे कहते हैं। अनन्तानुबन्धीकी चारों कषायोंका एकसाथ क्षपण करता है। उनके बचे हुए अनन्तवें भागको मिथ्यात्वमें मिलाकर मिथ्यात्वका क्षपण करता है। मिथ्यात्वका भी शेष भाग सम्यग्मिथ्यात्वमें मिलाकर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षपण करता है। उसका भी शेष भाग सम्यक्त्वमें मिलाकर सम्यक्त्वका भी क्षपण करता है। यदि क्षपण करनेवाला भव्य जीव आगामी भवकी आयु बाँध चुकता है तो उक्त सात प्रकृतियोंका क्षपण करके रुक जाता है, ऊपर नहीं चढ़ता है। किन्तु यदि वह अबद्धायुष्क होता है अर्थात् आगामी भवकी आयु नहीं बाँधता तो बिना रुके समस्त क्षपकश्रेणीपर चढ़ जाता है। अतः सात प्रकृतियोंका क्षपण करनेके बाद आठ कषायोंका क्षपण करता है। सब जगह शेष भागको आगेकी प्रकृतिमें मिलाता जाता है। आठों कषायोंके क्षपणाके मध्यमें नामकर्मकी इन तेरह प्रकृतियोंका क्षपण करता है—

नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रेइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यगत्यानुपूर्वी, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्तक और साधारणशरीर। तथा दर्शनावरणकर्मकी निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि—इन तीन प्रकृतियोंका क्षपण करता है। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकी आठ कषायोंका जो भाग अवशिष्ट रहता है, उसका क्षपण करता है। उसके बाद नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका क्षपण करता है। उसके बाद हास्य, रति, अरति, भय शोक और जुगुप्साका क्षय करता है। उसके बाद पुरुषवेदके तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता है और तीसरे भागको संज्वलन मानमें मिला देता है। फिर क्रोधके भी तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता है और तीसरे भागको संज्वलन मानमें मिला देता है। फिर संज्वलन मानके भी तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता—है। और तीसरे भागको संज्वलन मायामें मिला देता है। फिर संज्वलन मायाके भी तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता है, और तीसरे भागको संज्वलन लोभमें मिला देता है। फिर संज्वलन लोभके भी तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता है। उसके बाद एक भागके संख्यात खण्ड करता है। स्थूल खण्डोंका क्षपण करता हुआ मुनि बादरसाम्पराय (नवम गुणस्थानवर्ती) स्थूल कषायवाला कहा जाता है। इनमेंसे जो अन्तिम संख्यातवाँ खण्ड अवशेष रहता है उसके भी असंख्यात खण्ड करता है। उन सूक्ष्म खण्डोंको क्रमसे क्षपण करता हुआ क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय—सूक्ष्म कषायवाला (दशम गुणस्थानवर्ती) कहा जाता है। उन सूक्ष्म खण्डोंका भी पूरी तरहसे क्षपण करनेपर निर्ग्रन्थ (बारहवें गुणस्थानवर्ती) होता है। यह निर्ग्रन्थ मोहरूपी महासमुद्रको पार कर लेता है। और पार करके एक मुहूर्त तक उसी तरह विश्राम करता है, जिस प्रकार अथाह समुद्रको पार करके कोई मनुष्य विश्राम करता है। इस प्रकार विश्राम करनेके पश्चात् जब मुनिके दो समय शेष रह जाते हैं, तो उन दो समयोंमेंसे पहले समयमें दर्शनावरणकी निद्रा और प्रचला प्रकृतिका क्षपण करता है और अन्तिम समयमें ज्ञानावरणकी पाँच दर्शनावरणकी चार, और अन्तरायकी पाँच प्रकृतियोंका एकसाथ क्षपण करके केवलज्ञानको प्राप्त करता है। इस प्रकार एकसौ अड़तीस प्रकृतियोंमेंसे साठ प्रकृतियोंका क्षपण करनेपर केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है।

१— अपरः—[illegible] कश्चिदिमाः षट् प्रकृतीः क्षपयतीति [illegible] अनिवृत्तिबादरगुणस्थाने। [illegible] अपूर्वकरणमनिवृत्तिं च कृत्वा [illegible] अपूर्वकरणो [illegible] गुणस्थान [illegible] प्रकृतिस्थितिरूपाः [illegible] अनिवृत्तिबादरसम्परायोपशमकगुणस्थानमभिगम्य नपुंसकवेदस्त्रीवेदौ [illegible] प्रकृतीः [illegible] सूक्ष्मसम्पराय [illegible] भवति । [illegible] । अथवा पुनरपि [illegible] प्रतिनिवर्तते। स एव [illegible] पूर्ववत् [illegible] पूर्ववत्पूर्व- [illegible] नपुंसकवेदं [illegible] स्त्रीवेदं [illegible] पुंवेदे प्रक्षिप्य [illegible] पुंवेदं क्रोधसंज्वलने क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने मानसंज्वलनं मायासंज्वलने मायासंज्वलनं च लोभसंज्वलने [illegible] अनिवृत्तिबादरसम्परायस्य [illegible] सूक्ष्म- [illegible] सूक्ष्मसम्पराय [illegible] निर्ग्रन्थो [illegible] क्षीणकषायवीतराग [illegible]

तस्यां च क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य कावस्था जायत इत्याह—

क्षपकश्रेणीकी अवस्थाका वर्णन करते हैं —

सर्वेन्धनैकराशीकृतसन्दीप्तो ह्यनन्तगुणतेजाः ।
ध्यानानलस्तपःप्रशमसंवरहविर्विवृद्धबलः ॥ २६४ ॥

टीका—सर्वेन्धनानां पुञ्जीकृतानामेकराशीकृतः सन्दीप्त इन्धनराशिर्ज्वालामिला गिताग्निर्यथा दहति एवमनन्तगुणतेजा ध्या (ध्या) नानलः । तपो द्वादशभेदम् । प्रशमः कषायजयः संवर आस्रवनिरोधः तपःप्रशमसंवरा एव हविर्घृतं तत्प्रक्षेपात् विशेषेण वृद्धं बलं शक्तिर्यस्य ध्या (ध्या) नानलस्येति ॥ २६४ ॥

स खलु ध्या (ध्या) नानलः किं करोतीत्याह—

क्षपकश्रेणिमुपगतः स समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म ।
क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः स्यात् परकृतस्य ॥ २६५ ॥

टीका—क्षपकश्रेणिमनुप्राप्तः परिवृद्धः कर्माणि ध्या (ध्या) नानलः स समर्थः शक्तः । सर्वकर्मिणां सर्वेषां संसारिणां कर्मवतां कर्मणां यत् कर्म । तेषु व्यवस्थितं पुञ्जीकृतं तत् क्षपयितुमेकोऽसहायः । यदि कर्मणा परकृतस्य तस्य तस्मिन् क्षपकश्रेणिस्थे संक्रमः स्यात् तत् नास्ति । तस्मात् सामर्थ्यमात्रमिदं तस्य वर्ण्यते ध्या (ध्या) नानलस्य ॥ २६५ ॥

अर्थ—सब ईंधनका एक ढेरकर उसमें आग लगानेपर जैसे वह जलता है उसी तरह प्रज्वलित अनन्तगुण तेजवाली तप वैराग्य और संवररूपी घीके डालनेसे खूब बलशाली क्षपकश्रेणीमें प्राप्त हुई ध्यानरूपी अग्नि, यदि अन्य जीवोंके कर्मोंका भी उसमें संक्रमण हो सकता हो तो वह अकेली ही सब जीवोंके कर्मोंका क्षपण करनेमें समर्थ है ।

भावार्थ—क्षपकश्रेणीमें तप वैराग्य और संवरके बलसे ध्यानरूपी अग्नि इतनी प्रबल हो जाती है कि यदि उसमें समस्त संसारी जीवोंके कर्मोंको डाल दिया जावे तो वे सब जलकर भस्म हो सकते हैं । किन्तु अपने ध्यानसे अपने ही कर्मोंका क्षपण किया जा सकता है अतः यहाँपर केवल उसकी शक्तिको बतलाया है ॥ २६४-६५ ॥

[illegible] तत्त्वार्थटीकायाम् [illegible] [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] कर्मक्षयः [illegible] भवति ।

—श्रीमद्भट्टाकलंकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिक [illegible] पृ० [illegible]
[illegible] २४७१ [illegible] ।

१ [illegible] पुस्तके ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

परकृतकर्मणि यस्मान्न क्रामति संक्रमो विभागो वा ।
तस्मात् सत्त्वाना कर्म यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ॥ २६६ ॥

टीका—परेणकृतं कर्म तस्मिन् परकृतकर्मणि विषये। यस्मान्नास्ति संक्रमः। अन्येन कृतम् (कृतमस्तीति) तदन्यस्य मे क्रामति न सङ्क्रान्तिर्भवति। तदन्यस्य कर्मणः संक्रमो मा भूदेकस्य भविष्यतीति नेत्याह—विभागो वा। नाप्यर्धकर्मणो विभागः संक्रमणमस्त्यन्यस्य कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। तस्मात् सत्त्वानां प्राणिनां यस्य यत्कर्म प्राणिनस्तेनैव तद्वेद्यमनुभवनीयमिति। अथवा न क्रामति न क्रमते न भवति संक्रान्तिरिति॥ २६६॥

अर्थ—यतः दूसरेके द्वारा किये हुए कर्ममें न संक्रम होता है और न विभाग होता है। अतः प्राणियोंमेंसे जो प्राणी जिस कर्मको करता है उसे वही भोगता है।

भावार्थ—दूसरेके द्वारा किया हुआ कर्म न तो समस्तका सब ही अन्यके कर्मोंमें जाकर मिल सकता है और न उसका कोई भाग ही अन्यके कर्मोंमें जाकर मिल सकता है। यदि ऐसा हो तो कृतनाश और अकृताभ्यागमका प्रसंग उपस्थित होगा। अर्थात् यदि अन्यका किया हुआ कर्म अन्यको भोगना पड़े तो जिसने कर्म किया है, उसके कर्मका तो नाश हो जायेगा और जिसने कर्म नहीं किया है उसे अकृतकर्मकी प्राप्ति हो जायेगी। और ऐसा होनेसे तो वही लौकिक कहावत चरितार्थ होगी कि "करे कोई और भरे कोई।" अतः जो करता है वही भोगता भी है।

मोहनीयकर्मक्षयाच्छेषकर्मक्षयोऽवश्यं भावीति दर्शयति—

अब यह बतलाते हैं कि मोहनीयकर्मके क्षय होनेपर शेष कर्मोंका क्षय अवश्य हो जाता है—

मस्तकसूचिविनाशात्तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः ।
तद्वत्कर्मविनाशो हि मोहनीयक्षये नित्यम् ॥ २६७ ॥

टीका—तालतरोः शिरसि सूचिका प्ररोहति। तद्विनाशे च तालतरोरवश्यंभावी ध्रुवो नाशः। तद्वत् क्षपककर्मणां विनाशः क्षयोऽष्टाविंशतिविधमोहनीयक्षये ध्रुवो नित्य इत्यर्थः॥ २६७॥

१– एतदेव स्पष्टयन्नाह संक्रमो विभागो वा इतिपर्यन्तः पाठः—ब॰ पुस्तके नास्ति। २–कर्माणि—ब। ३ ब–फ॰–प॰।

अर्थ—जिस प्रकार ताड़ वृक्षके सिरपर जो सूची—भालाकार लगता है, उसके नाशसे ताड़ वृक्षका नाश अवश्य हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीयकर्मके नाशसे शेष कर्मोंका नाश अवश्य हो जाता है।

छद्मस्थवीतरागः कालं सोऽन्तर्मुहूर्तमथ भूत्वा ।
युगपद्विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य ॥ २६८ ॥

टीका—छद्म आवरणं तत्र स्थितः छद्मस्थः, वीतरागश्च क्षपितकषायत्वात्। अन्तर्मुहूर्तं घटिकाद्वयाभ्यन्तरकालं वीतरागो भूत्वा। युगपत् समकमेव। विविधं ज्ञानावरणं मतिज्ञानादिभेदं दर्शनावरणं चतुर्विधम्। विविधमित्यनेकरूपम्। तथाऽन्तरायं दानान्तरायादिप्रकारम्। इत्थं कर्मक्षयमवाप्य ॥ २६८ ॥

किं प्राप्तवानित्याह—

शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुपममनुत्तरं निरवशेषम् ।
सम्पूर्णमप्रतिहतं सम्प्राप्तः केवलज्ञानम् ॥ २६९ ॥

टीका—शाश्वतं सर्वकालभावित्वात्[1] सर्वकालभावित्वभावं नास्यान्तोऽस्ति—अनन्तमपर्यवसानम्। अविद्यमानातिशयं महातिशयम्, न ततः परमतिशयोऽस्ति, न तत् केनचिदतिशय्यत इत्यर्थः। अविद्यमानोपममनुपमम् तत्तुल्यवस्त्वभावात्। अविद्यमानमुत्तरं ज्ञानं यस्य तदनुत्तरम्। निरवशेषमशेषं स्वरूपं सम्पूर्णम् सकलज्ञेयग्राहित्वात्। अविद्यमानप्रतिघातमप्रतिहतं सर्वतः पृथ्वीसमुद्रादावपि न प्रतिहन्यते सम्प्राप्तः प्राप्तवानेवंविधं केवलज्ञानम् ॥ २६९ ॥

अर्थ—उसके बाद अन्तर्मुहूर्त कालतक छद्मस्थ वीतराग रहकर वह मुनि एकसाथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तरायकर्मका क्षय करके नित्य, अनन्त, निरतिशय, अनुपम, अनुत्तर, निरवशेष, सम्पूर्ण और अप्रतिहत केवलज्ञानको प्राप्त करता है।

भावार्थ—बारहवें गुणस्थानका नाम छद्मस्थवीतराग है। छद्म आवरणको कहते हैं। बारहवें गुणस्थानके जीवोंके ज्ञानादिक गुणोंपर आवरण रहता है। अतः उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। और कषायोंके क्षय हो जानेपर बारहवें गुणस्थानकी प्राप्ति होती है। अतः उसे वीतराग कहते हैं। इसलिए बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि छद्मस्थवीतराग कहे जाते हैं, बारहवें गुणस्थानमें आनेके बाद मुनि एक अन्तर्मुहूर्त कालतक ठहरकर ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार और अन्तरायकी पाँच प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है। इनका क्षय करते ही उसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। वह केवलज्ञान सदा रहता है उसका कभी अन्त नहीं होता, उससे बढ़कर कोई अतिशय नहीं है। उसके समान दूसरी कोई

१—शाश्वतं सर्व-फल० पुस्तके। २ प्राप्ति सर्वेष–ब०। ३–छद्मस्थवीतरागस्याभ्यन्तरम् च।

भावार्थ—जिस केवलीके आयुकर्मकी स्थिति कम होती है और शेष तीनों कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है तो वह वेदनीयादि कर्मोंकी स्थितिको आयुकर्मकी स्थितिके बराबर करनेके लिए समुद्घात करते हैं। उत्कृष्ट गमनको समुद्घात कहते हैं। इसमें आत्माके प्रदेश शरीरके बाहर फैलकर समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो जाते हैं। अतः यह उत्कृष्ट गमन कहलाता है। इससे भी उत्कृष्ट अन्य कोई गमन नहीं होता, क्योंकि लोकसे बाहर आत्माका गमन नहीं होता।

तस्य चाय विधिरुच्यते—

समुद्घातकी विधि बतलाते हैं।

दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ २७४ ॥

टीका—स्वशरीरप्रमाणदण्डबाहुल्यमोर्ध्वमधश्चात्मप्रदेशान् विक्षिपत्यालोकान्तात्। तं प्रथमे समये दण्डम्। द्वितीयसमये तु कपाटीकरोति दक्षिणोत्तरतो विस्तारयत्यालोकान्तात्। एवं तृतीयसमये तदेव कपाटं मन्थानं करोति पूर्वापरयोर्विस्तारयत्यालोकान्तात्। एवं चतुर्थसमये मन्थानान्तराणि पूरयित्वा चतुर्थे तु लोकव्यापी भवति। एवमात्मप्रदेशेषु निरावरणेन वीर्येण विरलितेषु कर्म वेद्यादिमयमायुषा समं करोति। आयुष्कं तु नापवर्तते। अनपवर्तित्वादेवेत्युक्तम्। आत्मप्रदेशविस्तारणाच्च वेद्यादिकर्म अतिरिक्तं क्षयं गच्छदायुषा सह समीकरोति ॥ २७४ ॥

अर्थ—प्रथम समयमें दण्ड, दूसरे समयमें कपाट, तीसरे समयमें मथानी, और चौथे समयमें लोकव्यापी होता है।

भावार्थ—पहले समयमें अपने शरीरके बराबर मोटे दण्डके आकार ऊपर और नीचे लोकके अन्ततक आत्माके प्रदेशोंको विस्तारता है। दूसरे समयमें उन्हें कपाटके आकार करता है अर्थात् दक्षिण उत्तर दिशामें लोकके अन्ततक फैलाता है। तीसरे समयमें उस कपाटको मथानीके आकार करता है, अर्थात् पूर्व-पश्चिम दिशामें लोकके अन्ततक फैलाता है। तथा चौथे समयमें मथानीके जो अन्तराल बाकी रह जाता है उन्हें पूरकर लोकव्यापी हो जाता है। इस प्रकार करनेसे निरावरण अनन्तवीर्यके द्वारा आत्माके प्रदेशोंको फैलानेपर वेदनीय आदि तीन कर्मोंको आयुकर्मके बराबर करता है किन्तु आयुकर्मका अपवर्तन नहीं करता। क्योंकि चरमशरीरीकी आयुका घात नहीं हो सकता। अतः आत्माके प्रदेशोंको फैलानेसे अतिरिक्त कर्मोंका क्षय होकर वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म भी आयुकर्मके बराबर ही हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें गीले वस्त्रका दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार गीले वस्त्रको इकट्ठा करके

१–तत्र प्रथमसमये तु दण्डं कपाटीकरोति–ब। २–समये तु दण्ड कपा–फ। ३–चत्वारि–फ, ब। ४–लोकव्यापि चतुर्थे–प० ब०। ५–चरमशरीर–प० पुस्तके।

यदि एक जगह रख दिया जावे तो उसे सूखनेमें बहुत समय लगता है, किन्तु यदि उसे फैला दिया जावे तो वह जल्दी ही सूख जाता है, उसी प्रकार संकुचित दशामें जो कर्मरज आत्मासे पृथक् होनेमें अधिक समय लेती है वही समुद्घात दशामें आत्माके प्रदेशोंके फैलाये जानेपर कम समयमें पृथक् होनेके योग्य हो जाती है।

संहरति पञ्चमेत्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे।
सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ २७५ ॥

टीका—एवं चतुर्भिः समयैर्लोकं क्रमेण व्याप्य चतुर्भिरेवं समयैर्विपरीतं संहरति पञ्चमे समये मन्थानान्तराण्युपसंहरति। षष्ठे समये मन्थानं संहरति। सप्तमे समये कपाटम्। अष्टमे समये दण्डमुपसंहृत्य शरीरस्थ एव भवति ॥ २७५ ॥

अर्थ—पाँचवें समयमें अन्तरालके प्रदेशोंको संकोचता है। छट्ठे समयमें मन्थानको संकोचता है। सातवें समयमें कपाटको संकोचता है और आठवें समयमें दण्डको संकोचता है।

भावार्थ—इस प्रकार उक्त रीतिसे चार समयमें क्रमसे लोकको व्याप्त करके चार ही समयमें उससे विपरीत क्रमसे प्रदेशोंका उपसंहार करता है। अर्थात् पाँचवें समयमें मंथानीके अन्तरालोंमें जो आत्म-प्रदेश हैं, उनका संकोच करता है। और इस प्रकार लोकव्यापीसे पुनः मथानीके आकार करता है। छट्ठे समयमें पूर्व-पश्चिमके प्रदेशोंका संहार करके मंथानीसे पुनः कपाटके आकार करता है। और सातवें समयमें उत्तर-दक्षिणके प्रदेशोंका संहार करके कपाटसे दण्डके आकार करता है। और आठवें समयमें दण्डका भी उपसंहार करके पहलेकी तरह अपने शरीरमें ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार चार समयमें दण्ड कपाट मंथानी और लोकव्यापी तथा चार समयमें मंथानी कपाट दण्ड और अपने शरीरमें स्थित होता है। इस प्रकार केवली-समुद्घातमें आठ समय लगते हैं।

अथ कस्मिन् समये को योगः समुद्घातकाले भवतीत्याह—

समुद्घातमें किस समय कौन योग होता है? यह बतलाते हैं—

औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ २७६ ॥

प्रथमेऽष्टमे च समये औदारिकं एव योगो भवति शरीरस्थत्वात्। कपाटोपसंहरणे सप्तमः। मन्थसंहरणे षष्ठः। कपाटकरणे द्वितीयः। एतेषु त्रिष्वपि समयेषु कार्मणव्यतिमिश्र औदारिक योगो भवति। कार्मण शरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च। समयत्रयेऽपि

१—चतुरोऽप—फ.। २—औदारिक प—फ.। ३—औदारिक एव—फ.। ४—कारिकेयं मुद्रितटीका संस्करणे नास्ति।

तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥ १ ॥ मन्थान्तरपूरणसमयश्चतुर्थः । मन्थान्तरसंहरणसमयः पञ्चमः । मन्थानकरणसमयस्तृतीयः । समयत्रयेऽप्यस्मिन् कार्मणशरीरयोगः । तत्र च नियमेनैव जीवो भवत्यनाहारकः ॥ २७६ ॥

अर्थ—पहले और आठवें समयमें केवलीके औदारिककाययोग होता है । और सातवें, छठे तथा दूसरे समयमें औदारिकमिश्रयोग होता है ।

भावार्थ—पहले और आठवें समयमें औदारिकयोग ही होता है । क्योंकि उस समय केवली अपने शरीरसे ही स्थिर होते हैं । कपाटका उपसंहार सातवें समयमें होता है । मंथानीका उपसंहार छठे समयमें होता है और कपाटका आकार द्वितीय समयमें होता है । इन तीनों समयोंमें औदारिकमिश्रकाययोग रहता है ।

का० २७६ के अन्तर्गत कारिकाका व्याख्यान.—

अर्थ— चौथे, पाँचवे और तीसरे समयमें केवली कार्मणकाययोगवाले होते हैं । इन तीनों समयोंमें वे नियमसे अनाहारक होते हैं ।

भावार्थ—चौथे समयमें मंथानीके अन्तरालोंको भरा जाता है, अर्थात् लोकव्यापी होता है । पाँचवें समयमें मंथानीके अन्तरालोंका उपसंहार करता है और तीसरे समयमें मंथानीके आकार होता है । इन तीनों ही समयोंमें कार्मणकाययोग होता है और उसमें जीव नियमसे अनाहारक होता है ।

स समुद्घातनिवृत्तोऽथ मनोवाक्काययोगवान् भगवान् ।
यतियोग्ययोगयोक्ता योगनिरोधं मुनिरुपैति ॥ २७७ ॥

टीका—स खलु केवली समीकृतचतुष्कर्मा । ततः समुद्घातान्निवृत्तः । तदनन्तरं मनोवाक्काययोगी भगवान् योगत्रयवर्तीति । तत्र मनोयोगः केवलिनः कुतः सम्भाव्यते—यदि नाम अनुत्तरसुरो मनसा तमर्थं एव पृच्छेत् अन्यो वा देवो मनुष्यो वा ततो भगवान् मनोद्रव्याण्यादाय मनःपर्याप्तिकरणेन तत्प्रश्नव्याकरणं करोति सत्यमनोयोगेन असत्यामृषामनोयोगेन व्याकरोति । तथा वाग्योगोऽपि भगवतः सत्यः असत्यामृषारूपो वा । काययोगस्त्वौदारिकादिगमनादिक्रियासाधनः । यतियोग्ययोगयोक्तेत्यनेनैतत् प्रतिपादितम् । तस्यामवस्थायां स यतिः केवली योग्यमुचितं योगं सत्यरूपमसत्यमृषारूपं वा युङ्क्ते ॥ २७७ ॥

अर्थ—मन वचन और काय योगवाले वह केवलीभगवान् समुद्घातसे निवृत्त होकर मुनियोंके योग्य योगको करते हुए योगका निरोध करते हैं ।

---

१ चौथे म—फ० । २—तरायो म—च । ३—नैव वा व्या—फ०ब० । ४—वेदयते— प० व० ।

भावार्थ—यह केवली चारों कर्मोंको बराबर करके समुद्घातसे निवृत्त हो जाते हैं। उसके बाद सबके पहलेकी तरह तीनों योग हो जाते हैं।

शङ्का—केवलीके मनोयोग किस प्रकार है?

उत्तर—यदि कोई अनुत्तरवासी अथवा कोई अन्य देव या मनुष्य अपने स्थानपर ही अपने मनमें प्रश्न करे तो केवलीभगवान् उसके मनोद्रव्योंको जानकर सत्यमनोयोग अथवा अनुभयमनोयोगके द्वारा उन प्रश्नोंका उत्तर देते हैं।

तथा वचनयोग भी भगवान्के सत्य अथवा अनुभयरूप है। शरीरके स्थितिमें सहायक औदारिक आदि काययोग तो उनके होते ही हैं। केवली अवस्थामें वे पवित्रजनोंके योग्य सत्यरूप अथवा अनुभयरूप योगको करते हैं। उसके बाद जब चौदहवें गुणस्थानमें जानेके अभिमुख होते हैं तो योगका निरोध करते हैं।

सम्प्रति तावत् योगनिरोद्धुमिच्छन्ननेन प्रकारेण निरुणद्धि—

अब योग-निरोध करनेकी रीति बतलाते हैं।

पञ्चेन्द्रियोऽथ संज्ञी च पर्याप्तो जघन्ययोगी स्यात्।
निरुणद्धि मनोयोगं ततोऽप्यसंख्यातगुणहीनम् ॥ २७८ ॥

टीका—सयोगस्य स्थितिर्नास्तीति योगोऽवश्यं निरोद्धव्यः। तत्र प्रथमं मनोयोग मापेक्षेपकं निरुणद्धि। मनःपर्याप्त्याख्यं करणं शरीरप्रतिबद्धं येन मनोद्रव्यग्रहणं करोति।

१–ननु केवलिनः क्षयज्ञानोपयोगत्वात् सत्यं तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात्। ज्ञानस्य मोपमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र संशयानध्यवसायाभावादिति न [illegible] मनोयोगस्य सत्त्वमस्तीति तत्र तस्य वचननिरोधात्। किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्; स्वार्थानन्त्यात् श्रोतुरावरणक्षयोपशमातिशयाभावात्। तीर्थंकरवचनमनक्षरत्वात् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम्। एकत्वात्तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वात् ध्वनेरनक्षरत्वसिद्धेः। साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न क्रमविशिष्टवर्णात्मकभूयःपंक्तिकदम्बकस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरोधात्। तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः। अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न द्रव्यमनसः सत्त्वात्। भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद् भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धकाभावात्। तेनात्मनो योगो मनोयोगः। विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न तत्सहकारिकारणक्षयोपशमाभावात्। असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात्।

—श्रीपुष्पदन्त भूतबलि मूलसूत्रकार और षट्खंडागमकी श्रीवीरसेनाचार्यकृत धवलटीकाका १ । १–५ । [illegible] सूत्रकी व्याख्या। म० भा० पृष्ठ २८३–२८४।

२–मायेदिति–पा०।

तद्विपोत्तमनमनन्तवीर्यः सन् मनोविषयं निरुन्धन् निरुणद्धि। पूर्वं पञ्चेन्द्रियस्य संज्ञिनः मनःपर्याप्तिकरणयुक्तस्य प्रथमसमयपर्याप्तकस्य जघन्ययोगस्य मनोद्रव्यवर्गणास्थानानि निरुणद्धि स्वात्मनि। ततोऽपि तत्प्रहणहाभ्यां असंख्येयगुणान्यवस्थानानि निरुणद्धि। पश्चादमनस्को भवति मनःपर्याप्तिरहित इत्यर्थः ॥ २७८ ॥

अर्थ—जो पञ्चेन्द्रिय सैनी पर्याप्तक और जघन्य योगवाला होता है, वह उससे भी असंख्यातगुणे हीन मनोयोगको रोकता है।

भावार्थ—योग सहित जीवकी मुक्ति नहीं होती अतः योगको अवश्य ही रोकना चाहिए। उनमेंसे पहले आपेक्षिक योगका निरोध करता है। मनःपर्याप्ति नामका एक करण शरीरसे सम्बद्ध है, जिसके द्वारा जीव मनोद्रव्यवर्गणाओंको ग्रहण करता है। अतः उस मनःपर्याप्तिके वियोग करनेके लिए अनन्त शक्तिका धारक जीव मनके विषयको रोकता है। उसे रोकनेके लिए वह पहले मनःपर्याप्ति करणसे युक्त पञ्चेन्द्रिय सञ्ज्ञीजीवके पर्याप्तक होनेके प्रथम समयमें जघन्य मनोयोग उसके मनोद्रव्यवर्गणाके स्थानोंको अपनी आत्मामें रोकता है। उसके बाद प्रतिसमय उसके असंख्यातगुणे हीन स्थानों को रोकता है। इसके पश्चात् जब समस्त स्थान रुक जाते हैं तो अमनस्क अर्थात् मनःपर्याप्तिसे रहित होता है।

सारांश यह है कि केवली तीनों योगोंमें से पहले मनोयोगको रोकते हैं। जिन पुद्गलवर्गणाओंसे मन बनता है, उन्हें मनोद्रव्यवर्गणा कहते हैं। और मनोद्रव्यवर्गणाके ग्रहण करनेसे योग शक्तिके व्यापारको मनोयोग कहते हैं। अतः केवली धीरे धीरे मनोयोगका निरोध करके अमनस्क हो जाते हैं।

शङ्का—केवली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा आवे। क्योंकि वहाँपर वस्तुके यथार्थज्ञानका सद्भाव पाया जाता है। परन्तु उनके असत्यमृषामनोयोगका सद्भाव संभव नहीं है। क्योंकि वहाँपर संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है?

समाधान—नहीं। क्योंकि संशय और अनध्यवसायके कारणरूप वचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है। अतः सयोगीजिनमें अनुभय मनोयोगका सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—केवलीके वचन संशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं, इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान—केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशय रहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है।

शङ्का—तीर्थंकरके वचन अनक्षररूप होनेके कारण ध्वनिरूप हैं और इसलिए वे एकरूप हैं। और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं?

समाधान—नहीं। क्योंकि केवलीके वचनमें 'स्यात्' इत्यादि रूपसे अनुभयरूप वचनका सद्भाव पाया जाता है। इसलिए केवलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है।

शङ्का—केवलीकी ध्वनिको साक्षर मान लेनेपर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेषभाषारूप नहीं हो सकेंगे?

समाधान—नहीं। क्योंकि क्रम विशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तियोंके समुच्चयरूप और सर्व श्रोताओंमें प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवलीकी ध्वनि सम्पूर्ण भाषारूप होती है, ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—जब कि वह अनक्ष भाषारूप है तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है?

समाधान—नहीं। क्योंकि केवलीके वचन इसी भाषारूप ही हैं ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है। इसलिए उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—केवलीके अतीन्द्रियज्ञान होता है, इसलिए उनके मन नहीं पाया जाता है?

समाधान—नहीं। क्योंकि उनके द्रव्यमनका सद्भाव पाया जाता है।

शङ्का—केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा आवे, परन्तु वहाँपर उसका कार्य नहीं पाया जाता है?

समाधान—द्रव्य मनके कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिकज्ञानका अभाव भले ही रहा आवे, परन्तु द्रव्यमनके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया जाता है। क्योंकि द्रव्यमनकी वर्गणाओंके लानेके लिए होनेवाले प्रयत्नमें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उस मनके निमित्तसे जो आत्माका परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

शङ्का—केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको क्यों नहीं करता है?

समाधान—नहीं। क्योंकि केवलीके मानसिकज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिए उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है।

शङ्का—जब केवलीके यथार्थमें अर्थात् क्षायोपशमिकमन नहीं पाया जाता है तो उससे सत्य और अनुभय—इन दो प्रकारके वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान—नहीं। क्योंकि उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है।

ततो वाग्योगं निरुणद्धि । तन्निरूपणायाह—

मनोयोगके बाद वाग्योगका निरोध करता है। अतः उसका निरूपण करते हैं—

द्वीन्द्रियसाधारणयोर्वागुच्छ्वासावधो जयति यद्वत् ।
पनकस्य काययोगं जघन्यपर्याप्तकस्याधः ॥ २७९ ॥

टीका—द्वीन्द्रियस्य प्रथमसमयपर्याप्तकस्य वाक्पर्याप्तिलब्ध यत्तद् विघटयति। तस्य वाग्योगो यः साधारणजीवस्य च प्रथमसमयपर्याप्तकस्य यदुच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तिकरणं तौ वागुच्छ्वासौ अधः कृत्वा तावदसंख्येयगुणहान्या यावत् समस्तवाग्योगो निरुद्ध उच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तिकरणं च। तद्वदिति यथा मनो निरुणद्धि तद्वद्वागुच्छ्वासावपि निरुणद्धि। ततः मनोवाचोर्निरुद्धयोः काययोगनिरोधं करोति। पनकः उल्लिजीवस्तस्य प्रथमसमयपर्याप्तकस्य यः काययोगो जघन्यस्ततोऽप्यधोऽसंख्येयगुणहान्या निरावरणवीर्यत्वात् सकलकाययोगं निरुणद्धि ॥ २७९ ॥

अर्थ—द्वीन्द्रियजीवके जो वचनयोग होता है और साधारणवनस्पतिजीवके जो श्वासोच्छ्वास होता है मनोयोगकी ही तरह उससे असंख्यातगुण हीन वचनयोग और श्वासोच्छ्वासका निरोध करते समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है। उसके बाद जघन्यपर्याप्तक पनक जो काययोग होता है, उससे असंख्यातगुणे हीन काययोगका निरोध करते-करते समस्त योगका निरोध करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मनोयोगका निरोध करता है उसी प्रकार वचनयोग और श्वासोच्छ्वास-का निरोध करता है। अर्थात् द्वीन्द्रिय पर्याप्तकजीवके प्रथम समयमें जो जघन्य वचनयोग होता है पर्याप्तक साधारणजीवके प्रथम समयमें जो श्वासोच्छ्वास होता है उससे असंख्यातगुणे हीन असंख्यातगुणे वचनयोग और श्वासोच्छ्वासको प्रतिसमय तबतक रोकता है जबतक समस्त वचनयोग श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिकरणका निरोध नहीं हो जाता।

मनोयोग और वचनयोगके रुकनेपर काययोगका निरोध करता है। पश्चात् पनक इल्लिजीवके समयमें जो जघन्य काययोग होता है उससे भी असंख्यातगुण हीन काययोगका प्रतिसमय करता है। इस प्रकार निरोध करते-करते सकल काययोगका निरोध करता है।

काययोगनिरोधकाले च—

काययोगके निरोधके समय जो कुछ होता है, उसे बतलाते हैं—

सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति काययोगोपयोगतो ध्यात्वा ।
विगतक्रियमनिवर्तित्वमुत्तरं ध्यायति परेण ॥ २८० ॥

टीका—ध्यानं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति सूक्ष्मकाययोगस्थित एव ध्यायति । तदैव शैलेशीं त्रिभागहीनमात्मप्रदेशापातिः करोति । त्रिभागमिति येषामि शरीरे निर्वर्तितानि मुखमध्य-नासिकाविच्छिद्राणि तत्परिपूरणार्थं घनीकरोति आत्मानं त्रिभागहीनावगाहसंस्थानपरिणाहं करोतीत्यर्थः । ततश्चतुर्थं शुक्लध्यानमेवं परेण ध्यायति । विगतक्रियमनिवर्तिध्यानं निरुद्धयोगो व्युपरतक्रियमनिवर्तिध्यानमुत्तरध्यानं (ध्यायन्) चरमकर्मांशान् क्षपयति ॥ २८० ॥

अर्थ—काययोगका निरोध करते हुए ही सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान होता है, उस ध्यानके अनन्तर विगतक्रिय नामक ध्यान होता है । इस ध्यानके पश्चात् अन्य कोई ध्यान नहीं होता, अतः यह अनुत्तर है ।

भावार्थ—जिस समय केवली सूक्ष्मयोगमें स्थित होते हैं, उसी समय उनके सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान होता है । और उसी समय वे शैलेशी करते हैं । उस समय उनके आत्म-प्रदेशोंकी अवगाहना शरीरकी अवगाहनासे एक तिहाई हीन हो जाती है । क्योंकि शरीरमें मुख, नाक, कान वगैरहमें जो छिद्र हैं, वे पूरित हो जाते हैं और उनके पुर जानेसे आत्माके प्रदेश घनीभूत हो जाते हैं । अतः आत्माके प्रदेशोंकी अवगाहना मूलशरीरकी अवगाहनासे त्रिभागहीन रह जाती है । उसके पश्चात् समस्तयोगका निरोध होनेपर व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चौथा शुक्लध्यान होता है । इस ध्यानके द्वारा वे अवशिष्ट कर्मप्रकृतियोंको क्षय कर देते हैं ।

चरमभवे संस्थानं यादृग्यस्योच्छ्रयप्रमाणं च ।
तस्मात्त्रिभागहीनावगाहसंस्थानपरिणाहः ॥ २८१ ॥

टीका—उक्त एवार्थोऽस्याः कारिकायाः, पुनस्तथाप्युच्यते । चरमभवे पश्चिम-जन्मनि । संस्थानमाकारः यादृग् यस्य सिद्धिमुपजिगमिषो संस्थानं शरीरोच्छ्राय एव प्रमाणम् । तस्य त्रिभागहान्या संस्थानपरिणाहं करोति ॥ २८१ ॥

अर्थ—अन्तिम भवमें जिस केवलीका जितना आकार और जितनी ऊँचाई होती है, उससे उसके शरीरका आकार और ऊँचाई एक तिहाई कम हो जाती है ।

भावार्थ—इस कारिकाका अर्थ यद्यपि पहले कह आये हैं तथापि स्पष्टताके लिए पुनः कहते हैं । जिस मुमुक्षुका अन्तिम भवमें जैसा आकार होता है और जितनी ऊँचाई होती है उससे उसकी ऊँचाई तथा आकार एक तिहाई कम हो जाता है । अर्थात् उसकी अवगाहना दो तिहाई बाकी रह जाती है ।

१–शुक्लं ध्यानं–फ० ब । २–वह कर्म-ग्रन्थ पृ १९४ –श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यक भाष्य, गा ११८१ । ३–आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १७४ ।

मतलब यह है कि जीवका प्रमाण अपने शरीरके बराबर होता है। जैसा और जितना शरीरका आकार होता है वैसा और उतना ही आकार जीवके प्रदेशोंका होता है। अतः केवलीके आत्म-प्रदेश भी शरीरके आकार और उतने प्रमाण होते हैं किन्तु शरीरके नाक, कान मुँह, उदर वगैरहमें मुतलक भाग खाली रहता है, उन खाली भागोंमें जीवके प्रदेश नहीं होते। परन्तु शैलेशी हो जानेपर ध्यान-बलसे वे खाली भाग आत्म-प्रदेशोंसे पूरित हो जाते हैं। और उन भागोंके पूरित हो जानेसे आत्माके प्रदेश घनीभूत हो जाते हैं। और इस प्रकार घनीभूत हो जानेसे शरीरकी अवगाहनासे आत्म-प्रदेशोंकी अवगाहना एकतिहाई भाग कम हो जाती है।

अथ स भगवान् कीदृगवस्थो निरुद्धेषु योगेषु भवतीत्याह—

योगनिरोध होनेपर केवलीभगवान्‌की जो अवस्था होती है, उसे बतलाते हैं —

सोऽथ मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्तः ।
अपरिमितनिर्जरात्मा संसारमहार्णवोत्तीर्णः ॥ २८२ ॥

टीका—स भगवान् केवली वाक्कायमनउच्छ्वासयोगक्रियार्थविनिवृत्तो निरुद्धसकलक्रियः। अपरिमितनिर्जर आत्मा यस्य बहुकर्मक्षपणयुक्तः संसारमहार्णवादुत्तीर्ण एव ॥ २८२ ॥

अर्थ—योगनिरोधके अनन्तर मनोयोग, वचनयोग, काययोग, और श्वासोच्छ्वासकी क्रियासे निवृत्त होकर वह केवलीभगवान् कर्मोंकी अपरिमित निर्जरा करते हैं, और संसाररूपी समुद्रसे पार हो जाते हैं।

भावार्थ—योगका निरोध होजानेपर नवीन बन्धका तो सर्वथा अभाव ही हो जाता है और बची हुई शेष ८५ प्रकृतियोंको भी एक अन्तर्मुहूर्तमें क्षपण कर डालता है। अतः उसे संसार-समुद्रसे पार हुआ ही समझना चाहिए।

स व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यानकालेऽपि कीदृगवस्थो यातीत्याह—

अब व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यानके समय वह शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करता है, यह बतलाते हैं:—

ईषद्ध्रस्वाक्षरपञ्चकोद्गिरणमात्रतुल्यकालीयाम् ।
संयमवीर्याप्तबलः शैलेशीमेति गतलेश्यः ॥ २८३ ॥

१–स्व निरुद्धसकलक्रियः–ब । २–कालीयाम् ब । ३–शैलेशी–प०।

टीका—ईषन्मनाग् ह्रस्वानामक्षराणां कखगघङ इत्येषामुच्चारणकाल उद्गिरण-मुच्चारणं तत्तुल्यकालीयां तावत्प्रमाणां शैलेशीमेति । संयमेनानुत्तरेण वीर्येण च प्राप्तकः शैलेशीमेति विगतलेश्यः । शैलेश इव मेरुरिव निष्प्रकम्पो यस्यामवस्थायां भवति साऽवस्था शैलेशीति अभिधीयते पृषोदरादिपाठात् संसिध्यते । शीलानामीशतया शीलानामीश्वरी वा शैलस्येश्वरस्येति । विगता लेश्या मायामया यस्य स विगतलेश्यः । कृष्णलेश्यामारभ्य शुक्ल-लेश्यान्तानामसंभवः ॥ २८३ ॥

अर्थ— संयम और वीर्यके द्वारा उसको प्राप्त करके, लेश्या रहित हुए वह केवलीभगवान् शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करते हैं । कुछ ह्रस्व पाँच अक्षरोंके उच्चारण करनेमें जितना समय लगता है, उतना ही काल इस शैलेशी अवस्थाका है ।

भावार्थ—चौदहवें गुणस्थानमें ही शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है । शैलों-पर्वतोंका ईश-स्वामी होनेके कारण सुमेरुको शैलेश कहते हैं । सुमेरुकी तरह निश्चलता जिस अवस्थामें प्राप्त होती है उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं । समस्त योगोंके निरोध, उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति और लेश्याका अभाव हो जानेके कारण यह अवस्था चौदहवें गुणस्थानमें ही प्राप्त होती है । और क ख ग घ ङ अथवा अ इ उ ऋ ऌ इन पाँच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण करनेमें जितना काल लगता है, उतना ही उसका काल होता है ।

पूर्वरचितं च तस्यां समयश्रेण्यामथ प्रकृतिशेषम् ।
समये समये क्षपयत्यसंख्यगुणमुत्तरोत्तरतः ॥ २८४ ॥

टीका—प्रथममेव समुद्घातकाले रचितं व्यवस्थापितं समयश्रेण्यां समयपङ्क्तौ । प्रकृतिशेषं वेद्यनामगोत्रायुषां यदवशिष्टमास्ते तत् प्रकृतिशेषम् । प्रतिसमयं क्षपयत्यसंख्येय गुणमुत्तरोत्तरेषु समयेषु ॥ २८४ ॥

अर्थ—पूर्वरचित अवशिष्ट कर्मप्रकृतियोंको शैलेशी अवस्थाके समयोंकी पंक्तिमें प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी खपाता है ।

भावार्थ—समुद्घातके समय वेदनीय, नाम गोत्र और आयुकर्मका जो भाग शेष रह गया था, उस भागको शैलेशी कालके समयोंमें खपाता है । और प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंको खपाता है । अर्थात् प्रथम समयमें जितने दलिक खपाता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंको खपाता है । इसी प्रकार आगेके समयोंमें भी असंख्यातगुणे दलिकोंको खपाता है ।

१– शैलेशीमेति इत्यारभ्य (प्राप्तकः) इति पर्यन्तः पाठः पश्चात् लिखितः–फ० प्रतौ । २–पूर्वटीकामें संवरकी सामर्थ्यसे उसको प्राप्त करके–ऐसा अर्थ किया है । ३–पूर्वरचितं–फ० । ४–यदवशिष्टं–फ० पुस्तके । ५–प्रकृतिशेषं–फ० । ६–प्रति फ० ।

चरमे समये संख्यातीतान् विनिहन्ति चरमकर्मांशान् ।
क्षपयति युगपत् कृत्स्नं वेद्यायुर्नामगोत्रगणम् ॥ २८५ ॥

टीका—पश्चिमसमयेऽसंख्येयान् विनिहन्ति नाशयति । चरमा ये कर्मांशाः कर्मभागास्तान् युगपत् क्षपयति । त एव कर्मांशा विशिष्यन्ते—वेद्यायुर्नामगोत्रगणमिति । एषां कर्मणां गणः इति तस्मिन् कृत्स्ने क्षपिते वेद्यादिगणे चरमकर्मांशाः क्षपिता एव भवन्तीति ॥ २८५ ॥

अर्थ—अन्तिम समयमें बाकी बचे हुए असंख्यात कर्म-स्कन्धोंको खपाता है । और इस प्रकार समस्त वेदनीय, आयु नाम और गोत्रकर्मोंके समूहको एकसाथ नष्ट कर डालता है ।

भावार्थ—प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंको खपाते-खपाते जब अन्तिम समयमें पहुँचता है तो चारों अघातिकर्मोंकी तरह प्रकृतियोंके जो असंख्यातगुण कर्म-दलिक अवशिष्ट रह जाते हैं, उन सबको एकसाथ खपा डालता है । उनके एकसाथ क्षय करते ही अघातिकर्मोंका समूह नाश हो जाता है ।

ततश्च—

उसके पश्चात्—

सर्वगतियोग्यसंसारमूलकरणानि सर्वभावीनि ।
औदारिकतैजसकार्मणानि सर्वात्मना त्यक्त्वा ॥ २८६ ॥

टीका—सर्वा गतयो नरकतिर्यग्मनुष्यदेवाख्यास्तासां योग्यानि संसारमूलकरणानि संसारपरिभ्रमणप्रतिष्ठानि निमित्तानीत्यर्थः । औदारिकादीनि न ह्यन्यौदारिकादिभिर्विना सर्वगतयः प्राप्यन्ते । सर्वभावीनि सर्वत्र भवन्ति नरकादिगतिषु सर्वदापि औदारिकं तैजसं कार्मणं च क्वचिद् वैक्रियतैजसकार्मणानि । सर्वात्मना त्यक्त्वा सर्वेषामात्मा औदारिकादीनां यत् स्वरूपं तेन सर्वेण स्वरूपेण त्यक्त्वा ॥ २८६ ॥

देहत्रयनिर्मुक्तः प्राप्यर्जुश्रेणिवीतिमस्पर्शाम् ।
समयेनैकेनाविग्रहेण गत्वोर्ध्वमप्रतिघः[1] ॥ २८७ ॥

टीका—सिद्ध्यतस्तु नियमेनैव देहत्रयमौदारिकतैजसकार्मणाख्यं भवति । तेन निरवशेषेण मुक्तो विमुक्तो विरहितः । ऋजुश्रेणिवीतिं ऋज्व्या श्रेण्या वीतिं गतिम् । प्राप्य ।

१–विनिस्तु–फ० ब० ।

रीरहीमस्पर्शामविग्रहामस्पृशाम् । सकलकर्मक्षयसमयादूर्ध्वं समयं न स्पृशति नापि स्वावगाढप्रदेशान् प्रदेशान्तरं स्पृशतीत्यस्पर्शोऽत्युच्यते । एकेन समयेनासावविग्रहेणावक्रगत्या गत्वोर्ध्वं लोकान्तमप्रतिघोऽप्रतिहतगतिः । पुनरविग्रहग्रहणं समयविशेषणम् । न ह्येकस्मिन् समये विग्रहः संभवतीति ॥ २८७ ॥

स पुनर्गत्वा क्वावतिष्ठत इत्याह—

सिद्धिक्षेत्रे विमले जन्मजरामरणरोगनिर्मुक्तः ।
लोकाग्रगतः सिध्यति साकारेणोपयोगेन ॥ २८८ ॥

टीका—कार्त्स्न्येन कर्मनाशः सिद्धिस्तस्याः क्षेत्रमाकाशम् । यत्रावगाढः सिद्धस्य । तच्चेषत्प्राग्भाराभिधपृथिव्युपलक्षितं तस्याः पृथिव्या उपरितनतलाद्युपरितनं योजनं, तस्य यदुपरितनं गव्यूतम् । तस्यापि गव्यूतस्योपरितनो यः षड्भागस्त्रीणि धनुःशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि धनुस्त्रिभागः । एष गव्यूतस्य षड्भागः । तावत्प्रमाणमाकाशं सिद्धिक्षेत्रमुच्यते । यत्रावगाढास्ते सिद्धा इति । विमल इति विविक्ते मलपटलवर्जिते । जन्मजरामरणेन रोगैश्च ज्वरादिभिर्विरहितः । लोकाग्रगतः । स एव गव्यूतषड्भागो लोकाग्रम् तं प्राप्तः सिध्यति । पूर्वोचितगतिसंस्कारमात्रे सति सिद्ध उच्यते । तमस्य साकारेणोपयोगेन ज्ञानोपयोगेन वर्तमानः सिध्यति न दर्शनोपयोग इति । यस्माल्लब्धयः सर्वाः साकारोपयुक्तस्यैव भवन्तीत्यागमः ॥ २८८ ॥

अर्थ—सब गतियोंके योग्य, संसारके मूलकारण और सब समय होनेवाले औदारिक, वैक्रियिक और कार्मणशरीरको सर्वथा त्याग कर तीनों शरीरोंसे मुक्त हुआ जीव, स्पर्श रहित ऋजुश्रेणीगतिको प्राप्त करके विग्रह रहित एकसमयमें बिना किसी बाधाके ऊपर जाकर लोकके अग्र भागको प्राप्त करके जन्म, जरा, मरण और रोगसे मुक्त होता हुआ विमल सिद्धिक्षेत्रमें साकार उपयोगसे सिद्धपदको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—औदारिक, तैजस और कार्मणशरीर, नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव नामकी सभी गतियोंके योग्य हैं । इनके बिना सब गतियोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि मनुष्य और तिर्यञ्च ही मरकर सब गतियोंमें जन्म ले सकते हैं । और उनके ही उक्त तीनों शरीर होते हैं । अतः ये तीनों शरीर ही सब गतियोंके योग्य हैं । तथा संसारके मूलकारण भी यही हैं; क्योंकि यदि जीवके साथ शरीर न लगे हों तो उसे संसारमें भ्रमण करना ही नहीं पड़ सकता । तथा ये सभी गतियोंमें पाये जाते हैं । तैजस और कार्मण तो सभी संसारीजीवोंके होते हैं । मनुष्य और तिर्यञ्चगतिमें उनके साथ औदारिकशरीर होता है और देव तथा नरकगतिमें उनके साथ वैक्रियिकशरीर होता है । इन शरीरोंको बिल्कुल त्याग करके

१–तच्चेऽषत्प्राग–ब० । २– अथ? नास्ति–ब पुस्तके । ३–लोकाग्रम् [illegible]–ब । ४– [illegible] तत्त्वार्थसूत्र अ० १० ४१ ।

औदारिक, तैजस और कार्मणशरीरसे मुक्त हुआ जीव ऊर्ध्वगमन करता है। यह ऊर्ध्वगमन ऋजुश्रेणिगतिसे होता है। जिस स्थानपर जीव कर्म-बन्धनसे मुक्त होता है, वहाँसे लेकर लोकके अन्त भागतक आकाशके प्रदेशोंकी जो सीधी पंक्ति होती है, उसीके अनुसार मोड़रहित सीधा गमन करता है। और बिना किसी रुकावटके एकसमयमें ही लोकके अग्रभागको प्राप्त हो जाता है। इसी लिए इस गतिको स्पर्श रहित कहा है। क्योंकि जिस समयमें ऊर्ध्वगमन करता है, उसी समयमें अपने गन्तव्य-स्थानतक पहुँच जाता है, समयान्तरका स्पर्श नहीं करता है। तथा जिस प्रदेश-पंक्तिमें गमन करता है, उससे अन्य प्रदेश पंक्तिका स्पर्श नहीं करता है। उसीमें गमन करता हुआ लोकके अग्र भागतक चला जाता है। वहीं सिद्धिक्षेत्र है। इसी स्थानसे कर्मोंके नाश हो जानेको सिद्धि कहते हैं और उसके क्षेत्रको सिद्धिक्षेत्र कहते हैं। सिद्धजीव इसी सिद्धिक्षेत्रमें रहते हैं। लोकके अग्र भागमें [1]ईषत् प्राग्भार नामकी एक पृथिवी है। वही सिद्धभूमि है। उससे एक योजन ऊपर जानेपर लोकका अन्त होता है। यह पृथ्वी ऊर्ध्वमुख छत्रके आकार है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई ४५ लाख योजन है तथा बाहुल्य मध्यमें आठ योजन है और दोनों ओर घटते-घटते अन्तमें अंगुलके असंख्यातवें भाग है। इस पृथ्वीके ऊपरसे लेकर लोकान्ततक जो एक योजन प्रमाण क्षेत्र है, उस क्षेत्रमें भी जो सबसे ऊपरका एक कोस क्षेत्र है, उस एक कोस क्षेत्रमें भी उसका जो ऊपरका छठा भाग है, जिसका प्रमाण १३३३⅓ धनुष है, अपने प्रमाण आकाशको ही सिद्धिक्षेत्र कहते हैं। जन्म, जरा, मरण और रोगसे मुक्त हुए सिद्धजीव मल रहित इस सिद्धिक्षेत्रमें ही जाकर ठहरते हैं, तथा ज्ञानोपयोगमें वर्तमान रहते हुए भी इस सिद्धस्थानको प्राप्त होते हैं, दर्शनोपयोगमें वर्तमान रहते हुए नहीं। क्योंकि आगममें कहते हैं कि साकारोपयोगीको ही समस्त लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधसुखमुत्तमं प्राप्तः ।
केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्तः ॥ २८९ ॥

टीका—सहादिना सादिकं सिद्धत्वपर्यायवत्। अनन्तमपर्यवसानम्। अविद्यमानोपमानमनुपमम्। अविद्यमानव्याबाधमव्याबाधम्। रोगातङ्कादिद्वन्द्वरहितम्। एवंविधं सुखं प्राप्तः। केवलं क्षायिकं सम्यक्त्वम्। केवलं ज्ञानम्। केवलं दर्शनम्। केवलमित्यसहायं सम्यक्त्वं पुद्गलरहितम्। एतान्यात्मा यस्य स्वभावः स एवंरूपस्तथा मुक्त इति ॥ २८९ ॥

अर्थ—सादि अनन्त, अनुपम और अव्याबाध उत्तम सुखको प्राप्त होते हुए केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन स्वरूपी आत्मा मुक्त होता है।

भावार्थ—मुक्तजीवको जो सुख प्राप्त होता है, वह सिद्धत्वपर्यायकी तरह ही सादि और अनन्त है। अर्थात् जिस प्रकार सिद्धत्वपर्याय आदिसहित और अन्तरहित है। एक बार इस सुखके प्राप्त

१- ईषत्प्राग्भारा जीवस्य -तत्त्वार्थसूत्र अ. १०, सू. २८।२- एक समयमविग्रह। ३- तत्त्वार्थसूत्र अ. १०, सू. ६। श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण वि. आ. भा. गा. १०...। ४-वि. आ. भा. गा. १५२ श्रीभद्रबाहुस्वामिकृत आव. नि. गा. ९०७।

४-आ. नि., गा. ९७९ ५-...उपयोगवर्तिनोऽसमाधिरिति ...ज्ञानोपयोग उपयोग उपयोगी है। श्रीभद्रबाहुस्वामिकृत आ. नि. गा. ७ । ६-...।

होनेपर फिर कभी उसका नाश नहीं होता। तथा वह सुख अनुपम है क्योंकि संसारका कोई भी सुख उसके समान नहीं है। तथा वह बाधा रहित भी है; क्योंकि उसे प्राप्त करके रोग वगैरहका भय नहीं रहता। मुक्तजीव ऐसे उत्तम सुखको प्राप्त करके क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप स्वभावसे युक्त होते हैं। आशय यह है कि मुक्त अवस्थामें आत्मिक-गुणोंका अभाव नहीं हो जाता। किन्तु सुख ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व आदि स्वाभाविक गुण अपनी चरम सीमाको प्राप्त होकर सदैव प्रकाशमान रहते हैं।

केषाञ्चिदभावमात्रे मोक्षस्तन्निराकरणायाह—

कुछ वादी मोक्षको केवल अभावस्वरूप ही मानते हैं उनके निराकरणके लिए कहते हैं—

मुक्तः सन्नाभावः स्वालक्षण्यात् स्वतोऽर्थसिद्धेश्च ।
भावान्तरसंक्रान्तेः सर्वज्ञाज्ञोपदेशाच्च ॥ २९० ॥

टीका—अयमपि कर्मनिर्मुक्त आत्मा चेतनास्वभावो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। तस्य सर्वात्मना निरन्वयो नाश इति दुःसाध्यम्, परिणामित्वात् प्रदीपशिखावत्। ते हि प्रदीपपुद्गलाः कज्जलाद्याकारेण प्रादुःषन्ति, पुनश्च परिणामान्तरेण यान्ति इति प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्यः। निरन्वयनाशे च नैवम्भूतप्रसिद्धहेतुदृष्टान्ताभावादसंभव एव। अतः परिणामित्वात् जीवो ज्ञानदर्शनोपयोगात्मा, न पुनरभावः। स्वलक्षणमुपयोगस्तद्भावः स्वालक्षण्यं तस्मात् स्वालक्षण्यात्। न जातुचिदुपयोगात्मकत्वं जहाति जीवः। स्वत एव चार्थाः (भावाः) सिद्धाः (सन्तः)। ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वमात्मनो न कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नम्। स्वत एवासावनादिनिधनोऽयम्। यद्यपि प्राक्तनोपरतः उपयोगान्तरमुदेति, तथाप्युपयोगसामान्यान्न भिद्यते। ज्ञानस्वभावत्वात्। तथा भावान्तरसंक्रान्तेः, भावो हि भावान्तरत्वेन संक्रामति, न सर्वथोच्छिद्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षः, इतो ग्रामान्तरगतपुरुषवदिति। इत्थं नाभावो मुक्तः। सर्वज्ञाज्ञोपदेशात् वीतरागाः सर्वज्ञास्तत्प्रणीतागम आज्ञा। तदुपदेशात् सिद्धात्मा ज्ञानदर्शनस्वभावोऽस्तीति श्रद्धेयमिति ॥ २९० ॥

अर्थ—मुक्तजीव अभावरूप नहीं है क्योंकि जीवका लक्षण उपयोग है तथा अर्थोंकी सिद्धि स्वतः ही हुआ करती है। और भाव ही भावान्तररूप होते हैं। सर्वज्ञद्वारा कहे गये आगममें ऐसा ही कहा है।

भावार्थ—आठों कर्मोंसे मुक्त आत्मा चैतन्यस्वरूप है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग उसका लक्षण है। उस आत्माका निरन्वय नाश दुःसाध्य है। क्योंकि वह दीपककी शिखाकी तरह परिणामी है। दीपककी शिखा काजल आदि रूपसे परिणमन करती है। उसके बाद उस काजलका भी कोई दूसरा परिणमन देखा जाता है। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। वस्तुका निरन्वय विनाश माननेपर उसकी सिद्धिके लिए हेतु और दृष्टान्तका मिलना असंभव ही है। अतः परिणामी होनेके कारण जीवका स्वरूप ज्ञानोपयोग

१—मुक्तिर्नाभावः फ. प्रतौ।

और दर्शनोपयोग ही है। अभाव नहीं है। क्योंकि जीव कभी भी अपने उपयोगरूपी स्वभावको नहीं छोड़ता। तथा पदार्थ स्वतः ही सिद्ध होते हैं अतः आत्माका ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव किसी परके निमित्तसे उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह अनादिकालसे ही स्वतः सिद्ध है। यद्यपि उपयोगसे उपयोगान्तर होता रहता है किन्तु उपयोग सामान्यका नाश कभी नहीं होता। क्योंकि वह ज्ञानस्वभाव है। यद्यपि एक भावका भावान्तररूपसे परिणमन होता है परन्तु उसका सर्वथा नाश नहीं होता। जिस प्रकार कोई पुरुष एक गाँवसे दूसरे गाँवमें चला जाता है तो उस पुरुषका सर्वथा अभाव नहीं होता। उसी प्रकार जीवके मुक्त होनेपर भी उसका अभाव नहीं हो जाता। इसके सिवाय वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगममें भी मुक्तात्माको ज्ञान दर्शनस्वभाव कहा है। अतः मुक्तावस्थामें जीव सर्वथा अभाव रूप सिद्ध नहीं होता।

त्यक्त्वा शरीरबन्धनमिहैव कर्माष्टकक्षयं कृत्वा।
न स तिष्ठत्यनिबन्धादनाश्रयादप्रयोगाच्च ॥ २९१ ॥

टीका—इहैव मनुष्यलोके कस्मान्न तिष्ठति? उच्यते—शरीरमेव बन्धनं तद्विहाय कथं पुनरस्यास्तिकशरीरत्यागः? कर्माष्टकक्षयकरणादत्यन्तवियोगः शरीरकस्य। न चासाविहैव तिष्ठति, अनिबन्धनत्वात्। न हि तस्येह किञ्चिन्निबन्धनमासने कारणमस्ति। शरीरादिनिबन्धनमिहावस्थाने भवति। तच्च समस्तमेव ध्वस्तम्। अनाश्रयत्वान्मुक्तस्यात्यन्तलघोराश्रय एव लोकाग्रशिखरं भवति। अष्टेपाष्टकलिप्तालाम्बुवत्कल्पस्य जलमध्यक्षिप्तस्याष्टसु क्षीणेषु लेपेषु जलस्योपर्येवावस्थानमाश्रयो भावः, तथा मुक्तस्याप्यमोपगमो नास्तीत्यत इह नावतिष्ठत इति। तथाऽप्रयोगात्, अप्रयोगो व्यापारः आत्मनस्तस्य च तादृशी नास्ति क्रिया यथावस्थानं कल्पयिष्यते। अतोऽप्रयोगाच्च न स तिष्ठत्येवेति ॥ २९१ ॥

अर्थ—शरीररूपी बन्धनको त्याग कर और आठों कर्मोंका क्षय करके मुक्तजीव मनुष्य-लोकमें नहीं ठहरता; क्योंकि यहाँ ठहरनेका न तो कोई कारण है, न आश्रय है और न कोई व्यापार है।

भावार्थ—यह शङ्का हो सकती है, मुक्त होनेपर जीव यहाँ ही क्यों नहीं ठहरता? अतः उसका समाधान करते हैं। आठों कर्मोंका समूल नाश कर देनेसे शरीररूपी बन्धनका भी अत्यन्त वियोग हो जाता है। इस बन्धनका वियोग होनेपर जीव मनुष्य-लोकमें नहीं ठहरता क्योंकि उसके यहाँ ठहरनेका कोई कारण नहीं रहता। शरीर आदि बन्धनोंके होनेसे ही जीव यहाँ ठहरता है किन्तु अब तो वे नष्ट ही हो चुके। दूसरे यहाँ उसके ठहरनेके योग्य आश्रय भी नहीं है। क्योंकि मुक्तजीव अत्यन्त हलके हो जाते हैं। अतः उनका आश्रय लोकका अग्र भाग ही होता है। जिस प्रकार आठ लेपोंसे लिप्त तूँबीको यदि जलके बीचमें फेंक दिया जाये तो उन आठों लेपोंके धुल जानेपर तूँबी जलके ऊपर आ ठहरती है। बीच नहीं ठहरती। उसी प्रकार मुक्तजीवको भी यहाँ रोकनेवाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता अतः वह

यहाँ नहीं ठहरता। तथा मुक्तजीव कोई ऐसी क्रिया भी नहीं करता, जिसके कारण उसके यहाँ ठहरनेकी कल्पना की जा सके। अतः वह यहाँ नहीं ठहरता है।

एवं तर्ह्यूर्ध्वमेव तेन गन्तव्यं नान्यत्रेति कुतो नियम इत्याह—

शङ्का—यदि मुक्तजीव यहाँ नहीं ठहरता है तो न ठहरे, किन्तु उसे ऊपर ही जाना चाहिए, अन्यत्र नहीं, ऐसा नियम किस कारणसे है?

नाधो गौरवविगमादशक्य (दसग) भावाच्च गच्छति विमुक्तः ।
लोकान्तादपि न परं प्लवक इवोपग्रहाभावात् ॥ २९२ ॥

टीका—यतो[1] गुरुद्रव्यमधो गच्छद् [illegible] पाषाणादि, तस्य गौरवं नास्त्यपगतकर्मत्वात्। अशक्यभावाच्च अशक्योऽनुपपन्नः सत्त्वर्थं भावो[2] यत् सकलकर्मविनिर्मुक्तोऽप्यन्तलघुरधो गमिष्यतीति। न च लोकान्तात् परतो गच्छति उपग्रहकारिधर्मद्रव्याभावात्। प्लवकवत् प्लवकन्तत् यानपात्रवत् मत्स्यादिवद्वा। प्लवकेषु[3] गमनशक्तेरभावात् ॥ २९२ ॥

अर्थ—मुक्तजीव नीचे नहीं जाता है क्योंकि उसमें गौरवका अभाव है और ऐसा होना किसी प्रकार सम्भव भी नहीं है। जहाज आदिकी तरह लोकान्तसे आगे भी नहीं जाता है; क्योंकि वहाँ सहायक धर्मद्रव्यका अभाव है।

भावार्थ—पाषाण वगैरह भारी-भरकम पदार्थ नीचे जाते हुए देखे जाते हैं। किन्तु मुक्तजीवमें भारीपन नहीं है। क्योंकि वह कर्मोंके भारसे मुक्त हो चुका है। फिर यह बात किसी प्रकार सम्भव नहीं है कि समस्त कर्मोंसे मुक्त हुआ अत्यन्त लघु जीव नीचे जावे। अतः नीचे जाना शक्य नहीं है। इसलिए ऊर्ध्वगमन ही युक्त है। पर ऊपर भी लोकके अन्तसे आगे नहीं जाता है; क्योंकि गमनमें सहायक धर्मद्रव्य लोकके अन्ततक ही पाया जाता है। आगे उसका अभाव है। अतः जिस प्रकार जहाज या लकड़ी वहींतक जा सकते हैं जहाँतक उनका सहायक पानी होता है उसी प्रकार मुक्तजीव भी वहींतक जाते हैं जहाँतक सहायक धर्मद्रव्य वर्तमान है।

योगप्रयोगयोश्चाभावात्तिर्यङ् न तस्य गतिरस्ति ।
सिद्धस्योर्ध्वं मुक्तस्यालोकान्ताद् गतिर्भवति ॥ २९३ ॥

टीका—योगा मनोवाक्कायलक्षणास्तदभावात्। प्रयोग आत्मनः क्रिया तदभावाच्च। तिर्यग्विभु मात्यादिवाद्यु। न तस्य गतिरस्ति। तस्मादुपरि तिर्यग्वा गतेरसंभवात्। इह[4] चावस्थाने नास्ति किञ्चित्कारणमतो गच्छत्यूर्ध्वमेव सिद्धः। सा चोर्ध्वगतिरालोकान्तादेव भवति, न परतः उपग्रहाभावादित्युक्तं च ॥ २९३ ॥

१–दृष्टं भावात–फ० च । २–अप्रयोगा–च । ३–येषु–फ० च । ४–तदुपग्रहकारि–फ० च

अर्थ—योग और क्रियाका अभाव होनेसे वह तिरछा भी गमन नहीं करता है। अतः मुक्त सिद्धजीवकी गति ऊपर सीधी लोकके अन्ततक होती है।

भावार्थ—मुक्तजीवके न तो मनोयोग, वचनयोग और काययोग ही है और न क्रिया ही है। अतः पूर्व आदि दिशाओंसे उसकी गति सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके तिर्यग्गमनमें योग और क्रिया ही कारण है और उसके इनका सर्वथा अभाव है। इस प्रकार वह न नीचे जा सकता है और न तिरछे जा सकता है। इसके अतिरिक्त यहीं ठहरनेका भी कोई कारण नहीं है। अतः सिद्धजीव ऊपरको ही जाता है। किन्तु ऊपर भी वह लोकके अन्ततक ही जाता है, आगे नहीं जाता; क्योंकि गमनमें सहायक धर्मद्रव्य लोकान्तसे आगे नहीं रहता। यह पहले कह चुके हैं।

अयोगस्योर्ध्वगतिस्तस्य निष्क्रियस्य सतः कथं भवतीत्याशङ्कयाह—

शङ्का—यदि मुक्तजीवके क्रिया भी नहीं है तो वह ऊर्ध्वगमन कैसे करता है? इसका उत्तर देते हैं—

पूर्वप्रयोगसिद्धेर्बन्धच्छेदादसङ्गभावाच्च ॥
गतिपरिणामाच्च तथा सिद्धस्योर्ध्वं गतिः सिद्धा ॥ २९४ ॥

टीका—पूर्वप्रयोगस्तृतीये शुक्लध्याने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनिवर्तमानेन देहत्रिभाग-हानिविधानकाले य संस्कार आहितः। क्रियायास्तेन पूर्वप्रयोगेण सिद्धेर्बन्धच्छेदात् असंग भावाच्च तस्य गमनं सिध्यति। अतः पूर्वप्रयोगसिद्धेर्दोलागमनवत् पूर्वसंस्काराद्भवति। तथा बन्धनच्छेदादेरण्डबीजकुसिकावत् कर्मबन्धनमोक्षणादूर्ध्वं गतिः सिद्धा भवति मुक्तात्मनः। असंग-भावात्। गतलेपालाबुफलवत् पयसि प्लवते। संगो लेपस्तदभावादसंगत्वात्। तथा गतिपरिणामाच्च दीपशिखावत्। नहि दीपस्य वातादिविक्षिप्ताऽऽमेर्ध्वाया निमित्ताभावे सति तिर्यग्गतो वा भवति। तस्मादूर्ध्वमेव गच्छति मुक्तात्मेति ॥ २९४ ॥

अर्थ—पूर्व प्रयोगसे सिद्धि होनेके कारण कर्मबन्धका छेद हो जानेके कारण, निष्परिग्रह होनेके कारण तथा ऊपर जानेका स्वभाव होनेके कारण सिद्धजीवकी ऊर्ध्वगति सिद्ध है।

भावार्थ—जिस प्रकार कुम्हार पहले दण्डके सहारेसे चाकको घुमाता है और इसके पश्चात् दण्डके हटा लेनेपर भी चाक घूमता ही रहता है। उसी प्रकार सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके तीसरे शुक्ल-ध्यानके समयमें आत्म-प्रदेशोंकी अवगाहनाको एक तिहाई हीन करते हुए जीवमें क्रियाका जो संस्कार रह जाता है, उसी संस्कारके वशसे वह आत्माको ऊर्ध्वगमन कराता है।

---

१ तपूर्व-ब। २-तृतीयशु-ब०। ३- बन्धच्छेदादसङ्गभावाच्च गुणितोऽवमंता-प० ब० पुस्तकयोः।

तथा जिस प्रकार एरण्डफलके फूटने ही उसके बीज छिटककर ऊपरकी ओर जाते हैं, उसी प्रकार कर्म-बन्धनके टूटनेपर मुक्तात्मा ऊपरको जाता है। तथा जैसे मिट्टी आदिके लेपके भारसे मुक्त होते ही तुंबी जलके अन्दरसे तुरन्त ऊपर आ जाती है वैसे ही समस्त संग-परिग्रहसे मुक्त हुआ जीव ऊपरको जाता है। और जिस प्रकार दीपककी शिखा वायु आदिके निमित्त न मिलनेपर स्वभावसे ऊपरकी ही ओर जाती है, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी ऊपरको ही जाता है।

अनुपम तत्र सुखमस्तीति कथमवगम्यत इत्याह—

मुक्तजीवके अनुपम सुखकी सिद्धि करते हैं:—

देहमनोवृत्तिभ्यां भवतः शारीरमानसे दुःखे।
तदभावात्तदभावे सिद्धं सिद्धस्य सिद्धिसुखम् ॥ २९५ ॥

टीका—देहः शरीरं मनश्च तयोर्वृत्तिवर्तनं सद्भाव आत्मनि संश्लेषेण्यस्तम शरीरसंश्लेषा च्छरीर दुःखमुपजायते। मनःसम्बन्धाच्च मानसं दुःखमिष्टवियोगादौ। तस्य च शरीरमनसोर भावे सति तत्कृतस्य दुःखस्याभाव। दुःखाभावे च सिद्धं स्वाभाविकं प्रतिष्ठितमव्याबाधं सिद्धिसुखमिति ॥ २९५ ॥

अर्थ—शरीर और मनके सम्बन्धसे शारीरिक और मानसिक दुःख होता है। तथा शरीर और मनका अभाव होनेसे वह दुःख नहीं होता अतः सिद्धजीवके सिद्धिका सुख सिद्ध ही है।

भावार्थ—शारीरिक दुःखका कारण शरीर है और मानसिक दुःखका कारण मन है। किन्तु मुक्त जीवके न शरीर ही होता है और न मन ही। अतः दुःखके इन दोनों कारणोंके न होनेसे सिद्ध जीवका दोनों प्रकारके दुःख नहीं होते। दुःखके न होनेसे स्वाभाविक सुख सिद्ध ही है। क्योंकि आत्माका सुख गुणका विकार ही दुःख है। अतः विकारके दूर हो जानेपर सुख-गुण स्वाभाविकरूपमें वर्तमान रहता है। तथा सुख और दुःख परस्परमें विरोधी हैं—एकके अभावमें दूसरा अवश्य रहता है। दोनोंका अभाव किसी भी सचेतनमें नहीं हो सकता। अतः मुक्तजीवके दुःखोंसे मुक्त होजानेपर स्वाभाविक सुख रहता है।

यस्तु यतिर्घटमानः सम्यक्त्वज्ञानशीलसम्पन्नः[1]।
वीर्यमनिगूहमानः[2] शक्त्यनुरूपंप्रयत्नेन ॥ २९६ ॥

टीका—यतिस्तपस्वी साधुर्घटमानश्चेष्टमानः प्रवचनोक्तसमस्तक्रियानुष्ठायी। सम्य क्त्वेन शंकादिरहितेन। सम्यग्ज्ञानेन श्रुतादिना। शीलेन च मूलोत्तरगुणरूपेण सम्पन्नः।

---

१ ज्ञानेति नास्ति—फ प्रतौ। २ वीर्यमनिगूहमानः पुनरिति—फ प्रतौ।

शक्तिर्यापि सामर्थ्यं तदनिगूहमानोऽप्रच्छादयन् यथाशक्त्यनुरूपेण प्रयत्नेन चेष्टते[1] । अहर्निशमनुष्ठेयासु क्रियासु मात्सर्यरहित ॥ २९६ ॥

संहननायुर्बलकालवीर्यसम्पत्समाधिवैकल्यात् ।
कर्मातिगौरवाद्वा स्वार्थमकृत्वोपरममेति ॥ २९७ ॥

टीका—संहननं वज्रर्षभनाराचादि । आयुः स्वल्पम् । बलहानिर्वा दुर्बलशरीरत्वात् सामर्थ्यस्य हेतुः । कालो दुःषमादि । वीर्यं सम्यग् नास्ति प्रचुरवीर्यत्वाभावः । सम्पद्वलाभिः[2] । समाधिः स्वस्थता चित्तस्यास्वस्थता सापि नास्ति । एषां संहननादीनां वैकल्याद्विकलत्वात् । कर्मणां चातिगौरवात् ज्ञानावरणादीनामतिगौरवं निकाचनावस्थाप्राप्तिः । स्वार्थं सकलकर्मक्षयः । तमकृत्वा म्रियते उपरममेतीति तपस्वी ॥ २९७ ॥

सौधर्मादिष्वन्यतमकेषु सर्वार्थसिद्धिचरमेषु ।
स भवति देवो वैमानिको महर्द्धिद्युतिवपुष्कः ॥ २९८ ॥

टीका—सम्यग्दृष्टिर्वैमानिकेष्वेवोत्पद्यते सौधर्मादिषु कल्पेषु द्वादशसु नवसु च ग्रैवेयकेषु पञ्चसु सर्वार्थसिद्धिविमानेषु स्वर्गप्रपञ्चपर्यवसितेषु देवः संजायते वैमानिकाख्यस्य स्थाने विमानवासीत्यर्थः । महती ऋद्धिद्युतिवपुश्च यस्य स महर्द्धिद्युतिवपुष्कः । ऋद्धिः परिवारादिका । द्युतिः शरीरच्छाया वपुः शरीरं तदपि महत्त्वं (नापचरित) किं त्वहीनम् । समचतुरस्रं संस्थानं वैक्रियमुत्तरोत्तरसंस्थानप्राप्तौ च क्रियाति प्रमाणं । सुखादिभिः प्रकृष्टं प्रकृष्टतरं प्रकृष्टतमं च संभवतीति ॥ २९८ ॥

अर्थ—जो साधु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे युक्त होता है, और अपनी शक्तिको नहीं छिपाता हुआ अपने सामर्थ्यके अनुसार संयमके पालनमें प्रयत्नशील रहता है तथा संहनन आयु, बल काल शक्ति-सम्पदा और ध्यानकी कमीके कारण एवं कर्मोंके अति निबिड़ होनेके कारण स्वार्थ-सकलकर्म-क्षयको किये बिना ही मरणको प्राप्त होता है, वह साधु सौधर्मस्वर्गसे लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त किसी एक विमानमें आश्चर्यजनक ऋद्धि, कान्ति और शरीरका धारक वैमानिकदेव होता है ।

भावार्थ—जो साधु प्रवचनमें कही गई समस्त क्रियाओंको बड़े प्रयत्नसे अपनी शक्तिको न छिपाकर करता है, रात-दिन उनके पालनमें संलग्न रहता है तथा शंकादि दोषोंसे रहित सम्यक्त्वसे, सम्यग्ज्ञानसे मूलगुण और उत्तरगुणरूप चारित्रका पालन करता है परन्तु वज्रर्षभनाराच आदि उत्तम संहननके न होनेसे अल्पायु होनेसे शरीरमें बल न होनेसे, पंचम आदि कालके होनेसे

१- चेष्टते इत्यारभ्य मात्सर्यरहित इति पर्यन्तः पाठः—प० प्रतौ नास्ति । २—नास्ति स्वस्थतामिदं—प पुस्तके । ३—व तपस्वी-फ०—ब० ।

वीर्यकी कमीके कारण चित्तकी स्थिरता न होनेसे, तथा कर्मोंका निकाचितबन्ध होनेके कारण समस्त कर्मोंका क्षय किये बिना ही वह मर जाता है, वह साधु सौधर्मस्वर्गसे, बारह कल्पोंमें, नवग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तरविमानोंमें से किसी एकमें जन्म लेता है और इस प्रकार वह वैमानिकदेवोंमें ही उत्पन्न होता है तथा वह बड़ी भारी ऋद्धि, कान्ति और समचतुरस्रसंस्थानसे युक्त उत्तम देव शरीरका धारक होता है। तात्पर्य यह है कि जिन साधुओंको मुक्ति प्राप्तिके समस्त साधन सुलभ रहते हैं व मोक्ष प्राप्त करते हैं किन्तु जिन्हें इस प्रकार—सामग्रीकी प्राप्ति नहीं होती वे मरकर प्रभावशाली महर्द्धिक देव होते हैं ॥ २९६, २९७, २९८ ॥

तत्र सुरलोकसौख्यं चिरमनुभूय स्थितिक्षयात्तस्मात् ।
पुनरपि मनुष्यलोके गुणवत्सु मनुष्यसंघेषु ॥ २९९ ॥

टीका—तत्रेति सौधर्मादौ सुरलोके सौख्यमनुभूय चिरं स्थितिमेवायुष्पर्यन्तमिति। ततः स्थितिक्षयादायुषः। तस्मात् सुरलोकान्मनुष्यलोकमागत्य गुणवत्सु मनुष्येषु विशिष्टान्वयेषु जातिकुलाचारसम्पन्नेषु संघेष्विति बहुपुरुषेषु ॥ २९९ ॥

जन्म समवाप्य कुलबन्धुविभवरूपबलबुद्धिसम्पन्नः[1] ।
श्रद्धासम्यक्त्वज्ञानसंवरतपोबलसमग्रः ॥ ३०० ॥

टीका—समवाप्य सम्प्राप्य जन्म। बन्धु स्वजनलोकः। कुलं पितुरन्वयः। विभवो द्रव्यसम्पत्। रूपं विशिष्टशरीरावयवसन्निवेशः। बलं वीर्यसम्पत्। बुद्धिरौत्पत्तिक्यादिः। एभिर्बन्धुकुलादिभिः सम्पन्नः समन्वितः। श्रद्धा भगवत्सु प्रीतिरतिशयवती शक्तिर्यतिषु च यतिषु श्रद्धा परितोषः। सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणम्। ज्ञानं मत्यादिज्ञानं यथासंभवम्। संवर आस्रवनिरोधलक्षणस्तपोबलं तपसि द्वादशविधे उत्साहोऽनुष्ठानं च। एभिः समग्रः[2] सम्पूर्णः संयुक्तो वेति ॥ ३०० ॥

अर्थ—वहाँ बहुत कालतक सुरलोकके सुखको भोगकर आयुका क्षय होनेपर वहाँसे फिर भी मनुष्यलोकमें आकर गुणवान् मनुष्य परिवारमें जन्म होता है। और कुल बन्धु, सम्पत्ति, रूप, बल, और बुद्धिसे युक्त होता है तथा श्रद्धा, सम्यक्त्व, ज्ञान, संवर और तपोबलसे पूर्ण होता है।

भावार्थ—वह साधु वैमानिकदेवोंमें जन्म लेकर बहुत कालतक देवलोकके सुखोंको भोगता है। जब आयु पूरी हो जाती है तो वहाँसे च्युत होकर फिर भी मनुष्य-लोकमें आता है और जाति कुल और आचारसे युक्त उच्च मनुष्य परिवारमें जन्म लेता है। वहाँ भी उसे उत्तम कुल मिलता है, खूब बन्धु-बान्धव मिलते हैं, धन सौन्दर्य, शक्ति, और बुद्धि प्राप्त होती है। भगवान् अर्हन्तदेवमें उसकी

१–इदमिदं च पुस्तके नास्ति। २–इदमिदं च पुस्तके नास्ति। ३–सम्पूर्णं ब–प।

बड़ी भारी प्रीति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आस्रव निरोधरूप संवरसे वह युक्त होता है, एवं बारह प्रकारके तपोंके आचरणमें उसे बड़ा-भारी उत्साह रहता है।

पूर्वोक्तभावनाभिर्भावितान्तरात्मा विधूतसंसारः ।
सेत्स्यति ततःपरं वा स्वर्गान्तरितस्त्रिभवभावात् ॥ ३०१ ॥

टीका—पूर्वोक्ता द्वादश भावना या अनित्यादिकाः। एताभिर्भावितो वासितोऽन्तरात्मा ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावो विधूतस्त्यक्तो विक्षिप्तः संसारो येन नरकादिगतिभेदः स विधूतसंसारः। उत्तीर्णप्राय संसारसागरान् स्वल्पशेषभव इत्यर्थः। सेत्स्यति सिद्धिं प्राप्स्यति। एवंविधक्रिया शुद्धतायां ततःपरं प्रकर्षतः स्वर्गान्तरितस्त्रिभवभावात् सम्प्रति मनुष्यः उत्पन्नस्तदायुःक्षयात् ततो देवस्तस्मात् प्रच्युतः पुनर्मनुष्य भवमेत्य सेत्स्यतीति। त्रीन् भवाननुभूय त्रीणि कर्माणि क्षपयित्वेत्यर्थः ॥ ३०१ ॥

अर्थ—पहले कही गई बारह भावनाओंसे उसकी अन्तरात्मा सुवासित होता है और वह संसारका नाश करनेवाला होता है तथा उसके बाद मध्यमें स्वर्गमें जन्म लेकर तीसरे भवमें मुक्तिको प्राप्त करता है।

भावार्थ—उसकी आत्मा पहले कही हुई बारह भावनाओंके रंगमें रंगी रहती है तथा पहले मनुष्य जन्ममें जो बारह भावनाओंका चिन्तन किया था उसका संस्कार भी बराबर बना रहता है। ऐसे साधुको संसार-समुद्रसे पार हुआ ही समझना चाहिए। क्योंकि उसके भव बहुत ही कम शेष रह जाते हैं। केवल तीन ही भव धारण करके वह मुक्त होता है। अर्थात् वर्तमानका एक मनुष्य-भव तो वह भोग ही रहा है उसके बाद देव होता है और वहाँसे च्युत होकर पुनः मनुष्य-भव धारण करके मोक्ष चला जाता है।

एवं यतेश्चर्यामभिधाय गृहाश्रमिणं प्रत्याह—

इस प्रकार मुनि चर्याका कथन करके गृहस्थकी चर्या बतलाते हैं—

यश्चेह जिनवरमते गृहाश्रमी निश्चितः सुविदितार्थः ।
दर्शनशीलव्रतभावनाभिरभिरञ्जितमनस्कः ॥ ३०२ ॥

टीका—इह मनुष्यभावे यो गृहाश्रमी जन्म मरणा गृहस्थ एव तीर्थकरवचन सुविदितार्थः सम्यक्प्रभिन्न सर्वं भगवद्भिरुक्तम्। एतदेव संसारापनुदकं प्रवचनम्। दर्शन

१—पूर्वोक्ता—प० । २ सुविदितार्था—प० । ३ परमेत्य—प० ... प्रशमरति—प० । ४—गृहस्थ इ प० ।

तत्त्वार्थश्रद्धानम्। शीलमुत्तरगुणाः । व्रतग्रहणादणुव्रतानि । अनित्यादिका द्वादश भावनाः। एवं दर्शनादिभिरभिरञ्जितं वासितं मनो यस्य स भवति सम्यग्भावितमनस्कः ॥ ३०२ ॥

स्थूलवधानृतचौर्यपरस्त्रीरत्यरतिवर्जितः सततम् ।
दिग्व्रतमिह देशावकाशिकमनर्थविरतिं च ॥ ३०३ ॥

टीका—स्थूलस्य प्राणातिपाताद्विरतिः प्रथममणुव्रतम् । स्थूला बादरा प्राणिनो ये तेभ्यो विरतिस्तेषामवधः । न सूक्ष्मेभ्यो विरतिः पृथिव्यादिकायेभ्यो विरतिः । अथवा संकल्पजः स्थूलस्तस्माद्विरतिः । संकल्प इति व्यवस्याम्य व्यापादयामीति स्थूलप्राणातिपातस्माद्विरतिः प्रथममणुव्रतम् । न पुनरारम्भजाद्विरतिरिति । स्थूलमनृतं यद्विरोधकमसभ्यकन्यालीकभूम्यलीकादि-रोहणे सत्यमप्यसत्यमन्यथा भाषते तस्माद्विरतिः न परिहासादिभाषणात् । चौर्यमदत्तस्यादानं स्थूलम् यस्मिन्नपहृते चौर्यमित्यभिधीयते तत्स्थूलम् तस्माद्विरतिः । परदारनिवृत्तिर्नियमस्य तु परपरिगृहीतस्त्रीपरिहारः न तु वेश्यापरिहारः । रत्यरतिभ्यां वर्जितस्ततः । सततं सर्वदा रतिर्विषयेषु प्रीतिः, अरतिरुद्वेगो भयपरिपाकमादिकियाभ्यिति यास्त्वादिभिरिच्छा । तस्याश्च परिमाणं व्रतमेतावन्ति वास्तूनि क्षेत्राणि हिरण्यसुवर्णमेतावत् तथा धनं धान्यं कुप्यादि चोपस्करजात सब परिमितं धार्यमिति । परिमाणादुपर्युपरि स्थूलं तस्माद्विरतिरणुव्रतम् । सा सातुपास्यमपि शेषं व्रतग्रहणाद्गृहीतं द्रष्टव्यम् । रात्रिभोजनविरतिश्च यथाशक्तीति । दिग्व्रतं व्रतमूर्ध्व दिक्षु ऊर्ध्वमधश्च गमनपरिमाणमेतावत् गन्तव्यं न परत इति परतो गमनाद्विरतिः । चतुर्मास्यादिषु च भवति । तथा देशावकाशिकं व्रतं प्रतिदिवसमस्ये एतावती मर्यादा मम गमनस्येति तस्यैव संक्षेपगृहीतस्य दिग्व्रतस्य देशेऽवकाशं कल्पयति देशावकाशिकं व्रतम् । अनर्थदण्डविरतिश्च प्रयोजनाभावोऽनर्थः विना प्रयोजनेनात्मानं दण्डयति अग्निशस्त्रादिप्रदाना-दिनाऽनेकभेदेन तस्माद्विरतिव्रतम् ॥ ३०३ ॥

सामायिकं च कृत्वा पौषधमुपभोगपारिमाण्यं च ।
न्यायागतं च कल्प्यं विधिना पात्रेषु विनियोज्यम् ॥ ३०४ ॥

टीका—सामायिकं प्रतिक्रमणम् । अथवा चैत्यायतनसाधुवसतिषु वा यावद्गम्ये तावत् सामायिकं करोति— करोमि भदन्त सामायिकम् सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि, यावन्नियमं भगवदर्हद्बिम्बसाधून् वा पर्युपासे त्रिविधं त्रिविधेनेत्याह । " तथा पौषधव्रतं कृत्वा

१–दर्शनप्रभृतिः–ब । २–विरमण–फ० ब । ३–दृष्टीन–फ० । ४–एतावन्ति मा–फ ।
५– तथानुपासीति इत्यारभ्य ब पुस्तके इतिपर्यन्तः पाठः–ब प्रती नास्ति । ६–नास्ति एतदिदं–फ पुस्तके ।

पौषध आहारादिसक्तस्य वारणं निवारणं प्रतिषेधः पौषधः । स चाहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारभेदेन चतुर्विधः । अष्टमीपौर्णमास्यादिषु क्रियते । उपभोगपरिमाणव्रतमुपभोगः पुष्पधूपस्नानांगरागादिः । परिभोगो वस्त्रशयनादिः । स च द्वेधा-भोजनतः कर्मतश्च । भोजनतोऽशनपानखाद्यस्वाद्यरूपं मांसमद्यानन्तकायमध्वादिविषयः । कर्मतः पञ्चदशभेदः, अंगारकरणवनच्छेदभाटकादिलक्षणः । अविकादिविरतिर्मांसादेश्च उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतं (व्रतम्)। तथाऽन्योऽतिथिसंविभागः । स च पौषधपारणकाले व्यापारगतव्यापारहितस्यौपारणोपात्तस्य वैदुग्धघृतादेरुपसाधितस्य कल्पनीयस्य सानुक्रमेणाक्तस्य । विधिनेति यावन्निर्वृत्तः पाकस्तस्य सत्कारपूर्वकं सानुक्रमं पात्रेषु दानं विनियोगः । पात्रग्रहणात् साधुभ्यो प्रथममागतेभ्यो देयम्, न समागतेषु कृत्वा भीत्वा साधुवसतौ देयमिति । यच्च साधुभ्यो न दत्तं पारणकाले तन्नाभ्यवहरति स्वयमिति ॥ ३०४ ॥

चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः ।
पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः ॥ ३०५ ॥

टीका—चैत्यं चितया प्रतिमा इत्येकार्थः । तेषामायतनमाश्रयश्चैत्यकुल्यानि । प्रकृष्टानि स्थापनानि प्रस्थापनानि । महत्या विभूत्या वादित्रनृत्यतालानुचारस्वजनपरिवारादिकया प्रस्थापना प्रतिष्ठेति तानि कृत्वा शक्तितः प्रयतवान् यथा यथा प्रवचनोड्डीपनं भवति तथा कृत्वेति । पूजाः सपर्याः । गन्धो विशिष्टद्रव्यसम्बन्धी । माल्यं पुष्पम् । अधिवासः पटवासादिः । धूपः धूपविद्रव्यसंयोगजः । प्रदीपः प्रदीपदानम् । आदिग्रहणादुपलेपनसमार्जनलक्षणस्फुटितसंस्करणचित्रकर्माणि चेति ॥ ३०५ ॥

प्रशमरतिनित्यतृषितो जिनगुरुसत्साधुवन्दनाभिरतः ।
संलेखनां च काले योगेनाराध्य सुविशुद्धाम् ॥ ३०६ ॥

टीका—प्रशमः कषायादिजयस्तत्र रतिः प्रीतिस्तस्यां प्रशमरतौ नित्यमेव तृषितः साभिलाषः— कदा साधुत्वमवाप्य कषायरिपुं जेष्यामीति ।" जिनानां तीर्थकृतां गुरूणामाचार्योपाध्यायादीनां, साधूनामन्य साधुलोकस्य च वन्दने नमस्करणे प्रतिक्षणमभिरतः । मारणान्तिकसंलेखनाकाले प्रत्यासन्ने जीवितच्छेदे । द्रव्यतो भावतश्च संलिख्य शरीरं कषायांश्च । योगेनेति ध्यानेनाराध्याभिमुखीकृत्य धर्मेणाज्ञाविचयादिना शुद्धं चाद्वे विशुद्धां निर्मलां जीवित

१-तपौरेव-क० । २-मनरिभोगपरि-ब । ३-परिग्रहमारि-ब । ४-छेदभटाद-क० । ५-वरिमाप-ब । परिवारानुगमन्-क० । ६-तस्या-ग ब । ७-तमपराधो-ग ब । ८-वनी-क ब । ९-स्पष्टं-क । १०-मारणान्तिकं च संलेखना-ब ।

मरणाशंसादिदोषरहितां कृत्वेति सम्बन्धः। एवं गृहे स्थितो द्वादशविधं श्रावकधर्ममनुपाल्य पञ्चाणुव्रतानि त्रीणि गुणव्रतानि दिक्परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणमनर्थदण्डविरतिश्च। शिक्षाव्रतानि चत्वारि सामायिकं देशावकाशिकं पौषधोपवासोऽतिथिसंविभागश्चेति द्वादश-प्रकारमप्यनुपाल्य संलेखनां चाराध्य ॥ ३०६ ॥

प्राप्तः कल्पेष्विन्द्रत्वं वा सामानिकत्वमन्यद्वा ।
स्थानमुदारं तत्रानुभूय च सुखं तदनुरूपम् ॥ ३०७ ॥

टीका—कृत्वा सौधर्मादिकल्पेष्विन्द्रत्वमधिपतित्वमवाप्य। कदाचित् सामानिकत्व-मिन्द्रतुल्यत्वम्। इन्द्रत्ववर्जितास्तु सामानिका भवन्ति शेषं स्थित्यादि तुल्यम्। अन्यद्वा स्थान-मुदारं विशिष्टं सामान्यदेवत्वं प्राप्य वैमानिकेषु। तत्र च देवजन्मसुखं स्थानानुरूपमनुभूय अनन्यसमोत्कृष्टम् ॥ ३०७ ॥

नरलोकमेत्य सर्वगुणसम्पदं दुर्लभां पुनर्लब्ध्वा ।
शुद्धः स सिद्धिमेष्यति भवाष्टकाभ्यन्तरे नियमात् ॥ ३०८ ॥

टीका—स्थितिक्षयात्ततश्च्युतो मनुष्यलोके समागत्य गुणवत्सु मनुष्येषु आर्य-देशादिषु जातिकुलविभवरूपसौभाग्यविशिष्टां सम्पदं सम्यक्त्वादिगुणसंपदं च लब्ध्वा। शुद्धः सकलकर्मकलङ्कविनिर्मुक्तः। स एवं सुखपरंपरया सिद्धिमेष्यति। अष्टानां भवानामभ्यन्तरे नियमेनैवेति। तस्माद्भवता गृहस्थधर्मोऽप्यनुपाल्यः पश्चात्ते च साधुधर्म इति ॥ ३०८ ॥

अर्थ—(३०१-३०८) इस लोकमें जो श्रावक है वह तीर्थंकरके वचनोंमें विश्वास करके तत्त्वार्थको अच्छी तरह जानकर सम्यग्दर्शन, शील व्रत और भावनाओंसे अपने मनको सुवासित करके सदाके लिए स्थूल हिंसा स्थूल झूठ, स्थूल चोरी परस्त्री राग और द्वेषको त्याग करके उसके पश्चात् दिग्व्रत, देशावकाशिकव्रत अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषध और भोगोपभोग परिमाणको करके न्यायपूर्वक उपार्जित अन्नादि द्रव्यको पात्रोंमें विधिपूर्वक देकर शक्तिके अनुसार प्रयत्नपूर्वक चैत्यालयोंकी प्रतिष्ठा करके गन्ध, माला अधिवास धूप दीपक वगैरहसे पूजा करके सर्वदा प्रशमरतिका इच्छुक तथा तीर्थंकर आचार्य, उपाध्याय और साधुगणोंको नमस्कार करनेमें तत्पर होता हुआ मरणकाल आनेपर ध्यानके साथ सुविशुद्ध संलेखनाका आराधन करके सौधर्मादिक कल्पोंमें इन्द्रपद, सामानिकपद, अथवा अन्य किसी महान् पदको प्राप्त करता है। और वहाँ उस स्थानके अनुरूप सुखको भोगकर, मनुष्यलोकमें आकर दुर्लभ समस्त गुण-सम्पदाको प्राप्त करके आठ भवोंके अन्दर शुद्ध होकर नियमसे सिद्धिको प्राप्त करता है।

१—वस्त्रादि—ब. । २—'मपि' फ. पुस्तके नास्ति । ३—भवाष्टके—ब । ४—पञ्चकरणा—फ. । ५ मोक्षं प्राप्स्यतीति इत्यधिकः पाठः—ब. पुस्तके ।

भावार्थ—इस मनुष्यलोकमें जो गृहस्थ है वह तत्त्वार्थको अच्छी तरह जानकर जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनोंमें निश्चय करता है कि भगवान्‌का कथन सत्य है, उनके द्वारा उपदिष्ट प्रवचन ही संसारसे पार लगानेवाला है। इस प्रकार निश्चय करके सम्यग्दर्शन अणुव्रत, शीलव्रत, और अनित्यत्व आदि भावनाओंसे अपने मनको सुवासित करता है। वे व्रत और शील निम्न प्रकार हैं—

स्थूल हिंसाका त्याग पहला अणुव्रत है। जो प्राणी बादर होते हैं, श्रावक उनकी हिंसा नहीं करता। किन्तु जो पृथ्वीकाय वगैरह सूक्ष्म जीव होते हैं, उनकी हिंसाका उसे त्याग नहीं होता। अथवा हिंसा दो प्रकारकी होती है—एक संकल्पी और दूसरी आरंभी। 'मैं इसे मारूँगा'—ऐसा हृदयमें संकल्प करके जो किसी भी प्राणीका वध किया जाता है, वह संकल्पीहिंसा है। और आरम्भ करनेसे जो हिंसा होती है, वह आरंभीहिंसा है। श्रावक संकल्पीहिंसाका त्याग करता है, आरंभीका नहीं क्योंकि आरम्भ किये बिना उसका जीवन-व्यापार नहीं चल सकता। अतः स्थूल अर्थात् संकल्पीहिंसाका त्याग पहला अणुव्रत है। स्थूल झूठका त्याग दूसरा अणुव्रत है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न बतला-कर अन्यथा बतलाना असत्य है। किन्तु हँसी दिल्लगीमें जो अन्यथा भाषण किया जाता है श्रावक उसका त्याग नहीं करता है। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहण करनेको चोरी कहते हैं। जिसके ग्रहण करनेसे मनुष्य चोर कहा जाता है, वह स्थूल चोरी है। श्रावक एसी चोरीका त्याग करता है। यह तीसरा अणुव्रत है। चौथे अणुव्रतके दो प्रकार हैं—एक स्वदारसन्तोष और दूसरा परदारनिवृत्ति। स्वदारसन्तोषव्रतीके लिए परस्त्रीसेवन और वेश्यागमन—दोनों ही स्थूल हैं अतः वह दोनोंका त्याग करता है। किन्तु परदारनिवृत्तिका पालक परस्त्रीगमनका तो त्याग करता है, पर वेश्यागमनका त्याग नहीं करता क्योंकि वेश्या किसीकी परिगृहीत स्त्री नहीं है। सर्वदा विषयोंमें प्रीति करनेका और व्रतपालन आदि क्रियाओंमें दूष करनेका त्याग करना पाँचवाँ अणुव्रत है। इसको इच्छापरिमाण भी कहते हैं। अर्थात् खेत मकान वगैरहकी इच्छाका परिमाण करना कि इतने मकान-खेत, इतना सोना-चाँदी इतना धन-धान्य वगैरह रखनेका मैं नियम करता हूँ—यह इच्छापरिमाण नामका पाँचवाँ अणुव्रत है।

यथाशक्ति रात्रिभोजनव्रतका भी पालन करना चाहिए। ये पाँच अणुव्रत हैं। सप्तशील निम्न प्रकार हैं—

चारों दिशाओंमें तथा ऊपर-नीचे जानेका परिमाण करना कि मैं अमुक दिशाओंमें अमुक स्थानतक ही जाऊँगा—उससे आगे नहीं जाऊँगा; यह पहला दिग्व्रत है। दिग्व्रतके द्वारा परिमित देशमें प्रतिदिन जो गमना-गमनकी मर्यादकी जाती है, कि आज मैं अमुक अमुक स्थानतक जाऊँगा, उसे देशावकाशिकव्रत कहते हैं। बिना प्रयोजन मन, वचन कायकी प्रवृत्ति करनेको अनर्थदण्ड कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं और उसके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। प्रतिदिन एक बार अथवा मन, वचन कायसे सावद्य प्रवृत्ति त्याग करनेको सामायिक कहते हैं। चैत्यालयमें अथवा साधुओंके निकटमें जबतक बैठता है तबतक सामायिक करनेकी प्रतिज्ञा करता है कि—हे भगवन्! मैं सामायिक करता हूँ अमुक अमुक समयतक सावद्ययोगका त्याग करता हूँ अथवा अमुक अमुक समयतक भगवान् अर्हन्तके

१ "आत्मवस्तुनि मुक्ते प्रत्यावमात्मोपमात्रेन। सर्वेषां च सामर्थ्यात् सामायिकं नाम तेनोक्तम् ॥"
—श्रीमदमितगतिसूरिविरचित-धर्मरत्नाकर ॥ १० ॥

बिम्बकी और साधुओंकी उपासना करता है। अष्टमी-पौर्णमासी आदिके दिन आहारादिको पौषध कहते हैं। उसके चार भेद हैं। आहारका त्याग, शरीरके सत्कारका त्याग, ब्रह्मचर्य धारण और पापयुक्त व्यापारका त्याग। पुष्प, धूप, स्नान, अङ्गराग वगैरह जिन वस्तुओंको एक बार ही भोग सकते हैं, उन्हें उपभोग कहते हैं और वस्त्र, शय्या आदि जो वस्तुएँ बार-बार भोगनेमें आती हैं उन्हें परिभोग कहते हैं। उनके परिमाण करनेको भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहते हैं। यह परिमाण दो प्रकारसे होता है—एक भोजनकी अपेक्षासे और दूसरा कार्यकी अपेक्षासे। भोजन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदिका परिमाण करना और मद्य, मांस, मधु, अनन्तकाय वगैरहका त्यागना भोजनकी अपेक्षासे परिमाण करना है तथा आग, वन, गाड़ी-भाड़ा आदि पन्द्रह प्रकारके खरकर्मोंसे आजीविका त्याग करना कर्मकी अपेक्षासे परिमाण करना है।

सातवाँ व्रत अतिथिसंविभाग है। पौषधकी पारणाके समयमें न्यायपूर्वक अनिन्दनीय व्यापारके द्वारा उपार्जित द्रव्यसे खरीदे गये शुद्ध चावल, घी वगैरह द्रव्योंसे साधुके उद्देश्यसे न बनाये गये भोजनमें से घर आये हुए साधुओंको विधिपूर्वक जो दान दिया जाता है, उसे अतिथिसंविभागव्रत कहते हैं। पात्रग्रहणसे यह स्पष्ट है कि घरपर पधारे हुए साधुओंको ही आहारदान देना चाहिए। अपने बर्तनोंमें साधुओंकी वसतिकाओंमें ले जाकर नहीं देना चाहिए। अतिथिसंविभागव्रती श्रावक जो वस्तु साधुओंको नहीं देता, पारणाके समय वह वस्तु स्वयं भी नहीं खाता। इस प्रकार श्रावक इन पाँच अणुव्रतों और सात शीलोंका पालन करता है। तथा अपनी शक्तिके अनुसार गाजे-बाजे, स्वजन-परिवारके बड़े भारी समारोहके साथ जिससे प्रवचनकी प्रभावना हो, उस ढंगसे चैत्यालयोंकी प्रतिष्ठा करता है और दीप-धूप माला वगैरहसे जिनभगवान्की पूजन करता है। उसकी सदैव यही अभिलाषा रहती है कि कब साधु बनकर कर्मरूपी शत्रुओंको जीतूँ। इसके सिवाय वह तीर्थङ्कर भगवान्, आचार्य, उपाध्याय वगैरह गुरु और साधुजनोंको नमस्कार करनेमें सदैव संलग्न रहता है। जब मरणकाल आता है तो शरीर और कषाय आदिको कृश करके आज्ञाविचय आदि ध्यानके द्वारा जीने-मरनेकी इच्छा आदि दोषोंसे रहित हुआ सल्लेखनापूर्वक मरण करता है।

इस प्रकार गृहस्थ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत—इन बारह प्रकारके श्रावक-धर्मका पालन करके तथा अन्तमें सल्लेखनाका आराधन करके देवलोकमें या तो इन्द्रपदको प्राप्त करता है या इन्द्रके ही समान सामानिक पदको प्राप्त करता है या किसी अन्य प्रभावशाली वैमानिकदेवका पद प्राप्त करता है। वहाँपर अपने पदके अनुरूप जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट सुखको भोगता है। आयुके क्षय होनेपर वहाँसे च्यवकर वह मनुष्यलोकमें जन्म लेता है। वहाँपर भी उसे जाति, कुल, वैभव, रूप, सौभाग्य आदि सम्पदा सम्यक्त्व आदि प्रशस्त गुण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सुखकी

---

१ "[illegible] [illegible] सकलं पञ्चधा [illegible]। [illegible] ॥ २१॥
निर्व्याप्य [illegible] [illegible]। [illegible] ॥ २२॥
इति [illegible] [illegible]। [illegible] ॥" २३ ॥
—पंडित प्रवर आशाधरकृत-सागारधर्मामृत ८ वाँ अ.

परम्पराका भोग करते हुए वह गृहस्थ आठ भवोंके अन्दर ही नियमसे मोक्षको प्राप्त करता है। अतः प्रारम्भमें गृहस्थ-धर्मका भी पालन करना चाहिए और अन्तमें साधु-धर्मका पालन करना चाहिए।

इत्येवं प्रशमरतेः फलमिह स्वर्गापवर्गयोश्च शुभम् ।
सम्प्राप्यतेऽनगारैरगारिभिश्चोत्तरगुणाढ्यैः ॥ ३०९ ॥

टीका—इतिशब्दः प्रकरणपरिसमाप्तिप्रदर्शनार्थः। एवमिति वर्णितेन न्यायेन। इहेति मनुष्येष्वेव बाहुल्येन स्वर्गफलम्। तिर्यग्गतौ च केषांचित् स्वर्गावाप्तिनाल्पम्। अपवर्गफलम्। पुनर्मनुष्येष्वेव। शुभमिति वैषयिकस्वाभाविकभेदादुभयमपि फलं शुभमिति। तत्रैव तदपवर्गान्तं फलं प्राप्यतेऽनगारैः साधुभिः। अगारिभिश्च स्वर्गफलं प्राप्यते। अपवर्गफलं तु पारम्पर्येणावाप्यते गृहाश्रमिभिरिति। [1]कीदृशैरनगारैरगारिभिर्वा उत्तरगुणाढ्यैः प्रधानगुणयुक्तैः मूलोत्तरगुणसम्पत्समर्थैर्निरवद्यसंयमानुष्ठायिभिरिति ॥ ३०९ ॥

अर्थ—इस प्रकार मनुष्योंमें उत्तरगुणोंसे सम्पन्न मुनि और गृहस्थ प्रशमरतिके द्वारा स्वर्ग और मोक्षके शुभ फलको प्राप्त करते हैं। यहाँ 'इति' शब्द इस प्रकरणकी समाप्तिका सूचक है। तथा 'इह' पदसे मनुष्योंका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्वर्ग-फलकी प्राप्ति अधिकतया मनुष्योंको ही होती है। तिर्यग्गतिमें भी स्वर्ग-फलकी प्राप्ति होती है परन्तु बहुत कम। तथा मोक्ष-फल तो मनुष्यगतिमें ही प्राप्त होता है। यहाँ दोनों प्रकारके फलोंका ग्रहण किया गया है—एक वैषयिक और दूसरा स्वाभाविक। वैषयिक-फलकी दृष्टिसे स्वर्ग प्रधान है और स्वाभाविक फलकी दृष्टिसे मोक्ष प्रधान है। मोक्ष-फलको निर्दोष संयमके अनुष्ठाता संयमी जन ही प्राप्त करते हैं और गृहस्थ जन स्वर्ग-फलको प्राप्त करते हैं तथा परम्परासे मोक्ष फलको प्राप्त करते हैं। प्रशम-वैराग्यमें रति-प्रीति होनेके कारण ही यह सब फल-प्राप्ति होती है। अतः वैराग्यमें मनको लगाना चाहिए।

उक्तं योऽयं प्रकरणप्रारम्भात् प्रभृति स सर्व एव प्रवचने, न मया स्वमनीषिकया किञ्चित् कल्पितमस्ति, प्रवचनस्य च माहात्म्यमनयाऽऽर्यया दर्शयति—

प्रवचनका माहात्म्य बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकरणमें आदिसे लेकर अन्ततक जो कुछ कहा है, वह सब प्रवचनमें विद्यमान है—अपनी बुद्धिसे कल्पित नहीं है—

जिनशासनार्णवादाकृष्टां धर्मकथिकामिमां श्रुत्वा ।
रत्नाकरादिव जरत्कपर्दिकामुद्धृतां भक्त्या ॥ ३१० ॥

टीका—जिनशासनमर्णव इव जिनशासनार्णवः। बहुत्वादनेकार्थपर्यायनिपाते च। उपमानोपमेयभावः। तस्माज्जिनशासनसागरादाकृष्टामाक्षिप्तां जिनशासनोद्भवां निदर्शनमपा

१ कीदृशैः इत्यारभ्य निरवद्यसंयमानुष्ठायिभिः इति पर्यन्तः पाठः ब पुस्तके नास्ति।

गुणादाय ज्ञात्वा धर्मकथा कथिता । न तु विस्तारेणोदिता । संक्षिप्तार्थाभिधानमाकर्ण्य श्रुताब्धेर्यत् रत्नाकरादिव वरत्कपर्दिकामिस्यात्मन आत्कृत्यं परिहरति । रत्नाकरादनेकरत्नाभिधेः । तस्मादथवा वरत्कपर्दिका सुभावती शोभना भवति वरत्कपर्दिका तु परिपेलवा निःसारा च मयास्यमतिना तद्वदियं वरत्कपर्दिकाभ्यानीया भाकृष्य । तां वरत्कपर्दिकावदुद्धृतां भगवन्तः साधवः भक्तिर्या प्रीतिस्तया प्रेरितेनाकृष्टामिति । आकृष्टेति प्रशमरतिः सम्बध्यते उद्धृतेति कपर्दिका संबध्यते इति ॥ ३१० ॥

निस्साराप्येषा प्रशमरतिः—

सद्भिर्गुणदोषज्ञैर्दोषानुत्सृज्य गुणलवा ग्राह्याः ।

सर्वात्मना च सततं प्रशमसुखायैव यतितव्यम् ॥ ३११ ॥

टीका—सन्तः साधवस्तद्गुणदोषज्ञैर्गुणांश्च दोषांश्च अवगच्छन्ति ये ते गुणदोषज्ञास्तैः सद्भिश्च दोषानुत्सृज्य शब्दच्छन्दोऽर्थादिकान् परित्यज्य गुणलवा ग्राह्याः । लवग्रहणादल्पगुणत्वं दर्शयति । कियता गुणान् वक्तुं शक्तोऽस्मदादिः । सर्वात्मना सर्वप्रयत्नेन । सततं सर्वदा । विषयविषसुखनिरभिलाषेण प्रशमसुखायैव श्रुत्वा प्रयतितव्यमिति ॥ ३११ ॥

अर्थ—रत्नोंके आकर समुद्रसे निकाली गई व्यर्थ कौड़ीकी तरह जिनशासनरूपी समुद्रसे भक्तिपूर्वक ली गई इस धर्मकथाको सुनकर गुण और दोषके ज्ञाता सज्जनोंको दोषोंको छोड़कर गुणके अंशोंको ग्रहण करना चाहिए । और सर्वदा सब प्रकारसे प्रशम-सुखकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए ।

भावार्थ—जिनशासन समुद्रकी तरह गम्भीर और अनेक आचार्योंकी खान है । उस जिनशासनरूपी समुद्रमें पड़े हुए अर्थोंको लेकर यहाँ संक्षेपमें धर्मकथा-प्रशमरतिको बतलाया है । समुद्रको रत्नाकर भी कहते हैं; क्योंकि उसमें रत्न भी पाये जाते हैं तथा शंख, सीप कौड़ी जैसी तुच्छ वस्तुएँ भी पाई जाती हैं । अतः ग्रन्थकार अपने औद्धत्यको दूर करनेके लिए कहते हैं कि जिनशासनरूपी रत्नाकरसे निकाली गई होनेपर भी यह धर्मकथा रत्नके समान मूल्यवान् नहीं है, किन्तु किसी घिसी-पिसाई तुच्छ कौड़ीकी तरह निस्सार है । फिर भी मैंने भक्तिवश इसका उद्धार किया है । अतः निःसार होनेपर भी इसे सुनकर गुण और दोषोंके पारखी सज्जनोंको इसमें जो दोष हों उन्हें छोड़ देना चाहिए । और जो गुणके कण हों उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए । कण, इसलिए कि हमारे जैसे अल्पमतिजन सम्पूर्ण गुणोंका कथन कर ही कैसे सकते हैं ? किन्तु उन गुण-कणोंको ग्रहण करके विषय-सुखकी अभिलाषाको छोड़कर निरन्तर सब प्रकार प्रशम-सुखकी प्राप्तिके लिए ही चेष्टा करते रहना चाहिए । सारांश यह है कि संसारको प्रशम सुखकी ओर आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे ही यह प्रकरण बनाया गया है और इसमें यही एक गुण-कण है । उसे ग्रहण करके उस ओर लगना चाहिए । इतना होनेसे ही ग्रन्थकार अपने श्रमको सफल समझते हैं ।

१–प्रभुत्वाभिभव–च ।

यच्चासमंजसमिह छन्दःशब्दसमयार्थतो मयाभिहितम् ।
पुत्रपराधवत्तन्मर्षयितव्यं बुधैः सर्वम् ॥ ३१२ ॥

टीका—असमञ्जसमघटमानम् । यदिह प्रशमरतौ । केनाकारेणासमञ्जसम् ? छन्दसा शब्दशास्त्रेण प्रवचनप्रसिद्धस्यार्थस्यान्यथाप्ररूपणेन । पुत्रापराधवत् तत् मर्षयितव्यम् । यथा पुत्रस्य शिशोरपराधं पिता मृष्यति क्षमते तथा प्रवचनवृद्धैः सर्वमशेषं क्षन्तव्यमिति ॥ ३१२ ॥

अर्थ—इस प्रशमरतिमें मैंने छन्द-शास्त्र, शब्द-शास्त्र और आगमके अर्थसे असंगत जो कुछ कहा हो, उसे विद्वानोंको पुत्रके अपराधकी तरह क्षमा करना चाहिए ।

भावार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि इस प्रकरणमें मैंने छन्द-शास्त्रके प्रतिकूल कोई रचना की हो या व्याकरण-शास्त्रके प्रतिकूल कुछ किया हो अथवा प्रवचनमें प्रसिद्ध किसी अर्थका अन्यथा प्ररूपण किया हो तो जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके अपराधको क्षमाकर देता है, उसी प्रकार प्रवचनके ज्ञाता सज्जनको भी अपने बच्चेका अपराध समझकर मुझे क्षमा करना चाहिए ।

सर्वसुखमूलबीजं सर्वार्थविनिश्चयप्रकाशकरम् ।
सर्वगुणसिद्धिसाधनधनमर्हच्छासनं जयति ॥ ३१३ ॥

टीका—सर्वमेव सुखं सर्वसुखं कुत्स्नक्लेशात्यन्तरहितं मुक्तिसुखम् तस्य मूलमाद्यं प्रथमं बीजमर्हच्छासनम् । अथवा वैषयिकाणां सुखानां मुक्तिसुखस्य च सर्वेषां सुखानां मूलबीजं जिनशासनम् । सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्थाः पञ्चास्तिकायाः ससमयाः सर्वेषु सर्वार्थेषु यो निश्चयः परिच्छेदः एवं संसारस्थितिरेवम्भूता मुक्तिमार्गश्चेति तं प्रकाशयति प्रतिपादयति जैनमेव शासनम् । सर्वे च ते गुणाश्च सर्वगुणाः । सर्वगुणानां सिद्धिर्निष्पत्तिः सर्वगुणसिद्धिः । साध्यते येन धनेन तद्धनं धनमिवेदमेव प्रवचनम् । अतः सर्वगुणसिद्धिसाधनधनमर्हच्छासनं सम्यक्पर्यायनयप्रपञ्चात्मकमन्यशासनम्यग्भावेन जयति ॥ ३१३ ॥

अर्थ—समस्त सुखोंका मूलबीज और सकल अर्थोंके निर्णयको प्रकट करनेवाला, सब गुणोंकी सिद्धि करनेके लिए धनकी तरह साधन स्वरूप जिनशासन जयवन्त रहता है ।

१–वर्गिर्दुर्गैरुक्त, ब । २–पुत्रवत्त ब फ. ब ।

भावार्थ—जिनशासन इहलौकिक तथा पारलौकिक समस्त सुखोंका तथा दुःखके लेशसे भी रहित मुक्ति-सुखका मूलबीज है। उसके बिना सुखका लेश भी प्राप्त नहीं हो सकता। पंचास्तिकाय आदि संसारके समस्त पदार्थोंका तथा संसारके स्वरूप और मुक्तिके मार्गका प्रतिपादन भी जिनशासन ही करता है। अब च जिस धनसे समस्त सुखोंकी प्राप्ति की जा सकती है, वह धन भी जिनशासन ही है। द्रव्य पर्याय और नयका विवेचन करनेवाला यह जिनशासन अन्य शासनोंसे स्वतन्त्र और अद्भुतरूपमें उपस्थित होकर सदैव जयशील रहता है।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः—

श्रीहरिभद्राचार्यै रचितं प्रशमरतिविवरणं किञ्चित्। परिभाव्य वृद्धटीकाः सुखबोधार्थं समासेन ॥ १ ॥
अणहिलपाटकनगरे श्रीमज्जयसिंहदेवनृपराज्ये। बाणवसुरुद्र (११८५) संख्ये विक्रमतो वत्सरे व्रजति ॥ २ ॥
श्रीधवलभाण्डशालिकपुत्रयशोनागनायकवितीर्णे। सदुपाश्रये स्थितैस्तैः समर्थितं शोधितं चेति ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रशमरतिप्रकरणका यह संक्षिप्त विवरण (टीका) श्रीहरिभद्राचार्यने पूर्वाचार्योंकी टीकाओंका मनन करके इस रीतिसे किया है कि जिससे पाठक इसके मर्मको सरलतासे समझ सकें। उन्होंने इसकी रचना जयसिंहदेवके राज्यके अन्तर्गत अणहिलपाटकनगरमें वि. सं. ११८५ में श्रीधवल भांडशालिकके पुत्र यशोनाग नायकके द्वारा अर्पित किये गये उपाश्रयमें की और वहींपर इसका संशोधन भी किया।

॥ इति प्रशमरतिटीका ॥

परिशिष्ट

१—अवचूरि ।

अवचूरी—ॐ नमः । श्रीमद्भगवते—भगवतस्य पीठेभ्यः देवासुरनरेन्द्रमौलिमुकुटार्चितौ । आदौ च मंगलस्थानाभिधाने मंगला यैमः ॥ १ ॥ तत्पुरुषैः चौबीसा तैर्भगो मैत्राः (वा) पञ्चविध देवम् । पंचत्वं सीताश्रेमि च चैतन्येभ्यि" तेषुदनाम ॥ २ ॥ योगीन्द्र नेवः समाधः विपक्षैमनभिवानमस्तकमरणात् । द्रवितावधिकारा पृथक्स्य धर्मकथिकानाम् ॥ ३ ॥ श्रीअमारसाविवाचकः पञ्चसमवसरणमपेक्ष्य प्रथमवक्तिरूपं प्रकरणमादौ मंगलमाद्नामे चरमो देवः कायमरमदा वा चरममवतापिनी देता देवम् ॥ १ ॥ महाविदेहादिमहान् । वाः ' अनुमाने । निगमनात् त्रिविधरूपात् प्रथमवक्तिरूपमियर्षः ॥ १ ॥ अनन्तानि बहूनि अवगतानि वा गया मार्गाः सदाचराश्च । पर्यायाः क्रियाव्यवहारकता भेदाः असम्परिवर्तितश्च पदार्थिकम्यानां कुरादिमात्रम्यतानि वा । अर्थाः शब्दानामभिधेयानि प्रमाणविषयत्वञ्च वर्णीयस्वाभावरूपो वा । देवतोऽपूर्वार्थो गर्भनोऽसावः अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणश्च । तथा प्रमार्थरक्षकोऽसौ देशमात्रः । प्रत्यक्षविषयमावारवः । अंतरात्मग्रहणरूपश्च । एतानि मानसेभ्यावस्यश्च ॥ २ ॥ शुश्रूषागमो बुद्धेरोस्तवाविश्च (दौवारिकस्याविशा) सविरत एव विमतो धर्म येन परिक्षितः । भवस्वरूपनामध मावाम्यानामुमकाये मौक्तं गवेषयितुं सर्वगुणप्रधेयमिश्रुः ॥ ४ ॥ चतुर्दशपूर्वविद्भिः वा इति संबन्धो योगः । प्रक्रिया प्रश्नसिवाः ॥ ५ ॥—निगिगमः शुभमन्यानुशारिभ्ये वाच्यो विद्युत् इव परिवाहियावाः आयमवचनप्रायाम्यावबन्धनाः कुरमेनेव संपन्न अशोधिकाः परिणामिकाः ॥ ६ ॥ शुभतात्पूर्वाकिमयशुमानवाक्यम्मेदे कियवा कथनेऽपि प्रथमदृष्टकन्नेनानुसृष्टा कृः । विषयमार्गानांशिष्य विगतवचनः पदं स्थाने वस्या वा ॥ ७ ॥ सवपीतोऽन्यावर पीतोऽर्थो वस्या वा । स वा मिथेये मंगीरवकलनमावार्थ्यो संपीडर्तव्या ॥ ८ ॥ अब वक्ता श्रोत्रादिविषये कार्य वस्तुमात्रात्मकत्वात् कोऽयम् कि वस्ति अपि तु नैति । वा समायर्वे । दिः परमायर्वे । निदर्शः स्वमावतया दृढ़ निपुणोऽपि इति मवति वा देवानसवरिता स्वमावेन कृता ॥ ९ ॥ तदानवर्ती प्रवक्ष्यं । कृष्णिमानमपि विमद् छोमते निम्नार्थ वर्तिकित् ॥ १० ॥ काव्यमपि अम्यप्रकारं अर्थकं प्रमविगमपि अनर्थकवचनमपि प्रवर्तनम् ॥ ११ ॥ गाथकारि निस्तेषं स्वाद्वीयां मायायां पश्चात्कीर्तमनुकीर्तनम् ॥ १२ ॥ पूर्वोदितमपि पुनः पुनः देश्यते अनुयोजनीय शास्त्रवचने ॥ १३ ॥ अथापि वि वर्द वाक्यम् ॥ १४ ॥ भावोद्बोधनाकृते कर्म इत्यादि देतु कार्य अनवस्थीयः ॥ १५ ॥ मायाचस्तुमि दैहिकमावेनावस्थानाः द्रव्यातो दोषः ॥ १८ ॥ मिथ्यात्वोदयवत्ता कलुषता तथा विपरीतता पुमः मद्य दुर्जयकर्मराशिः पश्चाद्भव्यकलुषता अभिनिवेशं तीव्रतरवशात् ॥ २० ॥ निर्मितः दृष्टेः कालुष्यं विशुद्धिनैर्मल्यं सकोर्मकं अर्हितम् । सेवा एव कथनः ॥ २१ ॥ वन्धनं स्वर्ग तन्मात्रं स्वरस बहुदृष्टिकमनवत् व्यासदृष्टीनां परस्परसंयुक्तिमिव निकाचितं कुम्भिरूपीकलावत् निरन्तरं नियुक्तियोजनम् ॥ २२ ॥ कर्षितो निक्षिप्तः कृतो वीजः अनुगत भावकमवमयाभिलापः क्रोधी मानीमायाविरूपनीवताम् ॥ २३ ॥ वस्तुमपि वस्तः भावतो नाभितुम् ॥ २४ ॥ भाभोतीति व " पति पदेषु योगवम् ॥ २५ ॥

मारमीयेनैव दोषेणोरहतो भवति ॥ २८ ॥ कर्मोपादानयोगमां स्थानस्य पूर्वादिवस्यमनस्वार्यस्य सर्वस्य स्वरवस्य प्राचीमूल अनन्ति स्वोत्कर्षमपि भास्तां प्रवृत्तकार्य पुरुषारम्भत् पुष्पदुरयन्ते दृति प्रतीतिः ॥ २९ ॥ मये भावादौ तंहत्वं तत्र पूर्वमार्गी विषमगता तस्य प्रयोजाये भावका आरोपका पदे कथवाः कारणमूलत्वात् ॥ ३० ॥ अवकाशाईकारको धर्मोपायनरूपर्याः परहृत्यस्वर्गादि यथाप्रमाणम् ॥ ३१ ॥ इत्थं पुराणं वमात, देवः ॥ ३२ ॥ मिथ्यादर्शनं तस्यानवस्थानभावे प्रमादो मद्यादिः, योगाः वचनादयः, वन्धिप्यावत्वानिरतिप्रमादादि

भावार्थ—जिनशासन इहलौकिक तथा पारलौकिक समस्त सुखोंका तथा दुःखके लेशसे भी रहित मुक्ति-सुखका मूलबीज है उसके बिना सुखका लेश भी प्राप्त नहीं हो सकता। पंचास्तिकाय आदि संसारके समस्त पदार्थोंका तथा संसारके स्वरूप और मुक्तिके मार्गका प्रतिपादन भी जिनशासन ही करता है। अथ च जिस धनसे समस्त सुखोंकी प्राप्ति की जा सकती है, वह धन भी जिनशासन ही है। द्रव्य, पर्याय और नयका विवेचन करनेवाला यह जिनशासन अन्य शास्त्रोंसे स्वतन्त्र और अद्भुतरूपमें उपस्थित होकर सदैव जयशील रहता है।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः—

श्रीहरिभद्राचार्यै रचितं प्रशमरतिविवरणं किञ्चित्। परिभाव्य वृद्धटीकाः सुखबोधार्थं समासेन ॥ १ ॥
अणहिलपाटकनगरे श्रीमज्जयसिंहदेवनृपराज्ये। बाणवसुरुद्र (११८५) संख्ये विक्रमतो वत्सरे व्रजति ॥
श्रीधवलमाण्डलिकसुतयशोनागनायकवितीर्णे। उदुपाश्रये स्थितैस्तैः समर्थितं शोधितं चेति ॥ २ ॥

अर्थ—प्रशमरतिप्रकरणका यह संक्षिप्त विवरण (टीका) श्रीहरिभद्राचार्यने पूर्वाचार्योंकी टीकाओंका मनन करके इस रीतिसे किया है कि जिससे पाठक इसके मर्मको सरलतासे समझ सकें। उन्होंने इसकी रचना जयसिंहदेवके राज्यके अन्तर्गत अणहिलपाटकनगरमें वि॰ सं॰ ११८५ में श्रीधवल मांडलिकके पुत्र यशोनाग नायकके द्वारा अर्पित किये गये उपाश्रयमें की और वहींपर इसका संशोधन भी किया।

॥ इति प्रशमरतिटीका ॥

कर्मतन्त्रैव मोक्षेण च्युतेन योनिविशेषात्मगुणीविशेषात् तदन्तैः कुलविभवम् ॥ १११ ॥ देवादीनां समृद्धिर्वैभवं विभवो विशेषेण भवतेऽवश्यं ॥ ११२ ॥ भवानुगुणदर्शन एवविधो जीवः सदेवभ्रिसानां विमविभविभवकार्य तैन विवशे भवानुभवरिणामः परस्परोपपनिर्वहिताः ॥ ११३ ॥ यदिदमं देहि-क्रमम् ॥ ११४ ॥ एतद्वर्णं चैहिकमित्याह—अविशिष्टवाणिर्भाविपि मोविमा मोक्षाक्षेपेन तद् विशेषो विषयानां कर्म स्यात् । ये इति प्रश्ने । आत्मनोऽन्यत्वनीया । अविचार्य अन्यप्रवेशेनापि यथावतिकार्य अनवानशुभमानस्तैः स्वयमीयः ॥ ११६ ॥ कौतुकपरस्पराः प्रक्षोभवशेन्द्राः निजप्रान्ते वीजकावितिर्मुक्ताः ॥ ११६ ॥ दुःखान्ताः ॥ ११७ ॥ कार्ये ऽवश्यतो यत्र चीयने मोक्षकारकवशादि परिवर्तितवर्षे ॥ १०८ ॥ उपचारमात्रमेवं विषयप्रतिरिति: जननादि: देहप्रवृत्तिविस्तरभावानि एकिरुपानि अविमोहनमवि: ॥ १०९ ॥ देवस्वरूपाणां मिथ्या-कालं अनित्यत्वार्थं मनुष्यादिरप्राप्तम् ॥ ११ ॥ इत्थपरिणामाः अन्योऽभिपरिणामाः, अविशुद्धपरिणामा अन्योऽभि-परिणामः । आत्मोपनीयः सर्वेषेव वस्त्वाश्रयित्वात् । एवं व्यवस्थितपरिणामविषयविरतो जनुप्राप्तो दुःखमेवम्, दत्वमव्ययत्वसुगुणः, विवक्षवशात् ॥ १११ ॥ एव गुणात् एवमेवपेव दोषान्त दुःखमेव वः स्वयमि दुःखमेव विरतिविद्यमपि प्रथमोऽस्य विवेकेन परिहारः ॥ ११२ ॥ विविधा विकाराः ॥ ११३ ॥ कालरिता मात्र आत्मनस्य कार्ये तदेवेत्याह—मावादिषयमिति चीरवाणां काम्यादीनां सत्त्वीविकावरता पञ्चमेऽभ्यतने जीवः स्वामी त्रिविधे ध्यानविभावितविषयानुगुणे दृढप्रमत्तं यावत् ॥ ११४ ॥ अपारोऽवधेयः स्वल्पे कर्मनिर्जराय: यो वैराग्यस्ते-वस: स्वमे, तपोविविधहे योगिनां स्वतः जीवविहारो समये ॥ ११५ ॥ यदेवं तत्र आत्मनं पापमपि तपोरेवा स्वामवदा देवेन्द्रादेः एते वीतरागाः दुःखाः दुःखिन्नः ॥ ११६ ॥ स्वामि कालीवर्गं मर्मस्य निरक्ष स्वाध्यायभूमिः, एतावः कनक्रमयोरसाः क्रियावन्त्राः अपि पाविकाविशेषाद्, प्रमत्तरतस्माखे निःप्रतिकर्मणः यतो बहुधवर्तीर्थि संस्कारेषि तद्गुणं, अस्तेऽभ्यतिश्च तामि मिथ्यादिकर्मबहुलो न युज्यते ॥ ११७ ॥ तत्त्वज्ञानाः पूर्वोक्तमध्यमम-वक्तव्यतः वस्तु निर्वाणेन सर्व प्राप्ताः ॥ ११८ ॥ भावना पावकात्मता सद्वीतविवशवत्त्वादिका स्वदारत्वेन च गुणत्रयस्य च सूक्ष्मपणुर्वैरिमनसुखानुत्पत्तावत्स्य । किं मन्यतेत्याह—न तदस्ति कामसौख्यं यत्र काम-विशेषोऽभिवृतये सम्यक्कषायविकारविनि ॥ ११९ ॥ स्वरसकालैवेव विपरिणामवर्त्तः दुःखपरिणामफलो कामपा भवस्वभावाः, सर्वो मरणावधिके मनुष्यलोके अविवेकवरता स्वपात्नादिरवस्थायो देवेषुदैवमुग्धा अविरता संवेगाः पुरुषार्थप्रवर्तिविशिष्टाः विपरीतावधयाः योगिसाध्याः भवन्ति यतो न किञ्चिदुपगामिषमेव ॥ १२१ ॥ मोहपटलिका: कामिभ्यतः मधुपीतिमतीः कामिकेषु निवसिः अध्यात्मविविक्तसाधनैः कि । न विविक्ततोऽशमेऽपि । वस्तुविश्वमिव परहास विरक्तात्मविनोदं आत्मानं विषयानामीनीके आत्मस्ते स्वात्मवे प्रशमसुखे प्रमत्तस्वात्मक-विरक्तो रागस्वभावस्य यत्कर्म तदेवैवं तथोक्तो भव ॥ १२२ ॥ इन्द्रियकामस्य कामादिविषयस्य अनुमित्याख्या विवे वर्जिते यत्नसुखात् विरते कामसुखेभ्यसुखस्य विगते सगते सुगुणं कामविवेन प्रशमः स्फुट: ॥ १२३ ॥ शमेन मोहसुखेन विरक्तात्मिकमनः प्रशमं सुखं कस्मादनन्तकोटिगुणितं मूलं विवादमायात्मेव वीतरागः प्रशमसुख-माप्नोति ॥ १२४ ॥ इत्यत्र (च) विशेषकामाविरतिमयोपकामोभावं सुखं तत्र प्राप्नोति न वीतरागः ॥ १२५ ॥

एतेषु शास्त्रादि भेदेषु विमलाः कामवासना स्वमुखे तदागमिनो कुतः ॥ १२६ ॥ एवंगुणगुणोऽपि वैराग्यस-मतास्योऽभिलषितवत्त्वात् ते गुण निरवद्यत्वं स्वभावगुणवत्त्वस्य माप्नोति ॥ १२७ ॥ (ना पुरुषः कामसविकारु-देवादिकस्य भौतिकस्य च कार्यं सुखं नास्ति कार्यं प्रशमस्थितस्य ॥ १२८ ॥ स्वभावपरत्वमविरत्वं विना कामिक-वस्तुत्वोर्मध्यवैभवात्विरक्ता विशेष । आत्मपरिणामभावो संसारे वधिमलवदात्मा सुखदुःखात्मसुखवर्षापि न दुःखम्, बोऽमुना कषमेविशुद्धी भवेवद्युता यथा संसारे बहुकोटिऽपि न प्रमादि तथा प्रमादे यथा कार्यं इत्यात्मज्ञान-विज्ञान एवाभिमतः परकार्यनिवृत्तो विवादमात्रविर्धोदेशः सुखमाखो स्वस्य अवस्थावेदितिकार्य । निर्वेदः निर्वेदोऽपेक्षा यत हानिः वा च प्रशमात्मतयाभूतस्य सम्पदो निर्वेदः ॥ १२९ ॥ (निर्वेद इति वा दुःखकामिन्द्रादिविषयी

मेध्यार्थं धर्मनिर्वाहपुष्ट्या शरीरनिर्वाहनिमित्तं लोकयात्रादिसद्धर्मचरणार्थः एतावदसमर्थोऽपि लोकयात्रा-प्रवृत्तिकार्यतया कारणम् ॥ १३० ॥ आचार आगमतो वर्तत इति शेषः धर्मचारिणां संयमिनां लोके लाभमूलकाय निरुपद्रवगमनादि मधुरवाक्यादि च धर्मविरुद्धम् ॥ १३१ ॥ देहः शरीरं मेव सम्यग्दर्शनज्ञानादिभिर्विना धारयितुं यतः सम्यग्दर्शनज्ञानादिसाधनानि तद्धर्मैरव समाचेरनिरोधमसमर्थतत्त्यागेनानुवर्तनीयः ॥ १३२ ॥ दोषेणानुर कारी भवति प्रत्युतापकारेण प्रवर्तते यतो लोकः कुप्यति आत्मना ॥ १३३ ॥ लिङ्गिनामाचरणमथितो निश्चयेन तस्मो न क्रोडयन्यः परिहार्यः आगमे आगमालेपनयोर्निवर्तकत्वेः तेन विविधशीलाचारेण ॥ १३४ ॥ अत यदि केचन सवस्य सुख तैर्योगो अन्यथहरेदिन्यादि योगमयंता मनोवाक्कायैस्सर्वमाः तावत्तेषां योग; क्रियानुष्ठानं तेषां मतः संवासः, न एव तन्मार्गं तत्र बाधा निर्लोभगर्भं धर्मानुष्ठानमेवोत्तमेति सर्वः । यथा यथा सर्वसर्वविमेव सिध्यति एवं साधुरपि विशुद्धिपुण्यमलिमलभेदिमुखमालादसाधकनिपुणादिभिर तथा तैः शरीरस्य चार्थमेव तत्कृतं तथा साधुरपि ॥ १३५ ॥ विविधउपस्कारं अपरुष्टिकेन साधुनेषि सम्यक् तद्विपरीतमविषमानामसमपि हेतुरहितेन गृह्णे यथा सर्वं चिरं वा न विशोधयति तद्वत्साधुनापि दारुण मधुरिमा रसगुरुतमादिना आस्वादे वस्तु स्वादं क्रिया ॥ १३६ ॥ कालपुण्यकाकादि क्षिप्रोदरादि च क्षेत्रं दुर्भिक्षादिकं च । मात्रामकादिरत्न तात्त्वं कदस्थोऽमुकं परिवर्तिमेति द्रव्याणां गुणगुणादीनां गुरुस्व बहुत्वं । यथा येन द्रव्येणेमसुकेन गुणानां धौरवं येषाणां सार्थं चास्मन स्यात् । भोज्यं वस्तु ॥ १३७ ॥ अप्यदोषमपि देशकालादि उत्सर्गतः कल्प्यं कल्पनीयं अपवादतो यादृशैनैव अकल्प्यमपि मध्ये अनुत्सर्गोपदेशेन समर्थेऽङ्गमनिमित्तं कार्यं सेव्योऽयम् ॥ १३८ ॥ कल्प्याकल्प्यमुखाद्युपविधिः संविग्ना ज्ञानक्रियायुक्ता यस्य तत्त्वविनीतः सुधावत् परेऽपि दमादिभिः ॥ १३९ ॥ धर्मोपकरणेन वस्त्रपात्रादिना पुत्रं मधुरस्य सकरको योगेन न लिप्यते ॥ १४० ॥ आहारमाला धर्मोपकरणयुक्तोऽपि न स्नेहमूलमपेक्षते निर्ममो मतस्यान्यपरिग्रहरहित इति ॥ १४१ ॥ प्रत्येकप्रविष्टं कर्म सम्यक्त्वादिरहितं प्राणातिपातादिप्रमोऽनिवृत्तिः अशुभमनोवाक्काया अशठं मायादिरहितं लब्धगुणपदमपि ॥ १४२ ॥ सेवनमूलमर्थं वा व्यवहारे व्यापारयते सम्यगीन गुणवत्पवि, दोषाणां निवृत्तपि, यदस्तु तविमयेः कल्पनीयं नानाविधम् ॥ १४३ ॥ यदस्तु मक्षणादि दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वकप्रयुक्तेस्त्यागात्मनां विनाशादि, यत्र प्रवचनकुत्साप्रापि प्रथमोऽधनम्भूयमोऽमयतःभिक्षामद्यादि तत्सर्वं कल्प्यमप्यकल्प्यम् ॥ १४४ ॥ कल्प्याकल्प्यं शुद्धमशुद्धमप्यनिर्णयं पुरुषापेक्षयेति शेषः यथा विकारमपि ग्रहणापि सोचादि निषिध्यते. नैरोगे, गीतार्थे नैतदं तदेवैषां कल्प्यतेऽयमपि ॥ १४५ ॥ देशो साधुविचरणयोग्यः कालो दुर्भिक्षादिः, पुरुषः समर्थोऽसमर्थादिः अवस्था आमयादिका एतेषामपेक्ष्य कल्प्यमपि कल्प्यं तत्पोऽपि परिणामात् नैकान्तेन कल्प्यते कल्प्यं नैकान्तेन न कल्प्यते कल्प्यम् ॥ १४६ ॥ तस्मिन् साधुना सदैव चिन्तनीयं मनसापि कायेन कर्तव्यं यदाचरन् तयोः उभयोः बाधकं न भवति. आलोचनीयं तदेव ॥ १४७ ॥ धर्मेषु क्षमादिदशविधेषु लोकालोकप्रियगमनस्य मोक्षस्य प्राप्तेषु वैराग्यमार्गः सम्यक्क्रियाकालेषु हितमितकरणादि येषु परिसंख्यानविस्तरनिःसारतादिरूप विरक्तविद्यानं कार्यं ध्येयम् । येन तद् कायार्थधर्मेषु प्रधानं निर्वर्तं यावत् तत्र मोक्षमार्गविषयभिन्नतदपेक्षादिभिः ॥ १४८ ॥ भावयितव्यमहर्निशं चिन्तनीयमनुस्मरणीयं किं तदनित्यत्वं संसारे सर्वस्यायामापतत्वं । अशरणत्वं जन्मजरामरणाभिभूतस्य नास्ति किञ्चिच्छरणं । एकत्वमेक एवाहं । अन्यत्वं स्वजनपरदेहादिभ्योऽन्य एवाहं । अशुचित्वमशुचिकारणोपचितमशुचिरस्य शरीरस्याशुचिभाजनत्वं । संसार इति नाना पुनरा गतिमिर्गर्भादिभावना । आस्रवद्वाराणि मिथ्यात्वादि प्रमादाः । आस्रवद्वारसंवरणं संवर. ॥ १४९ ॥ कर्मणां बन्धोदयादेः निर्जरणं लोकावस्थितिस्वरूपविचारः लोकभावोऽयं धर्मस्वाख्यातः यथार्थैर्भावितव्या धर्मं स्वाख्यातमविचित्य बोधेः सुदुर्लभत्वं चेति भावना ॥ १५० ॥

द्रव्यमर्थसंयोजन कार्यार्थमेव विषयानुभवार्थं संप्रदायः प्रत्येकं योज्यः ॥ १५१ ॥ अभिमुखेऽभिमुखे ॥ १५२ ॥ आत्मानिकीर्षे तदा मतिश्रुतभावार्थे प्रत्येकं गात्यमाडशत्वेन स्वस्वार्थे ॥ १५३ ॥ स्वजनध्
निवारेषु, परिजनपदात्वारेषु, निष्काशनकारैः पर्याप्ताहेतव तेभ्यो निपोऽर्थं पृथग्धर्मेषु परस् निवृत्त मर्कं देवमन्ते-
विशा दिर्वरमात् पोलकपि: कश्चिदाक्सलक्षणम् ॥ १५४ ॥ कर्तृणादीनां मधुरादर्शपरिपुष्टिमिश्रचरणसम्पात् ।
शुभक्षोभितद्वायप्रशस्तामप्रगमनानुवचोत्थासामनुभिलतात् ॥ १५५ ॥ तदात्मनामाह—तुमिता शुभ ॥ १५६ ॥
न तमन्तरेणापि न विरतः प्राप्तानिवात् लोऽपि प्रमादवात् । मनोदण्डः ४ वाग्दण्डः ४ कायदण्डः ४ । सर्वे
मरहस्यप्रकारदेवबलैः तत्त्वावमर्थः प्रमादवान् यो योगवतस्य यत्ते मैत्रा महत्तरलाभकर्माणि मात्रस्वभावानि
मवन्तीति । भावकर्मनिरिक्तताविकाशकवमानि क्रियते तेषां मेदानां मिमित्ते यतेत ॥ १५७ ॥ अनुगताये
पूर्विन्यासात् । पाठान्तरे गुप्तिर्वीक्षा । आत्मन्यारोपितैर्हितैः । परवेश्याबिकसाविमिः ॥ १५८ ॥ विशोधनार्थम् ।
उपवितोऽर्थ पुरुषेऽपि । दोषेऽतीर्थात्मक । कर्मोपचितं यस्य विमित्त निवाशकपरो योगः संयमः ॥ १५९ ॥
क्षण यत्र न कार्यं न पूर्वं मवेदि । पश्चापुष्परीत्यन्तानन्तरस्मार्थमयतानि प्राप्नोति । तेषां मनोयोगात् नि
मिरवयोगः । न च देशत इति निश्चयत् ॥ १६० ॥ शुद्ध निर्देशः कर्मतः सम्यक्त्वचरणे गुणवर्तनता ॥ १६१ ॥
कल्पना नीतिमता । अनुदीर्णगुणे । महा धर्मजिज्ञासा । कषायानार्थः । सर्वं चारुधर्मे । एतेषु सत्सु उपयोगार
गुणेषु सम्यगिति । तेषां स्वरूपव्याख्या । सम्यग्दर्शने सम्यक्त्वमो भवति ॥ १६२ ॥ अथान्य आह यत् । मिथ्
सर्वगुणाख्यानका कायवाक्सोऽन्यात् कुशलदर्शनात् प्रत्येकमनुमतिविज्ञापनीयमनस्यनेकदेशत्वपुद्गलैःविसंवाद-
मादृशो निद्रा भविरे मोहत्वकात् ॥ १६३ ॥ पापमतमनामो पुरुषेणाभिमन्यः हानिपरिग्रहाः नैतिविष्टेन
निरयमभावस्यो निमदस्तेन प्रशो भवति येन सर्वविपत्तिपरस्तोऽपि ॥ १६४ ॥ नवनवतः प्रत्येकमभिन्नव्यते भैक्षाः
तद् वचनात् पूर्वं भैक्षमात्रकमिति न्यायात् ॥ १६५ ॥ वैदिकमाध्योक्त अवयवनिर्मितं मातुर्मोचकार्ये उपल
मोहैः कार्यं च चरणानामनुवर्तनिर्मितं परिहारमुपन्यासितोपरमेष्वन्येषु, सर्वं विकारपद्धर्वं कायवाङ्मनोभिर्वर्ज्य,
भवि स्तुवते । इति भावनाविकारः ॥ १६६ ॥ योगं संयमं यदि निक्षिप्य अवधारणापरिग्रहो वा । यः स्तुवते ।
संयमः बहुप्रभेदः । स्वात्मे प्रमाणमनमवस्थानम् ॥ १६७ ॥ समयमतः ॥ १६८ ॥ गुर्वनुजातावसेकीता
गुप्ता सन्निहः । यस्मिन् पुरुषे ॥ १६९ ॥ यत्र नेतिकं तथापि । तस्य च शुचि निव ॥ १७ ॥ सर्वं
परेष्वपि नैवानि परेस्मादि—" अहतम गुप्तिषु नीचे रक्षीषु एव मधुरेषु । स्वदेशमवादिता
अवता पुन इन्द्रिया चेत वि (महता विमर्शनकात्मवि) ॥ १ ॥ उपरतैषि मावादिवं वस्तुप्रमाणिमुर्व
मुनि । तथा मकरानानि बहुप्रकारिदोषाति मुनि । अन्यतरपि । वैदपि गुप्तिमनुमार्थपूर्वकं निर्देश निवंर्य
वैदमविमुक्त मनुर्वं । मातीर्थे नि निर्गतिरपि कार्ये कलाम् ॥ १७१ ॥ १ योगमुक्तं याभिमेव पुनरपिच
स्वरूपसंयमिति । आचार्याः मात्राभिगतावः कषायक्षीणवतोभ्यो निवीतत्वं एवमिमानि सर्वोपकरणेनि तेषां
निरोधः । कषायः श्रोत्रादयः त्वास्तेषामुपरमनिरोधः । ईशा मतीव च वाक्यता, अभिज्ञोऽत्र निवार्णमोक्षिकार्यं मनो-
देशा निमुपदानतारिमत्यर्थं कार्यर्थ., मनवास्य प्रसमाविकार्य कार्यदेशः । यस्मो निवृत्तिरेव संयमः । तदयं
मैत्रा भवन्ति ॥ १७२ ॥ सम्यक् सम्यक् वर्ने हिंसादि परिग्रहनिवृत्तं एतेषां त्यागम् । यदन्यतोऽपि
तद्विशे निवारः यदि प्रतिमैषा त्यागसम्पुर्तिः सर्वात्मा परिहृत्यवमनविशाय आदिवान्यपरिमयपुरा
परिवृत्तिमिमानममनसोऽतत्त्वस्याशी ॥ १७३ ॥ न विवेचने समाकरणमनुपपत्ते देव योगः संयमः
विविधेन योगेन अभिमता शौचिर्ग कायेनमनसैवपरिता निवारणपि, मनवाऽनन्तं प्रायार्थस्य प्रत्ये करोति वा
वचनेन वस्तुमिद्द्वाय कायोऽसन्ध्य अनुमन्यमानानि । एतत्ताद्विशात्यमुर्वि सर्वं विकेन्द्रनये न स्वापत ॥ १७४ ॥
अनदर्थं वस्तुर्वमस्यादि कर्मादानं तत । तथा मनसा वाक्यानेत्रिमनसमत्योऽप्यसमादि । उपदेश्य पूर्वं वस्तर
हिंसो यथावि परापहारभूतमपि । इवितर्वनं मिथा सम्यक् धैर्यं एतिनिर्विचारमिव परिग्रहार्थं । स्वल्पमपि

चौरस्यापि निकृष्टानां यथाशक्त्यपरिहार । कायक्लेशः कायोत्सर्गोत्कटुकासनादिः । संलीन- विविक्तशयनासनेन इन्द्रियनोइन्द्रियभेदेन च द्विधा । इन्द्रियसंलीनः शब्दादिष्विन्द्रियव्यापारः कूर्मवत् । नोइन्द्रियसंलीनो हि क्रोधादिमार्गेण पौर्व मनो वरन् परोसस्य बाह्यं तपः प्रोक्तं जिनादिभिः ॥ १७५ ॥

प्रायश्चित्तमालोचनादिदशविधमतीचारमलप्रक्षालनार्थं । एकाग्रचित्तनिरोधो ध्यानं । तच्चार्तरौद्रे मुक्त्वान्ये, धर्मशुक्ले द्वे ध्यातव्ये । व्युत्सर्गो बाह्यो देहादौ आभ्यन्तरो कषायाणां त्यागः अज्ञानादिभिः परिमुक्ता वेति । विनीयते येनाष्टविधं कर्म स विनयो ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारभेदात् । व्युत्सर्गं प्रतिरिक्तोपकरणभक्तपानादेस्त्यजनं । स्वाध्यायो वाचनादिः पञ्चविधः । अभ्यन्तरस्य मिथ्यादर्शनकषायादेरपाकरणात्तपोऽपि ॥ १७६ ॥ दिव्यं मनोज्ञम् अन्योन्यविषयनिपातनादिदेवीनां संभवेद् तस्मात् मनोज्ञाः कृतकारितानुमतिभिः विरतिर्नवभेदा औदारिकं मनुष्यतिर्यक्संबन्धि तथापि मनोज्ञाद्याः कृतकारितानुमतिभिश्च विरतिर्नवकं ब्रह्म अष्टादशभेदं भवति ॥ १७७ ॥ आत्मन्येव ध्यानं ध्येयमात्मस्वरूपमात्मा अध्यते कर्म वा मुच्यत इति अध्यात्मं ममत्वाभिरते मूर्च्छा गार्ध्यं निश्चयं तथाभिप्रायेणात्मनः प्रतिविधिरिपरिग्रहतो परिग्रहतत्त्वाध्यवसाय लक्षयन्ति । तस्मादेव तस्य हि त्यक्तव्या आकिंचन्यं परो धर्मः न किंचिदस्येति विगतमूर्च्छ एवम् ॥ १७८ ॥ दशप्रकारधर्मादिदिग्भिर्मनोऽनुष्ठानेन अतैवानवरतं विषयोपनतोदिनः हन्तानां शत्रवेतानां सफलानां विरक्तानां विविक्तानां मनसा पारमार्थिकी नमति ॥ १७९ ॥ माया लोभश्च मानः क्रोधश्च इत्येता चत्वारि महाः कषायाः मिथ्यादर्शनः सम्यक्त्वा विनाशयति वस्तुरिति येन ॥ १८० ॥ असिद्धः संसर्गः, विगतं पूर्वसंस्कारात्प्रतिविधाननरूपणया प्रत्यक्षा वीचारत्वा, एतानि चत्वार्येवं व्यस्तानि ॥ १८१ ॥ जातिस्मृत्या वर्मे प्रत्यभिमुखा धार्मिको यथा वा यथावे वा । शिक्षितव्ये परस्परैकादिकेन कषायैः प्रैर्यते धार्मिको यथा वा निर्देशी । विमानो वैमानिकायां एकान्तमकामार्थ्यादि स्रोतां वाचने समर्था परस्परात् तस्याः वा । योगः पारो धर्मस्य तस्य योगमस्तोषयोः प्रणवजननी यथा जननी माता ॥ १८२ ॥ सम्यग्विवेकश्च नरकादिदुःखेभ्यो मनं त्रायते यथा वा ईश्वरी । मित्रेऽपि आगमे येभ्यो यथा वा पक्षमेवाम् ॥ १८३ ॥ धार्मकर्म- धर्माध्यवसितत्वात्, न तेनापि धार्मिकगुणकीर्तनव्यापारेण किंचित्प्रयोजनं धार्मकर्म धर्मं व्याहतम् ॥ १८४ ॥ मायामाविगुणपाठे-परेषां वाचने वाचं यथा कि कृतमित्यादि स्वात्मनि संक्लिश्यते ॥ १८५ ॥ धातुक्त वनुधिनी इति धार्मिकविनिन्दकगुरुपूर्ववे । विनीतेन विवक्षा निर्वाणः । देवं मह वाचनार्थं । कर्मसम्प्रतिबद्धं संज्ञास्वाद्यायिकम् विज्ञानम् ॥ १८६ ॥ चरणेऽवस्थानविचारात् विनयति विनीतमशुभं मा कुरु अनवरतं शुभमवितथं कुरु इत्यादिना, तथा देवावस्थे रक्षति व्याचारे । शिक्षामिति येनः । दुःखो नरकादिदुःखात् ॥ १८७ ॥ धावनस्य विज्ञापनस्य सामर्थ्यं सम्यक्त्वेन देशावस्थ धावनस्य गतिन च उपमेन कवित्वे व्याख्याताप्युच्यते विज्ञानः संसमाप्य मनुष्यत्वं मोक्षं दर्शनतो सर्वविरतमेवाख्यानम् ॥ १८८ ॥ कर्मा: कर्मोपादानं भोक्ता कर्मोन्माथा ॥ १८९ ॥ एतानि विपरीतगुणात्मनीयाना---सर्वज्ञोपदेशात्मना: तत्त्वोपयोगमयाः मुख्याः विज्ञा: । संज्ञिनो भवस्थाः अवस्थायिनस्त पञ्चेन्द्रियाणो ग्राह्यता इति अवस्थोऽनाकारवस्तवः ॥ १९ ॥ एवमनेकप्रकारात्मके भेदो विविरेकेको मेदोऽन्यतकामवर्जितावतत्त्वपर्याया: अनन्ताः पर्याया यस्य अनन्तपूर्वोत्तमये केवलमवधारणा मतिविज्ञात्मवरोपयाति यावत् स्थितः संयुक्तसंबन्धापादानाम्य धारणयतत्त्वोपयोगः, ज्ञानं वस्तुविशेषावबोधः दर्शनं वस्तुसामान्यावबोधः पर्यायान्तरमप्रतिविशेषा ॥ १९३ ॥ उपयोगमतेनाप्रदर्शनोपयोग. साकारे विज्ञानमयो ज्ञानोपयोगः अनिराकारो दर्शनोपयोगः इत्याचतुर्भेदः ॥ १९४ ॥ ज्ञानं मत्यादि मतिश्रुतावधयो मि ॥ ॥ स्त्रीत्वेऽपरत्वत्वमपना अज्ञानत्वं चाप्ति ॥ १९५ ॥ औदयिकः, स च जीवोपात्तकर्मायुरपो देवगत्यादिलक्षणकादी पारिणामिके जीवभव्याभव्यत्वादिलक्षणभावत्वाद्विविधः, अनन्तः कर्मणां विनाशादेवक्षयोपशमस्वेन निर्वृत औपशमिकः सम्यक्त्वचारित्रलक्षणः सम्यक्त्वचारित्रलक्षणः क्षायोपशमः ॥ १९६ ॥ गतिर्नरकादिः ४ । कषायाः क्रोधादयः ४ । लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकं ३ । मिथ्यात्वं । अज्ञानं असंयतत्वं असिद्धत्वं लेश्याः ६ एते कर्मोदयात्

[illegible] ॥ १९८ ॥ द्रव्यात्मा, [illegible] योगात्मा उपयोगात्मा ज्ञानात्मा दर्शनात्मा चारित्रात्मा वीर्यात्मा चेति ॥ १९९ ॥ [illegible]

[illegible]

पूर्वार्जितस्य कर्मणः क्षपा। उपधानं योगोद्वहनादि तेन सम्यक्कर्मप्रवेशाभावः ॥ २२१ ॥ जीवादिषु निश्चयेन परिणाम वस्तुत्वमिति ॥ २२२ ॥ शिक्षा विनोदितक्रियाकलापाभ्यासः पुनः पुनः ॥ २२३ ॥ एकद्वित्रिप्रकारे विस्तरादिभेदो विस्तरपरिच्छेदः विपरीतार्थग्राही प्रत्ययो विपर्ययः तमाश्रित्य तथा ॥ २२४ ॥ आभिनिबोधिकं मतिज्ञानम् ॥ २२५ ॥

[illegible] उत्तरा। विषयो गोचरो मतिश्रुतयोः सामान्यतः सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु। अवधिरूपिषु। मनःपर्यायं मनोगतद्रव्येषु। केवलं [illegible] सर्वद्रव्यपर्यायेषु। आदित्रयमेकस्मिन् जीवे युगपदेकादीनि [illegible] भाज्यानि भजनीयानि। चत्वारि [illegible] ॥ २२६ ॥ मतिश्रुतावधयः ॥ २२७ ॥ समो रागद्वेषरहितस्तस्य भावो सामायिकं। प्राक्तन पर्यायच्छेदः उत्तरपर्यायस्थापनं। परिहरणं परिहारस्तेन विशुद्धं। सूक्ष्मोऽत्रसम्परायः [illegible] यथाख्यातम् ॥ २२८ ॥ अनेकैर्बहुप्रकारैः अनुयोगैः किं कतिविधं कस्येत्यादिभिः प्रमाणैः प्रत्यक्षादिभिः समनुगम्यं ज्ञेयम् ॥ २२९ ॥ एकतरस्याः सम्यग्दर्शनादित्रयस्य अभावेऽपि। अपिः पूरणे। मोक्षमार्गोऽपि [illegible] न सिद्धिकरः [illegible] ॥ २३० ॥ [illegible] ॥ २३१ ॥ धर्मो दशविधः आवश्यकानि प्रतिक्रमणादीनि ॥ २३२ ॥ सम्यक्त्वादीनां [illegible] ॥ २३३ ॥ सम्यक्त्वादिसंपदा उत्तरेण [illegible]। तेष्वेव सम्यक्त्वादिषु। उत्तरेषु साधुषु त्रिषु च [illegible] प्रीतिः। उपशमस्तद्विपाकवशादाचमनादिमद्यपानरूपः समाधिः [illegible] ॥ २३४ ॥ [illegible] यदि—गुणानां बलादीनां [illegible]। [illegible] एव घोरः ॥ २३५ ॥ प्रथम एव [illegible] ॥ २३६ ॥ न [illegible] भावितम् ॥ २३७ ॥ विनिवृत्ता पराङ्मुखाः तेषाम् ॥ २३८ ॥ शब्दादीनां विषयाणां परिणामम् [illegible] दुःखोद्भवेन च संसारे दुःखान्येव रागद्वेषात्मकानि ॥ २३९ ॥ प्रदोषे प्रद्वेषे [illegible] ॥ २४० ॥ मैत्री निरवद्यमती, एकाकी निष्कामो वा [illegible] ॥ २४१ ॥ सम्यग्दृष्टिः [illegible] प्रथमगुणाः [illegible] ॥ २४२ ॥ [illegible] ॥ २४४ ॥ [illegible] ॥ २४५ ॥ [illegible] निरुपमा (सर्वस्वा) [illegible] ॥ २४६ ॥ धर्मध्यानस्य भेदचतुष्टयमाह—[illegible] ॥ २४७ ॥ [illegible] नरकतिर्यग्गतिभ्रमणरूपो [illegible] ॥ २४८ ॥ [illegible] ॥ २४९ ॥ [illegible] ॥ २५१ ॥ [illegible] ॥ २५२ ॥ [illegible] प्रीतिं विदधाति, [illegible] ॥ २५३ ॥ [illegible] ॥ २५४ ॥ प्राक्तनकर्म[illegible] पातिकर्मणां चतुर्णां [illegible] ते विरमन्ते [illegible] ॥ २५५ ॥

[illegible] ॥ २५६ ॥ [illegible] ॥ २५७ ॥ [illegible]

क्षपोऽनुपमकगशनुत्तमनिवृत्तिरुपमाभिमतं यथा तीर्थंकरत्वप्राप्तमकं भासत्वमाप्नोऽपि भवति ॥ २५८ ॥ पृथक्त्व-
वितर्कसविचारं १ एकत्ववितर्कमविचारं २ कर्माष्टकमध्ये स्वामिनम् ॥ २५९ ॥ अथ क्षपकश्रेणिमारोहन् मोहमुन्मूलयन्
प्रथमं अनन्तानुबन्धिनो चतुरनिबावरणाभिक्षपयति ततो मिथ्यात्वमोहं एव पाहन ततोऽपि मिश्रं सम्यक्त्वं च
मिथ्यात्वं च सम्यग्मिथ्यात्वं एकाकता मिश्रम् ॥ २६० ॥ सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकगुणस्थं ततो द्वितीयतृतीयकषायान्
॥ २६१ ॥ हास्यरत्यादि समूहं (छिन्ने) क्षपितमपि वेदोऽपि मोहे क्षीणकषायो भवति ॥ २६२ ॥ तस्य उदयाभिमुखे
मस्तको मोहे येन तु, अनुपमस्यो नाशोऽपि स्वामिनां प्रतीतिपूर्वगमसिद्धं प्रत्यक्षः, यथा धातुना पूर्वकस्तो शुष्कोऽपि
किमर्थ क्षयमनुपमस्ये भवति तथा क्षीणमोह इति ॥ २६३ ॥ यथा व्यामिश्रामिः कारादि, एवं रसनामिः ।
समस्तपुत्रे देवो नरस्य । क्षपोऽनन्यानामि । स एव हमिगुणम् ॥ २६४ ॥ अनुप्राप्ता परिक्षता जीवानां सर्वेषां कर्मणवो
हरेत् यदि संक्रमः स्यात् ॥ २६५ ॥ संक्रमः सामस्त्येन कर्मणयेन, अथ निमय एकदेशोऽपि नाशमसि ॥ २६६ ॥
मिथ्याद्वयस्य माध्यस्थ्यात् प्रकाश गुणो विशदेव भवति ॥ २६७ ॥ क्षपितक्षपायत्वात् अन्तर्मुहूर्तकाले यावच्चूता
स्थित्वा युगपदेकसमयं ज्ञानावरणं ५ दर्शनावरणं ४ अन्तरायाणां ५ क्षपयति ॥ २६८ ॥ ज्ञानसम्यकत्वसमस्तवीर्य-
त्वात् अमल्यं यथाख्यात् केवलमपि कस्यचित्प्रतिगुणत्वात् अनुपममपायोपगमात् अनुत्तमविषयादी-
रत्वात् निरवशेष परिपूर्णत्वेनोत्पेते, संपूर्ण सकलभावीत्व तत् अप्रतिहतं क्षयमपि प्रतिघातक्षयत्वात् ॥ २६९ ॥
कात्स्न्येन परिपूर्णं लोकालोके ज्ञानचक्षुपरिपूर्णस्त्वात् गुणपर्यायलक्षणं, सहभाविनो गुणा क्रमभाविनः पर्याया
सर्वानि सर्वप्रकाशि ॥ २७० ॥ क्षीणप वितर्कपवनुभवा मनोऽमलितसर्वोपयुक्तः केवलं कल्पेन पतिज्ञारम् ॥ २७१ ॥
वेद्यायुषामसिद्ध सर्वं क्षपितपरमत् परिक्षमावरणमाशेणामायु केवलिना दुर्भेद्यत्वत्तवर्तत्वात्, तथा वेदनीयं
कर्म तनुतरं देवायुषोऽपगमे वधाम्यते तनुत्वस्थावरवर्तनीयत्वात्, आयुरकम्बा तह वेदनात् ॥ २७२ ॥
प्रतिपत्तम् ॥ २७३ ॥ संकमूर्धानमनुरुतस्थानत्वसं यावत्स्ता मवसमाने कपाटं पूर्वापरलोकान्तव्यापिनं प्रस्त-
तिष्कम्भात्प्रतनाप्रमेयव्यापी ॥ २७४ ॥ मन्थानमपि निष्कम्भमानीतमरेयान् ॥ २७५ ॥ औदारिकशरीरयात्का प्रथमाष्ट-
समयस्मर्याष्टकसप्तमसमययोः कार्मणोऽसौ केवली ॥ २७६ ॥ स केवली सत्त्वमपगमयोगमवाप्त् उचितं वर्ण
कतिपयेषु योगं व्यापारं मुक्ति प्रवर्तयति संयोगी योगी न चलतीति योगनिरोधमुपेति प्राप्नोति ॥ २७७ ॥ तत्र
प्रथम मनोयोगं मनःपर्याप्तिनिष्पन्नमार्गं पर्याप्तमिति मनोलब्धप्रत्ये परिछेदनार्थं पञ्चेन्द्रियस्य संज्ञिनो
मनःपर्याप्त्या प्रथमसमयपर्याप्तकस्य यः सर्वजघन्यमनोयोगो मनोवर्गणाप्रत्ययलेशमात्रः तस्मादसंख्येयगुणहीनं प्रतिसमयं
मनुपहाय्या प्रतिसमयं निरुन्धन् सर्वं निरुणद्धि मनःपर्याप्त्या रहितो भवति ॥ २७८ ॥ द्वीन्द्रियस्य पर्याप्ते
जातिस्थिता बादरवाः कृतनियोगादिरसो क्रमेण वाक्पर्याप्तिपर्याप्तस्य जघन्यमयपवादियोगतस्य सर्वो
क्रमेण मनुष्यावस्थो असंख्यगुणहीनं निरुणद्धि । वाग्योगनिरोधे तु तदन्त उच्छ्वासनिःश्वासयोगेन
गुणहीनः पर्याप्तिकरहित भवति ॥ २७९ ॥ सूक्ष्मकाययोगनिरोधकाले तृतीयशुक्लध्यानी भवति इति सविकल्पमात्र-
सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति ध्यायते । अनेन च देवेशी करोति त्रयस्त्रिंशच्चिस्वीयात्समयेष्वनीभवति ततः परेण
शैलेशीति निरुद्धयोगः अनुपरतकालमनिवृत्ति ध्यानं ध्यायन् परमपदं व्रजति ॥ २८० ॥
परममहेशिमनुष्यान्मनि संस्थानं देहोत्सेधप्रमाणं यस्य विविधसंस्थानविशिष्टा सरसविभागहीनं तृतीयांशेन
न्यूनं संस्थानायाममवगाहनामवाप्नोति ॥ २८१ ॥ स भगवान् केवली तस्यां शैलेश्यवस्थायां मनोवाक्कायकाय-
योगक्रियार्थभित्यक्ता निरुद्धसर्वयोगक्रियः अपरिमितनिर्जरः चतुःकर्मशरणयुक्त आत्मा यस्य सः, संसारमहार्णवप्रा-
दुर्भावः पारमात्म एव स्थितिः ॥ २८२ ॥ वैराग्य सत्त्वानां भवात् स्वात्मकारात्मके अहं प्रकर्ष तत्र सर्वोदर्मि
क्षोभात्मकं तस्मात्सरायां प्रतिपत्तलानुप्रकाशितं यमेषी एवं गच्छति संसारपीडितजनः सर्वेऽस्मरणीयं प्रशमरता,
विमल स्फुटा देहस्य मावकता यस्य सः ॥ २८३ ॥ पूर्वमपि प्रथमेन चतुष्टयभवदेवान्तरधामिनं प्रकृतिमं

मोक्षमेवाप्नुयो यद्यपि विमास्ते, तत्प्रकृतिर्नो देवभवेभ्यो मनुष्यैर्दुर्लभतममममानावाप्य संसाप्य क्रमेण क्रमेण बरावन् सर्वस्मात्प्रमुत्तरोत्तरेषु क्रमेषु ॥ २८४ ॥ चरमकर्मोदयानुपयाप्त्यौ: प्रयोगपर्यवसा विनिर्गत्यपनीय मुगरेव क्षणम् ॥ २८५ ॥ सर्वजघिमेत्यर्थस्वारमृणोत्यूनि, सर्वत्र मलमलीकानि, औदारिकादिशरीरत्वा मलस्वर्ष हेन सर्वेण रहित: ॥ २८६ ॥ मनवमेमियाति, अविषयानन्तरा, मनवमता ममविहगगति: ॥ २८७ ॥ ज्ञानोपयोगेन वर्तमान एव: परमुपयोगाद्य सिद्धानामिति ॥ २८८ ॥ यावदर्थं चरिमम् सिद्धोऽपि तमादि कृत्वा अनन्तं पुन: कथाभावात् भावाभावादिह [illegible] मि सापिकानि सुख कृतकर्मक्षयात् ॥ २८९ ॥ मुक्त एवम् बोधोऽमायोऽस्तु तत्र [illegible] ज्ञानदर्शनादिकर्मक्षयात् तत्रोऽर्थविशेषा यदपि [illegible] तथाप्युपयोग वाम्पत्य नियते [illegible] [illegible] [illegible] रि एवत [illegible] ॥ २९ ॥ इहैव संसारे त म विवति अविभ्यात् मनुष्यादिभवकारणाभावात् अनाभवात् सुखमपि मनुष्यत्वोऽनावसरः, किं तु शिविरेव संसारस्यानारमाभावात् शरीरादिकारणाभावात् ॥ २९१ ॥ मनो न याति गुरुत्वाभावात् । अथ यदस्यं मतो वरकर्मगुरुत्वोऽप्यो वदि । बोधान्वादपि पदो न याति मुक्त: उत्तमत्वादिधर्मप्रत्याभावात् । तत्र [illegible] यावदर्थं यथा लघ्वे न याति उपलाभावात् ॥ २९२ ॥ योगो मन:प्रभृति:, प्रयोग आत्मन: क्रिया [illegible] तिर्यग्विदिशि । तथा विग्रहस्य मुक्तस्योर्ध्वमेव गतिभावे क्रियावत्ताद्योऽन्यम् ॥ २९३ ॥ कुम्भकारप्रभ्रामितचक्रस्य व्यापाराभावेऽपि भ्रमणवत् एरण्डफलवत् अलाबुवत् परमाणुवत् धूमवत् तृतीये [illegible] लक्षणक्रियया प्रयोगेण ॥ २९४ ॥ परमाणु: [illegible] प्रसन्नेन पैमसेऽनिर्दिष्ट क्रियासु ॥ २९६ ॥ सीर्यसंघत्वात्तरमुक्ति: । एतेषां संसमनादीनां वैकल्यात् । कर्मणां निकाचनादपत्या प्राप्ति: । कर्मक्षयमहत्त्वाऽविपाक उपरमे विभागमेति गच्छति ॥ २९७ ॥ मगत्र पैमसेऽनु । अहं मद पूनरो इति कर्मोऽर्थाज्ञि पूर्वाणि [illegible] यस्य ॥ २९८ ॥ विविधकल्पेषु बहुप्रकल्पेषु गुणवत्सु [illegible] गुणेषु ॥ २९९ ॥ उत्तरविमानमर्थं प्राप्य । कुरूणादि । कन्तु: शिवादिदेव: । विमलो वनादि: । रूपं सुखप्रभावादि समवासमार्थं । वक्रं मार्ग । कुद्धिरौलतिमवादिका । तामि मेंचय: ॥ १ ॥

मानितोऽस्तरस्य मनो यस्य स: । तत्र परं मनुष्यलोकत् दशागत्तरित: ॥ १ १ ॥ इह मनुष्यलोके जिनागमे मनुष्य: श्रावक: निश्चयेन [illegible] । अविध्यवसायविशेष:, दर्शनं सम्यक्त्वं श्रीमुखतागुणा: मनानि मन्वादिगत्वाविनि [illegible] भावना अभिगमभावनादिका द्वादश एषो देयितं वासितं मनो यस्य स: ॥ १ २ ॥ स्मृत्वा यावत: स्वामिन: तेभ्यो विशिष्टोपासकत्वा च पृथिव्यादिस्थावरेभ्य: । ब्रह्मादिविषयरमणमतस्त्यामार्थं । इत्यर्थेन वस्मिन् इदे योर इति [illegible] । [illegible] । [illegible] योगिन:, [illegible], साम्या तदा वर्णित । विगतं परन्तु विषु कर्मफलपरिमाणं देशावकाशिकं प्रतिविनयमनादेश्यावादतरत्वे । प्रवर्षदेव: शरीरादीनां प्रयोजनं बिना दण्डोपदेशादि: ॥ १ ३ ॥ सामायिकं द्विविधं त्रिविधेन योगेन सावद्ययोगप्रत्याख्यानं प्रतिक्रमणं च । पैषधं च आहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारत्वचतुर्विधोऽष्टम्यादिषु विशेषेण सं करोति । उपभोगो [illegible] पुष्पपूरस्यानांगना आदि: । परिभोगो [illegible] परिमाणं चन मते कृत्वा विधाय [illegible] रैतोरार्थं साधूनां देवस्तु वस्त्रं साधूनामनुदिश्य कृतं । विभिमेदि निष्पन्नमात्र: सर्वोऽपि वत्सपूर्वकम् ॥ १ ४ ॥ पैसवानि विवरितानि आवश्यकानि दैवसिकरात्रिकाणि प्रत्याख्या [illegible] [illegible] स्वकमतीचारादिकया प्रतिज्ञा । एतानि कृत्वा विधाय [illegible] [illegible] [illegible] पूजा ॥ १ ५ ॥ मध्ये [illegible] इति प्रीतिलक्ष्या नित्यं [illegible] स्थितवान: । विभेऽर्हत्सु गुरुस्वाचार्येषु [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] क्रियां । योगेन [illegible] [illegible] ॥ २ ६ ॥ मासो [illegible] [illegible] अधिगमितं वा आमानि

कालमन्यद्वा सामान्यदेवत्वं मिथ्यादृष्टित्वमिति तत्र स्थानानुरूपं सुखम् ॥ १०७ ॥ जातिदेशकुलविभव रूपबलोपभोगादिभिः सम्यक्त्वादिगुणैर्युतं च ॥ १०८ ॥ मनुष्येषु ॥ १०९ ॥ कतिपयभवैः सिद्धत्वं परिप्राप्नोति—धर्म-कथिकां जिनशासनार्णवादाकृष्टां इमां प्रशमरतिं रत्नाकरादिव जरत्कपर्दिकामिव प्रशमप्रीत्या ॥ ११० ॥ सर्वोत्क-र्षेणैव सद्भिः गुणलवा ग्राह्याः सदा कार्याः ॥ १११ ॥ इह प्रशमरतिप्रकरणेऽस्मच्छब्दार्थसमयाद् यच्छब्दो विशेषाः शब्दः छन्दःप्रभृतिभेदभिन्नः, समयः सिद्धान्तः, तस्मार्थोऽभिधेयं अर्थविपर्यये क्षन्तव्यम् ॥ ११२ ॥ ऐहिकामुष्मिकसुखमूलकारणं सर्वभावानां जिनवचनं निर्वाणस्य प्रशमरतिः ज्ञानादिरत्नगुणविशिष्टानां ममाप्रि जयमनुभवति ॥ ११३ ॥

परिशिष्ट

२—प्रशमरतिप्रकरणकी कारिकाओंकी अनुक्रमणिका।

परिशिष्ट १ संस्कृत टीकायें उद्धृत पद्योंकी अनुक्रमणिका ।